उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-101
रीडर - एक

हिन्दी काव्य विवेचना

संकलन और संपादन
डॉ. सत्यकाम

NMDC-065

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी — संकाय सदस्य
प्रो. गोपाल राय
प्रो. नामवर सिंह
प्रो. नित्यानंद तिवारी
प्रो. निर्मला जैन
प्रो. प्रेम शंकर
प्रो. मुजीब रिज़वी
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रो. लल्लन राय
प्रो. शिवकुमार मिश्र
प्रो. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह

प्रो. वी. रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम (पाठ्यक्रम संयोजक)
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

अक्टूबर, 2003 (पुनः मुद्रण)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2002

ISBN- 81-266-0563-4

सर्वाधिकार सुरक्षित । इस सामग्री के किसी भी अंश को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में. मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा - 281003.

भूमिका

एम.ए. हिन्दी कार्यक्रम के पाठ्यक्रम हिन्दी काव्य - I के अन्तर्गत 'हिन्दी काव्य विवेचना - I' आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस संग्रह में पाठ्यक्रम में शामिल सभी कवियों और उनकी कृतियों से संबंधित लेख संग्रहीत हैं। इन कवियों और उनकी कृतियों पर इस पाठ्यक्रम के अंतर्गत विभिन्न इकाइयों में विचार-विमर्श किया गया है। इन इकाइयों में कवि विशेष, उनके काव्य की प्रमुख विशेषताओं और प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इन विषयों के गहन और विशद अध्ययन के लिए इस संग्रह के जरिए महत्वपूर्ण विद्वानों के लेख उपलब्ध कराए जा रहे हैं। हमें उम्मीद है कि इकाइयों के साथ-साथ इन लेखों को पढ़कर आपके ज्ञान में वृद्धि होगी और आप कवि और उसके रचना-कर्म के विभिन्न आयामों से परिचित हो सकेंगे।

इस पाठ्यक्रम में सबसे पहले चंद बरदाई के प्रमुख प्रबंध काव्य और महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन किया गया है। इसके लिए आप दो इकाइयाँ भी पढ़ेंगे - 1) पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप तथा 2) पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व। इस संग्रह में इस विषय पर डॉ. नामवर सिंह और डॉ. शांता सिंह के दो लेख संकलित किए गए हैं। डॉ० शांता सिंह ने अपने लेख 'पृथ्वीराज रासो का काव्य सौष्ठव' में 'रासो' के कथानक, कथानक रूढ़ियों, वस्तु वर्णन, छंद, भाषा, तद्युगीन जीवन की विस्तार से चर्चा की है। इसी प्रकार डॉ. नामवर सिंह ने भी 'पृथ्वीराज रासो के काव्य सौष्ठव' पर विचार करते हुए इसके कथा-प्रवाह और अभिव्यक्ति कौशल का विश्लेषण किया है। दो इकाइयों और इन दो लेखों के जरिए आपको एक काव्य कृति के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' के महत्व और उसकी गुणवत्ता को पहचानने का अवसर मिलेगा।

इस पाठ्यक्रम के दूसरे कवि हैं - विद्यापति । इकाई के रूप में आपने 'विद्यापति और उनका युग' और 'गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली' का अध्ययन किया है। विद्यापति पर हम दो लेख भी दे रहे हैं। पहले लेख 'अपरूप के कवि' में डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने सौन्दर्य के कवि के रूप में विद्यापति का मूल्यांकन किया है। इसमें विद्यापति के काव्य की विषय-वस्तु के साथ उनके अभिव्यक्ति कौशल की भी व्याख्या की गई है। दूसरे लेख 'विद्यापति के काव्य-सौष्ठव' पर विचार करते हुए लेखक श्री अंबादत्त पंत ने शृंगार की प्रमुख विशेषताओं का जिक्र करते हुए इसमें विद्यापति की पैठ का विवेचन किया है। इस लेख में लेखक ने विद्यापति द्वारा वर्णित संयोग और वियोग के चित्रण की विशद व्याख्या की है।

भक्ति काव्य - I (निर्गुण काव्य) के अंतर्गत हम कबीर और जायसी के 'पद्मावत' का अध्ययन करने जा रहे हैं। इन दोनों ही कवियों पर दो-दो इकाइयाँ दी गई हैं। 'कबीर की विचार चेतना और प्रासगिकता' तथा 'कबीर का काव्य-शिल्प' के अंतर्गत हमने कबीर की विचार-भूमि और अभिव्यक्ति क्षमता को पहचानने का प्रयास किया है। इस लेख-संग्रह में हम कबीर को समझने

NMDC-065

अनुक्रम

क्र.सं.	लेख का शीर्षक	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	पृथ्वीराज रासो का काव्य सौष्ठव	नामवर सिंह	7
2.	काव्य सौष्ठव (पृथ्वीराज रासो)	शांता सिंह	24
3.	अपरूप के कवि (विद्यापति)	शिव प्रसाद सिंह	52
4.	विद्यापति का काव्य सौष्ठव	अंबादत्त पंत	64
5.	कबीर	हजारी प्रसाद द्विवेदी	87
6.	कबीर : मानव धर्म और मूल्य बोध	रघुवंश	93
7.	'पद्मावत' की कहानी : कहानी का अर्थ	परमानंद श्रीवास्तव	103
8.	जायसी का वियोग पक्ष	रामचंद्र शुक्ल	114
9.	पद्मावत का विश्लेषण	विजय देवनारायण साही	127
10.	सूर: लोकजीवन और किसानी-चरागाही संस्कृति	प्रेमशंकर	157
11.	सूर की प्रतीक योजना	नंद दुलारे वाजपेयी	170
12.	सूरदास का काव्य : अभिव्यक्ति का स्वरूप	मैनेजर पाण्डेय	185
13.	मीरा और गिरधर नागर	विश्वनाथ त्रिपाठी	220
14.	मीराँबाई की पदावली	परशुराम चतुर्वेदी	249
15.	तुलसी साहित्य का समाज-दर्शन	सावित्री चंद्र	262
16.	बिहारी लाल	रामचंद्र शुक्ल	289
17.	बिहारी का भावजगत	बच्चन सिह	294
18.	घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	319
19.	घनानंद की विरह भावना	लल्लन राय	338
20.	कवि पद्माकर की काव्य-माधुरी	भगीरथ मिश्र	364

NMDC-065

के लिए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कबीर' का उपसंहार आपके अध्ययन के लिए पेश कर रहे हैं। इसे पढ़कर आप एक भक्त और कवि के रूप में कबीर की विशिष्टता को भली-भाँति जान सकेंगे। डॉ० रघुवंश ने अपने लेख 'मानव-धर्म और मूल्य-बोध' में बताया है कि कबीर का केन्द्रीय बोध मानव-धर्म और मानवता पर अवलम्बित था जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव के लिए कतई स्थान नहीं था।

इस पाठ्यक्रम के अंतर्गत आप जायसी की रचना 'पद्मावत' का अध्ययन कर रहे हैं। इस संदर्भ में इकाईयों के जरिए हमने 'सूफी मत और जायसी का पद्मावत' तथा 'पद्मावत में लोक परंपरा और लोक जीवन' की जानकारी प्राप्त की है। इस रचना को सही परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने के लिए पद्मावत की कथा और उसके प्रतीकात्मक स्वरूप और अर्थ का जानना जरूरी है। परमानंद श्रीवास्तव का लेख 'पद्मावत की कहानी : कहानी का अर्थ' इसी उद्देश्य से संकलित किया गया है। 'पद्मावत' शृंगार के वियोग पक्ष का उत्कृष्ट मानदण्ड है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस पर गहराई से विचार किया है। आप इस लेख को पढ़कर लाभान्वित होंगे और आपकी समझ विकसित होगी। विजयदेव नारायण साही का लेख–'पद्मावत का विश्लेषण' उपयोगी और सार्थक प्रयास है। इससे आपको 'पद्मावत' को जानने-समझने में मदद मिलेगी।

भक्ति काव्य-2 के अंतर्गत दो इकाइयों के जरिए सूर काव्य का अध्ययन किया गया है। इसमें पहली इकाई में भक्ति आंदोलन में सूर का महत्व' प्रतिपादित किया गया है और दूसरी इकाई में सूरदास के काव्य में प्रेम' पर विचार किया गया है। इस संग्रह में सूर पर तीन लेख संग्रहीत हैं। पहला लेख डॉ० प्रेमशंकर का है जिसमें सूर के काव्य में लोक जीवन और किसानी-चरागाही संस्कृति की पड़ताल की गई है। डॉ० नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपने लेख में सूर काव्य में निहित प्रतीक योजना पर विचार किया है। तीसरा लेख प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय का है जिसमें सूर की अभिव्यक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए सूरसागर के काव्यरूप, महाकाव्यत्व, गीतिकाव्य परम्परा और स्वरूप, लीला काव्य, लोकगीत, भ्रमर गीत, कीर्तन काव्य, स्तुति काव्य और अभिव्यक्ति के सौंदर्य की मीमांसा की है।

एम एच.डी.-01 के खण्ड-3 की इकाई 11 और 12 में क्रमश: 'मीरा का काव्य और समाज' तथा 'मीरा का काव्य सौंदर्य' विषय का विवेचन किया गया है। इस संग्रह में मीरा से संबंधित दो लेख संग्रहीत हैं। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी के लेख 'मीरा और गिरधर नागर' में भक्त कवयित्री के रूप में भक्तिकाव्य में मीरा का महत्व प्रतिपादित किया गया है। इसमें भक्त कवयित्री के रूप में मीरा के संघर्ष की भी विवेचना की गई। 'मीराबाई की पदावली' शीर्षक लेख में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने गीतिकाव्य परम्परा में मीरा की पदांवली का मूल्यांकन किया है। इस लेख में पदावली में वर्णित विषयों की विस्तार से चर्चा की गई है।

NMDC-065

अगली दो इकाइयाँ तुलसीदास पर केन्द्रित हैं : इकाई-13 - तुलसी के काव्य में युग संदर्भ और इकाई-14 - एक कवि के रूप में तुलसीदास। इस संग्रह में रामविलास शर्मा कृत 'तुलसी की भक्ति' और प्रो० सावित्री चंद्र का 'तुलसी साहित्य का समाज-दर्शन' शामिल किया गया है। रामविलास शर्मा ने तुलसी की भक्ति भावना पर टिप्पणी करने के साथ-साथ तुलसी के बारे में निराला के विचारों को भी उद्धृत किया है। 'तुलसीदास का समाज-दर्शन' लेख में प्रोफेसर सावित्री चन्द्र ने तुलसी के सामाजिक परिवेश की विवेचना और मूल्यांकन किया है। दोनों ही लेखों की मदद से तुलसी की व्यापक आधारभूमि को समझने में मदद मिलेगी।

एम.ए. हिन्दी के प्रस्तुत पाठ्यक्रम के खण्ड-4 में तीन इकाइयाँ हैं। इस खण्ड में रीतिकाल के तीन कवियों - बिहारी, घनानंद और पद्माकर की कविताओं का विवेचन किया गया है। इस लेख संग्रह में बिहारी पर दो लेख सम्मिलित किए गए हैं। पहला लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल का है जिसमें बिहारी के काव्यत्व की संक्षेप परंतु गहराई से पड़ताल की गई है। बच्चन सिंह के लेख 'बिहारी का भावजगत' में बिहारी की कविता की सौंदर्यगत विशेषताओं की सोदाहरण व्याख्या की गई है। इससे आपको बिहारी की कविता की विशेषताओं को जानने-समझने में मदद मिलेगी। 'घनानंद और स्वच्छद काव्यधारा' शीर्षक लेख में स्वच्छंद काव्य धारा की परंपरा और विशेषताओं का विशद विवेचन किया गया है। साथ ही साथ स्वच्छंद काव्यधारा के प्रमुख कवि के रूप में घनानंद की काव्यगत विशेषताओं पर विचार किया गया है। 'विरह भावना' नामक लेख में लल्लन राय ने घनानंद की विरह भावना की विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए अन्य रीतिकवियों से घनानंद की विरह भावना का अंतर भी स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि "घनानंद की विरह भावना वेदना की विलासपूर्ण कल्पना न होकर अधिकांशत: अपने निजी जीवनानुभवों पर आधारित है।"

NMDC-065

1. पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव

नामवर सिंह

कथा-प्रवाह—पृथ्वीराज रासो रासक शैली में लिखा हुआ एक चरित काव्य है जिसका चरितनायक पृथ्वीराज चौहान है। इसके वृहद् रूप में अनेक आनुषंगिक कथा-प्रसंगों के बावजूद अधिकारिक कथा पृथ्वीराज से ही किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध है। आरम्भ में मंगलाचरण, पूर्ववर्ती कवियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन, आत्म नम्रता, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा तथा ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य निवेदन करने के बाद कवि ने पृथ्वीराज के जन्म और शिशु-क्रीड़ा के साथ मुख्य कथा का बीजारोपण किया है। संक्षेप में चरितनायक के विद्याभ्यास की चर्चा करते हुए कवि उसे राजकीय कर्म-क्षेत्र में प्रवेश कराता है। यहाँ एक दिन उसके सामंतों में प्रमुख कन्ह गुर्जरेश भीमदेव चालुक्य के एक भाई का वध कर देता है जो भीमदेव से असन्तुष्ट रहने के कारण पृथ्वीराज के ही दरबार में रहने लगा था। उस दुर्घटना का कारण केवल यही था कि कन्ह के सम्मुख उसने अपनी मूछों पर हाथ रख दिया था और कन्ह के लिए यह असह्य था। ज्यादती तो कन्ह की थी ही लेकिन इसकी क्षतिपूर्ति क्या हो सकती थी। पृथ्वीराज ने कन्ह से आंखों पर पट्टी बांधे रखने का अनुरोध किया। लेकिन भीमदेव चालुक्य को तो इतने से शान्ति मिल नहीं सकती थी। उसने पृथ्वीराज से वैर ठान लिया। इस वैर का विस्फोट आगे चलकर सलष की पुत्री इंछिनी के विवाह के अवसर पर हुआ। भीमदेव इंछिनी की बड़ी बहिन मन्दोदरी से शादी कर चुका था, फिर भी उसने द्वितीय पत्नी के रूप में इंछिनी की माँग की। यह सम्बंध इंछिनी के पिता और भाई किसी को पसन्द न था। उन्होंने पृथ्वीराज के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। पृथ्वीराज उस निवेदन को स्वीकार कर सदल-बल चढ़ आया। उधर भीमदेव की भी सेना आ रही थी। जमकर लड़ाई हुई पृथ्वीराज विजयी हुआ। विधिवत् पृथ्वीराज और इंछिनी का विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ।

कुछ दिनों बाद पृथ्वीराज एक नट तथा हंस से शशिव्रता का गुण-श्रवण कर उस पर अनुरक्त हो गया। उधर शशिव्रता की शादी पृथ्वीराज के प्रतिद्वंद्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचंद गाहड़वाल के भतीजे से होने वाली थी, परन्तु उसके अल्पायु होने की भविष्यवाणी सुनकर शशिव्रता का मन उधर से उचट गया। इसी बीच हंस ने शशिव्रता से पृथ्वीराज का बखान किया। इधर भी अनुराग अंकुरित हुआ फलतः पृथ्वीराज सदल-बल चढ़ आया और शिवपूजन को जाती हुई शशिव्रता का हरण कर जयचंद की सेना को हराता हुआ अपने राज्य में वापस लौट आया।

दिन मृगयादि में सुख से बीत ही रहे थे कि पृथ्वीराज को अपने मंत्री कैमास (कदम्बवास) की दासी-अनुरक्ति का पता चला। यह बात यशस्वी राजा के लिए इतनी अपमानजनक लगी कि

NMDC-065

उसने एक रात छिपकर मंत्री पर प्रहार किया और इस तरह उसे मार डाला। पीछे कविचंद ने तनिक से अपराध पर इतना कड़ा दंड देने तथा ऐसे योग्य मंत्री को खो देने के लिए राजा को बुरी तरह धिक्कारा।

युद्धों और विवाह से तो पृथ्वीराज की तृप्ति थी नहीं। थोड़े दिनों बाद उसे जयचंद की पुत्री संयोगिता के नेम-आचरण की सूचना मिली। क्षत्रिय राजा के लिए यह असम्भव था कि संयोगिता का व्रत निष्फल जाने दे। फलत: उसने अनेक सामन्तों, शुभचिन्तकों तथा ज्योतिषियों के मना करने पर भी कन्नौज जाने का निश्चय किया। लेकिन नगर छोड़ने के पूर्व इस बार रनिवास से अनुमति लेना आवश्यक प्रतीत हुआ। राजा सर्वप्रथम बड़ी रानी इंछिनी के मन्दिर में गया। बसन्त ऋतु थी। ऐसे समय रानी भला कब छोड़ने वाली थी। सारी ऋतु राजा वहीं बन्दी रहे। वहाँ से मुक्त होने पर दूसरी रानियों के यहाँ भी जाना कर्तव्य था। शेष पाँचों रानियों ने भी क्रमश: ग्रीष्म, पावस, शरत्, हेमंत और शिशिर ऋतु में राजा को अपने-अपने यहाँ रोक रखा। अंत में जब फिर बसन्त आया तो राजा ने चन्द कवि की शरण ली और मुक्ति का उपाय पूछा कि कौन-सी ऋतु है जिसमें स्त्री को पति नहीं रुचता। चतुर कवि ने 'ऋतु' शब्द पर दूर की उड़ान ली और राजा मुक्त हुए। फलत: चंद को साथ लेकर ससैन्य राजा कन्नौज की ओर चल पड़े। वहाँ जयचंद के दरबार में पृथ्वीराज ने छद्म रूप में चंद का सेवक बनकर प्रवेश किया किन्तु अंत में पहचान लिए गये। जयचंद ने इस पर पहरा डलवा दिया, किन्तु एक दिन पृथ्वीराज ने गंगा के किनारे स्थित संयोगिता से भेंटकर उसे घोड़े पर चढ़ा दिल्ली की राह ली। राह में अवरोध हुआ किन्तु संयोगिता को साथ लिए शत्रु-सैन्य को काटता हुआ पृथ्वीराज निकल गया। इस युद्ध में पृथ्वीराज के कन्ह आदि अनेक महान सामंत योद्धा काम आए। थोड़े दिनों तक रुष्ट रहने के बाद जयचंद ने विवश होकर पृथ्वीराज के पास कन्या के विधिवत् ब्याह के लिए पुरोहित भेजा साथ ही पर्याप्त दहेज भी।

पट्टरानी के रूप में संयोगिता के आने पर बड़ी रानी इंछिनी के मान को धक्का लगा। इधर पृथ्वीराज भी नयी रानी को ही अपना सारा समय देने लगे। सौतियाडाह स्वाभाविक था। इंछिनी ने अपने पाले हुए शुक के द्वारा राजा तक अपनी विरह-दशा की सूचना पहुँचायी। सहृदय पति पिघला। दोनों रानियों में समझौता हुआ। यह चरितनायक के सुखोपभोग की पराकाष्ठा है। यहीं से उसके दु:खद दिनों का आरम्भ होता है।

राजा इधर रतिरंग में लीन था, उधर शाहीबुद्दीन गोरी के हमले की खबर आई। प्रजा घबड़ा उठी। नगर सेठ तथा गुरुराम के द्वारा राजा तक सूचना पहुँचाई गई। सहसा वे नींद से जागे। संयोगिता के विरह-निवेदन के रहते उन्होंने गोरी का सामना करने के लिए प्रस्थान लिया। युद्ध

NMDC-065

में राजा गोरी के हाथों पकड़े गए। इधर यह समाचार पाते ही रानियों सहित संयोगिता सती हो गई। उधर पृथ्वीराज को गजनी ले जाया गया और वहाँ उसकी आँखें फोड़कर उसे कैदखाने में डाल दिया गया और कैद में पड़े-पड़े वह अपने विगत वैभव तथा पूर्वकृत कुकर्मों पर पश्चाताप करता रहा। कुछ दिनों के बाद एक दिन कवि चंद उससे मिलने आया और उसने संकेत से गोरी को शब्दबेधी बाण द्वारा मारने की सलाह दी। दूसरी ओर चंद ने अपनी कवित्व प्रतिभा से गोरी को प्रभावित करके पृथ्वीराज के शब्दबेधी लक्ष्य के प्रदर्शन की व्यवस्था करायी। योजनानुसार पृथ्वीराज द्वारा गोरी का वध हुआ और अन्त में चन्द तथा पृथ्वीराज कटार से एक दूसरे को मार मरे।

संक्षेप में पृथ्वीराज रासो की यही मुख्य कथा है। इसके अतिरिक्त जो आनुषंगिक कथा अथवा कथाएँ हैं उनमें अधिकांश विवाह वर्णन, युद्ध वर्णन तथा अनेकानेक सामंतों द्वारा गोरी के पकडे जाने का विस्तार है। बीच-बीच में कुछ अतिमानवीय उपाख्यानों तथा होली-दिवाली संबंधी किंवदंतियों का भी समावेश हो गया है।

रासो की यह कथा प्रधानत: शुक और शुकी के संवाद द्वारा कहलाई गई है। भारतीय साहित्य के लिए यह कोई सर्वथा नया प्रयोग नहीं है। एक प्रकार से कथोपकथन की पौराणिक शैली है।

संपूर्ण कथा चंद कृत नहीं है, यह तो इतने से ही स्पष्ट है कि बाणवेध प्रसंग लिखने के लिए कवि के पास समय कहाँ था? इसके अतिरिक्त गजनी-प्रसंग के आरम्भ में रासो स्पष्ट कर देता है कि 'पुस्तक जल्लहन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज!' इस पर अनुमान लगाया गया है कि चंद कृत रासो संयोगिता विवाह के बाद ही समाप्त हो जाता है। जो हो, वर्तमान रासो अपने पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों रूपों में हमारे सामने हैं इसलिए अपने संपूर्ण रूप में विचारणीय भी।

कथा के मार्मिक प्रसंग तथा कवि की विशेषता—मध्ययुग के अन्य चरित काव्यों की भांति रासो में भी कथा-बंध के उतार-चढ़ाव तथा चमत्कारपूर्ण मोड़-सम्बंधी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, क्योंकि उस युग के प्राय: सभी चरितनायक आधुनिक उपन्यासों की भाँति व्यक्ति विशिष्ट चरित्र न होकर इनके विपरीत वे 'टाइप' मात्र हैं। इसलिए घटनाओं की नवीनता के अभाव में प्राचीन चरित काव्यों के कथा-बंध का सौंदर्य केवल दो बातों में देखा जाता है—या जो उसमें मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि की गई हो अथवा कम-से-कम कवि ने कथा-प्रवाह में उसकी संभावना को पहचाना हो। ऐसे प्रसंगों के वर्णन में ही कवि-दृष्टि तथा कवित्व-शक्ति का पता चलता है।

सर्वप्रथम रासोकार ने माँ की कोख में पृथ्वीराज के गर्भाधान का प्रभाव परखा है और उसे इन शब्दों में काव्यात्मक रूप दिया है:

NMDC-065

कितिक दिवस अन्तरह रहिय आधान रानि उर।
दिन दिन कला बढ़त मेघ ज्यों बढ़त भद्दं धुर।
चन्द्रकला सित पष्ष जेम बाढ़त दिनं दिन।
मुगवा जीवन चढ़त मिलत भरतार षिनं षिन।

उद्दित अधान सुभ गातनह, जेम जलधि पुन्निम बढ़हि।
हुलसंत हीय जे प्रीय त्रिय जिम सु जीते जनिता चढ़हि।।

गर्भस्थ शिशु की निरंतर बढ़ती हुई कला तथा माँ के रूप पर पड़ने वाले उसके अन्त: प्रभाव का चित्रण यहाँ देखने योग्य है।

पर्यवेक्षण का दूसरा स्थल है शिशु-क्रीड़ा। बाल-लीला के प्रसिद्ध कवि सूर के आगे तो सभी कवि फीके हैं फिर चंद की कहाँ गिनती! फिर भी कुछ चित्र द्रष्टव्य है–

नह् तलप इक्क थह षिन रहत, हुलसि-हुलसि उठि-उठि गिरत।

शय्या छोड़कर जमीन पर लोटने की बाल-प्रकृति तथा इस उल्लास में बार-बार उठने का असफल प्रयत्न करना अत्यन्त स्वाभाविक है और सम्भवत: सूर के यहाँ भी इसका चित्रण नहीं हुआ है। माँ या बाप की अँगुली पकड़कर चलने का वर्णन तो सूर नें भी किया है किन्तु उस पर उपमा की अनूठी उड़ान चंद के यहाँ ही देखी जा सकती है–

अंगुरिन लग्गि रागि चलत लाल। सरमद्धि उठत गज हंस बाल।।

और आगे बालकों के बीच

मिलि बाल जाल कवि रहि केलि। बढ़ि रही दूंद जनु बीज बेलि।।

युवक पृथ्वीराज के जीवन के मधुर प्रसंगों में विवाहों का स्थान अन्यतम है। अनेक विवाह-वृत्तान्तों के बीच कवि का मन केवल तीन विवाहों में विशेष रमा है। ये हैं इंछिनी, शशिव्रता तथा संयोगिता विवाह। इन विवाहों के वर्णन में कवि की सबसे बड़ी विशेषता है पुनरावृत्ति को बचा जाना। प्राय: एक प्रकार की घटनाओं के वर्णन में पुनरावृत्तियों की आशंका बनी रहती है किन्तु ऐसे ही स्थलों पर विशिष्ट कवि की पहचान होती है। हर्ष की बात है कि चंद ने इन प्रसंगों में अपनी विशिष्टता प्रमाणित कर दी है। तीनों विवाह तीन प्रकार से होते है। इंछिनी-विवाह हिन्दू-विवाह प्रणाली का पूरा प्रतिनिधित्व करता है जिसमें ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजने से लेकर बारात का सजना, अगवानी, तोरण-कलश-द्वारचार विधान, जनवासा, मण्डप-निर्माण, कन्यादान, गठबन्धन, भाँवरी

NMDC-065

वर्णन है। शशिव्रता-विवाह में ये बातें नहीं दुहरायी जातीं। इसमें कवि काव्यों में वर्णित पूर्वानुराग की प्रसंगोद्भावना करके हंस और गंधर्व द्वारा दोनों पक्षों कों पहले से ही परस्पर अनुरक्त बनाता है। पश्चात् पृथ्वीराज शशिव्रता का हरण करता है। संयोगिता विवाह में ये दोनों बातें नहीं होतीं। यहाँ पूर्वानुराग केवल एक ओर से आरंभ होता है। वस्तुत: संयोगिता पृथ्वीराज का स्वयंवर करती है और समय पाते ही पृथ्वीराज उसके पास जाकर सखियों के बीच विवाह क़र लेता है। हरण तो यहाँ भी होता है, पर विषम परिस्थिति के कारण हरण का रूप यहाँ कुछ भिन्न है।

अब इनमें से एक-एक विवाह का सौन्दर्य अंकन देखें–

नारी की वय:संधि शोभा कवियों के लिए सदैव आकर्षण की वस्तु रही है। इसके लिए नाना उपमाओं का जमघट लगाया गया है। रासो में इंछिनी और शशिव्रता की वय: संधि का वर्णन तुलनीय है।

इंछिनी–

वाले तन्वय मुग्ध मध्यत इमं स्वपनाय वैं संघयं।
मुग्धे मध्यम स्वांगम वामंति इमं मध्यान्ह छाया पगं।।
बालप्पन तन मध्य जीवन इमं सरसी अवग्गी जलं।
अंगं मद्धि सुनीरजे मल ससी सुम्भै सुसैसव इमं।।

शशिव्रता–

राका अरु सूरज्ज बिच, उदै अस्त दुँहुँ बेर।
बर शशिव्रत्ता सोभई, मनौ शृंगार सुमेर।।

वस्तुत: शशिव्रता का रूप और शील इंछिनी से कहीं अधिक आकर्षक था। इसलिए कवि ने शशिव्रता के रूप-वर्णन में अधिक ध्यान दिया है। ऊपर के उदात्त वर्णन से संतुष्ट न होकर चंद ने शशिव्रता के यौवनागम को बसंत से उपमित किया–

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसब किसोर कुछ।।
शीतल मन्द सुगंध आइ रितिराग अचानं।
रोमराइ संग कुंच नितंब तुच्छ सरनानं।।

बढ्ढै न सीत कटि छीन है लज्ज मांग ढंकनि फिरै।
ढंके न पत्त ढंकै कहै, बन बसंत मंत जु करै।।

NMDC-065

प्राय: कवियों ने युवती नायिका के रूप को विभिन्न स्थितियों, तथा वातावरणों की मनोरम पटभूमि में रखकर नया-नया चित्र उतारा है। सद्य: स्नाता का चित्र भी इन्हीं में से एक है। रासो में सद्य: स्नातां इंछिनी की यह उपमा रूढ़ियों से अलग नयी सूझ प्रकट करती है–

करि मंजन अंगाछि तन, धूप वासि बहु रंग।
मनो देह जनु नेह फुलि, हेम भोज जन गग।।

इसी प्रकार सौन्दर्यद्रष्टा कवि ने प्रिय के सम्मुख जाने से पूर्व डरती हुई नववधू इंछिनी से बाह्य रूप-वर्णन से सूक्ष्म मनौवैज्ञानिक रेखाओं को उभार कर चित्र में नयी ओप ला दी है–

हलहलै लता कछु मंद वाय। नव बधु केलि भय कंप पाय।।
उपमा उर कहीय तांम। जुब्बन तरंग अंगि-अंगि कांम।।

नारी सौन्दर्य की चरम परिणति है उसकी सौभाग्य-तिलकित दशा। सौभाग्यवती इंछिनी के नख-शिख का परिपाटी-विहित लम्बा वर्णन करने के बाद अंत में कवि उसकी मंगल मूर्ति का परिचय देता है–

जरकस घुघर घमंड जानु रवि क्रिन्न कदल ग्राह
कुसभ लरे नीसार, रंग छवि छंड हंड हर
पीत कञ्चुकी संचि षंडि कस अंग उपट्टिय
कङ्कन कर वर बरत गंग हरदीय उपट्टिय

आलोल नैन गति बचन बहु, सषिन सोभ मंडिय तनह।
फुल्ली सु सांझ कवि चंद कहि, मनहु बीजु थरकी घनह।।

शशिव्रता-विवाह में पूर्वराग के लिए रूप-गुण वर्णन को विस्तार देने के बाद उसने जिस प्रियदर्शन प्रसंग पर ध्यान केन्द्रित किया है, वह शशिव्रता और पृथ्वीराज का प्रथम साक्षात्कार। इंछिनी विवाह में इस प्रसंग की सृष्टि उतनी मनोरम नहीं हो सकती थी, क्योंकि वहाँ पूर्वराग का अस्तित्व ही नदारद था। बहुत दिनों से जिसका गुण-श्रवण करते-करते मानस-प्रतिमा निर्मित होती रहती है उसके प्रथम साक्षात्कार के समय की मानसिक स्थिति कितनीं रूमानी हो सकती है इसे चंद के शब्दों में देखिये–

यों करंत दुत्तिय बियौ, कथा श्रवन सुनि मंत।
जाकौ ते पतिवृत्त लिय, सो आयी अलि कंत।।

NMDC-065

श्रवन नयन को मेल कै, भय चंचल चल चित्त।
श्रोतानं दिष्टान अरु, मिलि पुच्छै दोइ मित्त।।

कर्न प्रयंत कटाछ सुरंग विराजही।
कछु पुच्छन को जाहि पैं पुच्छत लाजही।।
नैन सैन के बात जु स्रवनन सों कहै।
काम किधों प्रथिराज मेदि करि नालहै।।

प्राय: दीर्घ दृगों के लिए कवियों ने 'कानन चारी नयन मृग नागर नरनु सिकार' जैसा चमत्कार दिखाया है। परन्तु 'कान तक खिंचे नयनों' को देखकर उनके मधुर वार्तालाप में नहीं, बल्कि 'कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छन लाजही' में है, क्योंकि श्रवण-नयन की बातचीत वास्तविक नहीं है। इस उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य इससे अधिक प्रासंगिकता में है। बात यह है कि अब तक श्रवणों ने प्रिय का रूप-गुण सुन रखा था, नयनों को तो आज पहले-पहल देखने का अवसर मिला है। इसलिए नयनों का श्रवणों के पास पूछने के लिए जाना स्वाभाविक ही है कि क्या जिनके विषय में सुन रखा था वे यही हैं ? क्या ऐसा तो नहीं है कि जो मैं देख रहा हूँ वह सुने हुए रूप-गुण से कहीं अधिक है? ये तमाम बातें तथा इससे भी अधिक 'पुच्छित लाजहीं' द्वारा संकेतित हैं। तुलसीदास ने तो इतना ही कहा कि 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' लेकिन चंद ने इस तथ्यपरक कथन में अपनी सूझ से मधुर विशेषता ला दी।

इस प्रथम दर्शन से भी अधिक मार्मिक है प्रथम स्पर्श। सहसा पृथ्वीराज जन-समूह के बीच शशिव्रता को हाथ से पकड़कर अपनी ओर खींचता है और तुरंत चन्द की फड़कती उपमा निकलती है 'मानो कि लता कंचन लहरि मत्तबीर गजराज गहि'। पूरी पदावली जैसे स्नेह-उमंगित बाहु की तरह लहरा उठी है।

इस पर लज्जाशीला शशिव्रता की भावसबलता देखने योग्य है–

गहत बाल पिय पानि सु गुरुजन संभरे।
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे ढरे।।
अपमंगल जिय जानि सु नैनन मुष बही।
मनो षंजन मुष मुत्ति मरक्कत नंषही।।

यह कहते हुए आगे बढ़ता है तो कवि की उत्प्रेक्षा-शक्ति फिर मुखर हो उठती है–

'कोमलता कल्हरी प्रेम मारूत झकझोरी।'

NMDC-065

इसके बाद ही भीषण युद्ध की पटभूमि आती है और उसी के बीच पृथ्वीराज तथा शशिव्रता की प्रथम मधुयामिनी व्यतीत होती है–

कुमुद उघरि मूंदिय सु बंधि सत पत्र प्रकारय।
चकिय चक्क विच्छरहि, चक्कि ससिवृत्त निहारय।।
जुवती जन चढ़ि काम, जौह कोतर तर पंषी।
आवृत्त वृत्त सुंदरिय, काम बढ्ढिय बन अंषी।।
नव निद्धि हंसह मिलै, विमल चंद उग्यौ सु नभ।
सामंत सूर न्रप रष्षिकै, करहि बीर वीश्राम सभ।।

संयोगिता-विवाह की विशेषता उसकी मार्मिक प्राकृतिक पृष्ठभूमि में है। वैसे तो शशिव्रता विवाह के आरम्भ में भी थोड़ा-सा उद्दीपक ऋतु वर्णन है, किन्तु संयोगिता विवाह से पूर्व के षट् ऋतु वर्णन की सी स्वाभाविक प्रासंगिता तथा अनुभूति की तीव्रता उसमें कहाँ? इससे पूर्व किसी नई विवाह-यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय पृथ्वीराज अपनी रानियों से अनुमति लेने नहीं जाता। किन्तु इस बार बहुत बड़े शत्रु का सामना है। पता नहीं लौटना संभव हो सकेगा या नहीं। फलत: पृथ्वीराज अनुमति के लिए सर्वप्रथम बड़ी रानी इंछिनी के पास जाता है। संयोग ऐसा कि वह ऋतुराज का शासन काल था। आखिर पटरानी का मिलना कवि ऋतुराज में न कराये तो कब कराये। रानी के मुख से यह निकलना स्वाभाविक था–

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिंघ दीसं।
भवर भाव भुल्लें भ्रमत मकरंदव सीस।।
बहत बात प्रज्जलति मौर अति विरह अगिन किय।
कुह कुहंत कल कंठ पत्र राषस रति अग्यि।।
पय लग्ग प्रान पति बीनवों, नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धिजुव्वन घटय, कंत वसंत गम करहु।।

राजा उस ऋतु में वहीं रुक जाता है। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ होते ही दूसरी रानी के मन्दिर में जाता है और वहाँ भी ग्रीष्म का भीष्म रूप दिखलाकर रानी रोकती है–

दीरघ दिन निस हीन छीन उलधर वैसंनर।
चक्रवाक चित मुदित उदित रवि थकित पंथनर।।
चलत पवन पावक समान परसत सु ताप मन।
सुकत सरोवर कीच तलफंत मीन तन।

NMDC-065

दीसंत दिगबर सम शरत, तरु लतान गय पत्त झरि।
अक्कुलं दीह संपति, विपित्त कंत गमन ग्रीषम न करि।।

इसी तरह ग्रीष्म भी बीत जाता है और पावस ऋतु में तीसरी रानी इन्द्रावती नाना प्रकार से राजा को रोकती है। एक ओर तो 'जल बद्दल बरषंत प्रेम पल्हरै निरंतर' और दूसरी ओर 'सजल सरोवर पिष्षि हियौ तत छिन घन फटटै' इसलिए वह निवेदन करती है।

घुमड़ि घोर घन गरजि करत आडंबर अंबर।
पूरत जलधर धसत धार पथ थकित दिगंबर।।
झंझकित द्रिग शिशुमृग समान दमकत दामिन द्रिस।
बिहरत चात्रक चुवत पीय दुपंत समं निसि।
ग्रीषंम विरह द्रुम लता तन, परिरंभन क्रत सेन हरि।
सज्जत काम निसि पंचसर, पावस पिय न प्रवास करि।।

शरत् का आकर्षण पावस से कम नहीं है। यदि पावस इंद्रावती के यहाँ बीता तो शरत् को हंसावती के यहाँ बीतना चाहिए था–

द्रप्पन सम आकास स्रवत जल अमृत हिमकर।
उज्जल जम सलिता यु सिद्धि सुंदर सरोज सर।।
प्रफुलित ललिता करत गुंज्ञारन अंबर।
उदत्ति सित्त निसि नूर अंग अति उमंगि अंग बर।।
तलफत प्रान निसि भवन तन, देषत दुति रिति मुष जरद।।
नन करहु गवनन भवन तजि, कंत दुसह दारुन सरद।।

हंसावती का अंतिम तीर है 'सरद दरद करि मति चलौ!' राजा इतना कठोर थोड़े हो सकता है! इसके बाद हेमंत का कठिन शीत यों ही रोकने के लिए काफी था, फिर उसे साथ रानी का मृदुल निवेदन भी नत्थी हो तो क्या कहना–

न चलि कंत सुभचित धनी वहुवित्त प्रगासौ।
गहगहि ऐसी प्रेम सौज आनंद उहासौ।।
दीरघ निसि दिस तुच्छ सीत सतावै अंग।
अंधर दसन धरहरै प्राप्त परजवै अनंग।।
जा ऐनि रैन हर हर जपत, चक्क सद्दचक्की कियौ।
हियवंत कंत सुग्रह ग्रहत्ति, हहकरंत फुट्टैं हियौ।।

NMDC-065

इसी तरह रुकते-रुकते वर्ष की अंतिम ऋतु शिशिर आ धमकती है, तब जैसे पाँच ऋतुएँ गई वैसे छठी भी जाय तो क्या हर्ज है। लेकिन शिशिर का अपना आग्रह भी है–

आगम फाग अवंत कंत सुनि मित्त सनेही।
सीत अंत तप तुच्छ होइ आनंद सब ग्रेही।।
नर नारी दिन रैनि मैन-मदमाते डुल्लै।
सकुच न हिय छिन एक वचन मनमाने बुल्लैं।।

सुनौ कंते सुभ चित करि, रयनि गवन किम कीजियइ।
कहि नारि पीय बिन कामिनी, रिति स सिहर किम जीजियइ।।

ध्यान देने की बात हैं कि शरीर की प्राकृतिक शोभा में विशेषता न होने के कारण कवि ने उधर से दृष्टि हटाकर मानवीय क्रियाओं का प्रलोभन दिखाया है।

स्पष्ट है कि रानियों के आग्रह और ऋतुओं के उद्दीपन के अतिरिक्त राजा का अपना प्रणय-लुब्ध मन भी था जो उसने साल भर के लिए कनवज्ज गमन का कार्यक्रम रद्द कर दिया। किन्तु दूसरा ऋतु-चक्र आरंभ होते ही राजा की परेशानी के साथ पाठक की उत्सुकता भी लगी हुई है कि देखें कवि इसी तरह कथा-प्रसंग को ऋतु वर्णन के आवर्त में ही घुमाते-घुमाते डुबा देता है अथवा राजा के साथ ही कथा-प्रवाह को मुक्ति के लिए कोई युक्ति-संगत प्रसंग की उद्भावना करता है। यहीं कवि-प्रतिभा की परीक्षा है। इतने सुन्दर ऋतु-वर्णन का समापन भी मधुर ढंग से ही होना चाहिए अन्यथा अब तक की सारी कारीगरी गुड़-गोबर हो सकती है। ऐसे महत्वपूर्ण प्रसंग पर चंद स्वयं उपस्थित होता है। ज्यों ही दूसरा बसंत आता है कि पृथ्वीराज चंद के पास परामर्श के लिए जाते हैं। लेकिन वे ठहरे राजाधिराज। सीधे-सीधे मुक्ति का उपाय पूछने से हेठी हो सकती थी। इसलिए वे कवि को भी तोलते हुए से पूछते हैं–

षट रिति बारह मास गय, फिरि आयौरू बसंत।
सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत।।

और चंद जैसे पहले ही से इस सवाल के लिए तैयार बैठा हो, वह तुरंत 'ऋतु' शब्द पर श्लेष करता है–

रोष भरै उन कामिनी, होइ मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिया न मानई, सुनि चुहान चतुरंग।।

NMDC-065

इस प्रकार यह मधुर प्रसंग समाप्त होता है। निस्संदेह 'कनवज्ज समय' समय का षट्-ऋतु वर्णन रासो के दो-तीन मार्मिक तथा सुन्दर प्रसंगों में से एक तो है ही, हिन्दी काव्य-परंपरा के षट्-ऋतु वर्णनों में भी ऊँचा स्थान रखता है। ऊपर से देखने पर इसमें परिपाटी-विहित बातें पर्याप्त मिलेंगी और उद्दीपन के ही रूप में प्राकृतिक सुषमा का प्रयोग दिखेगा, किन्तु यह उस ह्रासयुग के दृष्टिकोण की सीमा है। रासो के षट्-ऋतु वर्णन की विशेषता इस बात में है कि वह आरोपित न होकर मानवीय क्रियाकलाप का अभिन्न अंग बनकर आया है और इस प्रकार कथाप्रवाह को गति देता है। उसकी क्रियाशीलता में ही शोभा है।

इसके बाद भी कवि चंद ने वर्णन-कौशल दिखाने का अवसर निकाल लिया है। उस युग की सबसे समृद्ध नगरी कान्यकुब्ज की शोभा का वर्णन न करना कवि की अरसिकता ही होती। इसलिए रसिक कवि ने कान्यकुब्ज के प्रथम दर्शन-जनित प्रभाव में नाम परिगणन ही नहीं, बल्कि दृश्य-चयन और उपमा-उत्प्रेक्षा मंडन का खूब परिचय दिया है। गंगा के तीर पर बसे हुए विशाल भवनों वाले नगर के नागरिकों के क्रियाकलापों को भी कवि ने शब्दों में चित्रित किया है।

आगे कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में चंद के उपस्थित होने का प्रसंग आता है। राजाओं के यहाँ मानसिक थकान मिटाने अथवा मनोरंजन के निमित्त कुछ नोक-झोंक अक्सर होती ही रहती थी और उसमें रसिक राजा भी भाग लिया करते थे। कवियों के साथ राजा के कलात्मक विनोद की अनेक कहानियाँ आज तक प्रचलित हैं। चंद दरबार की एक झलक देने के लिए आत्मघटित-सा प्रसंग छेड़ देता है। राजा जयचन्द्र चंद बलिद्द के नाम अथवा 'बलिद्द' विरुद' को ही लेकर मजाक करते हैं–

मुह दरिद्र पसु तन चरन, जंगल हाव सुहद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द।।

इस पर चंद कब चूकने वाला है। धाराप्रवाह पाँच छप्पयों में वह खरी स्पष्टोक्ति द्वारा राजा को निरुत्तर कर देता है। एक बानगी देखिए–

हंस न्याय दुब्बरी मुत्ति लम्भै न चुनंतह।
सिंघ न्याय दुब्बरौ करी चंपे स कंठ कह।।
स्रग्ग न्याय दुब्बरौ नाद बंधियै सुबंधन।
छल छक्क दुब्बरौ त्रिया दुब्बरी मीत मन।।

NMDC-065

आसाढ़ गाढ़ बंधन धुरा, एकहि गहि हहरद्दिया।
जंगर जुरारि उज्जर षर न, यौ दुब्बरौ बरद्दिया।।

इसके बाद संयोगिता और पृथ्वीराज के साक्षात्कार, गंधर्व विवाह तथा संयोगिता-हरण प्रकरण में कवि की सरस्वती पूर्णरूप से मुखरित हुई है। शशिव्रता की तरह संयोगिता का साक्षात्कार मंदिर में नहीं बल्कि गंगा के किनारे होता है जब पृथ्वीराज अनमने भाव से मछलियों को मोती चुगा रहा था। देखा पहले संयोगिता ने और थोड़ा संदेह हुआ। उसने तुरन्त चित्रशाला में रखे हुए चित्र से मिलान किया और फिर लौट आई। पृथ्वीराज की भी आँखें उठी। सहसा उसने उस रूप में जानु, कटि कुच, कुचकोर, मुख, नासिका, दृग, भौंह, वेणी आदि न देखकर आश्चर्यचकित क्या देखा कि–

कुंजर उप्पर सिघ सिंघ उप्पर दो पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय।।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड संघ कन्द्रप्प वयट्ठौ।।

अहि मयूर महि उप्परह हीर सरन हेमन जर्‌यो।
सुर भुवन छंडि कविचंद फहि तिहि घोंषै राजन पर्‌यो।।

शिकारी राजा आखिर यह सब न देखता तो क्या देखता!

प्रथम दर्शन में ही दोनों सुध-बुध खो बैठते हैं। समझ में नहीं आता कि बात क्या करें। संयोगिता सोचती है–

जो जंपौ तौ चित हर अनजंपै विहरंत।
अहि उट्ठे छच्छुन्दरी हियै विलग्गी वंति।।

दूसरा प्रसंग वह है जब पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाने का आग्रह करता है और वह लजा उठती है। आगे चलकर घोर संग्राम में लड़ते हुए अश्वारोही दम्पति की शोभा मन को रोमांचित कर देती है। दाम्पत्य प्रणय का प्रस्फुटन कर्मक्षेत्र में ही होता है, जहाँ युगल हृदय एक दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रमसिक्त मुख देखते चलते हैं। होता यह हैं कि कोई योद्धा पृथ्वीराज के गले में कमान डालकर खींच लेना चाहता है कि–

गुन कट्टिय रमनिय सुवर, डसनह पंग कुंआरि।
असि बर झर प्रथिराज हनि, सूर हत्थ तरवारि।।

NMDC-065

इसके बाद–

देख संजोगिय पिय सुबल, श्रम जल बूंद बदन्न।
रतिपति अहित पवित्रं मुष जालिं प्रजालि भरन्न।।

इन सुखमय प्रसंगों के बाद रासो में दु:खमय स्थल आते हैं। इतने सुख और विलास के बाद करुण प्रसंगों का आगमन उनको और भी मार्मिक बना देता है। पृथ्वीराज गोरी से लोहा लेने के लिए प्रस्थान करता है। यों तो गोरी से पहले भी उसकी कई बार मुठभेड़ हो चुकी है, परन्तु इस बार ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अब फिर मिलना न होगा। अभी किसी रानी के सामने पृथ्वीराज के दीर्घ वियोग का अवसर आया ही न था। यह वियोग वर्णन का पहला अवसर है और यहाँ रासोकार की सहृदयता देखने योग्य है–

वही रत्ति पावस्य वही मघवान धनुष्णं।
वही चपल चमकंत्त वही बगपंत निरष्णं।।
वही घटा घन घोर वही पप्पीह मोर सुर।
वही जमीं असमान, वही रवि ससि निसि वासुर।
वेई आवास जुग्गनि पुरह, देई सहचरि मंडलिय।
संजोगि पयंपति कंतबिन, मुहि न कछु लागत रलिय।।

भावों के आवेग में सभी अलंकार बह जाते हैं और भाषा ही भावों का साक्षात् रूप धारण कर लेती है। इन पंक्तियों को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि इनका रचयिता पूर्व प्रसंगों में उपमा-उत्प्रेक्षा आदि की राशि उड़ेलने वाला कविचंद ही है। इसी प्रकार पृथ्वीराज के बन्दी बनाये जाने का समाचार मिलने पर सहगामिनी संयोगिता का आर्त्त क्रन्दन तथा वैधव्य रूप हृदयविदारक है।

उधर गजनी के कैदखाने में पड़े हुए अन्धे महाराज पृथ्वीराज का पश्चाताप और भी करुण है। राजा अपने इस पतन के कारणों का मन ही मन विश्लेषण करता है और पाता है कि यह सब उसके कुकृत्यों और अत्याचारों का परिणाम है। उसकी आँखों के सामने एक-एक कर सभी अत्याचार साकार हो उठते हैं। फिर उसे अपने अतीत वैभव तथा सुखोपभोग का स्मरण हो आता है। अभाव की पटभूमि में वे सुखमय दिन बड़े मोहक प्रतीत होते हैं, फिर उस मोहक पटभूमि के विरोध में कैद की दारुण दशा और भी मार्मिक हो उठी। रासोकार ने महाराज के इस मानसिक द्वन्द्व का अत्यन्त सफल अंकन किया है–

NMDC-065

राजा सोचता है–

सही फूल की फूलनी नाहिं नाथं। तुरत्तं तराऔ जु मालीन हाथं।।
नही मूर सामंत परिवार देसं। नहीं गज्ज बाजं भडारं निलेसं।।
नहीं पंगजा प्रान ते अत्ति प्यारी। नही गोष महिखंा इत चित्रसारी।।
नहीं मृगनयनी चरन्नं तलासै। नहीं कूक कोका सबद्दं उलासै।।
नही पातुरं चातुरं नृत्यकारी। नही ताल संगीत आलापचारी।।

और अंत में–

नहीं चोम मौजं करूं लष्ष दानं। नहीं भट्ट चंदं विरद्दं बषानं।।

उस समय तो नहीं, लेकिन कुछ दिनों बाद चंद अवश्य उसके पास आ पहुँचता है और फिर एक बार विरूदावली सुनाता है। लेकिन इस बार की विरुदावली कुछ और है। वह अंधे तथा हताश योद्धा के हृदय में नयी आशा का संचार करती है, वह मुक्ति का संदेश देती है; वह कार्य-विशेष के लिए तैयार करती है। लेकिन वह प्रसंग कितना मार्मिक है, जब अंधा नरेश अपने प्रिय सहचर चंद का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है; शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग की तरह चुभता है; शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चंद को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ; शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पृथ्वीराज कुछ नहीं बोलता केवल–

नेह नीर रुकि कंक कवि, नैन झलङ्झल पानि।
बिन बोलत बोल्यो नृपति, चंद चिति बर बानि।।

ऐसे शोकपर्यवसायी महाकाव्य का अंत भी भारतीय कवि ने सुखांत से उद्‌भासित कर दिया, क्योंकि धरणी का म्लेच्छ से उद्धार होना राजशोक से अधिक आनंदप्रद है।

मरन चंद बर दाई, राज पुनि सुनिग साहि हनि।
पुहपंजलि असमान, सीस छोड़ी सुदेव तनि।।
मेछ अवद्धित धरिन, धरिन, सब तीय सोह सिग।
तिनहि तिनहि संजोति, ज्योति ज्योतिह संपामिग।।

NMDC-065

रासो अलंभ नव रस सरस, चंद छंद किय अमिय सम।
शृंगार बीर करुना विभछ, भय अद्भुत हसंत सम।।

ऐसे चरित-काव्य के विषय में इस अन्तिम उल्लाला की गर्वोक्ति उचित ही है। युद्ध प्रसंगों को उदाहृत करना उतना आवश्यक नहीं, क्योंकि वीर काव्य के रूप में तो इसकी ख्याति है ही।

ऐसे काव्य में, यदि यदा-कदा ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लंघन हो गया हो तो उसमें कुछ नहीं बिगड़ता; क्योंकि इसमें तथ्यों से भी बड़े मानवीय सत्यों की अवहेलना नहीं की गई; बल्कि सच तो यह है कि कवि ने मानवीय सत्य की रक्षा के लिए ही सुविधानुसार ऐतिहासिक तथ्यों से इधर-उधर हटकर अपनी कल्पना-शक्ति का जौहर दिखाया है।

अभिव्यक्ति कौशल—ऐसी भाव-प्रगल्भता कुशल कवि से ही संभव है। रासो के शिल्प-सौन्दर्य पर विचार करते हुए सबसे पहले जिस बात की ओर ध्यान जाता है, वह यह है कि इसके कवि को काव्य की पूर्व परंपरा का अद्भुत ज्ञान था और साथ ही भावावेग के अभिनव उत्थान में पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा को ढालने की क्षमता भी थी। ह्रास-युग की उस कृति में इससे अधिक शिल्प-सौन्दर्य की शक्ति संभव भी न थी। उस युग के अन्य कुशल कवियों की भाँति रासोकार ने भी पूर्व कवियों की कही हुई उक्तियों में अपनी सूझ के अनुसार थोड़ी-बहुत विशेषता झलकाने में प्राय: जौहर दिखाया है और यही उस युग का सबसे बड़ा बहुप्रशंसित काव्य कौशल था। शशिव्रता की 'नयन-श्रवण वार्ता' में चंद की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी प्रकार नख-शिख वर्णन में भी काव्य-रूढ़ियों का पुनर्मार्जन लक्षित होता है। इस प्रवृत्ति से जायसी, सूर और तुलसी जैसे रससिद्ध कवि भी मुक्त न थे। प्राय: उन कवियों की विशेषता मानवीय मनोभावों की सहज परख में लक्षित हुई है और ऐसे प्रसंगों में रासोकार भी ऊंचे उठ जाता है।

रासो के कवि की अभिव्यक्ति-क्षमता सबसे अधिक भाषा पर अधिकार के रूप में देखी जा सकती है। कवि जैसे चाहता है शब्दों का प्रवाह मोड़ देता है; हर शब्द जैसे उसके इशारे पर नाचता चलता है और भावावेग में धारा-प्रवाह शब्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस कवि को शब्द की कमी खटकती ही नहीं। निश्चय ही, चंद बिहारी की भाँति एक-एक शब्द बहुत तराश-खरादकर, बहुत सोच-विचार के साथ प्रयोग करने वाले जड़ाऊ या शिल्पियों में से न थे। वे मस्तमौला की तरह शब्दों का बेलाग प्रयोग करते थे। इसलिए जो विद्वान् 'नपा-तुलापन' 'अत्यन्त व्यवस्था' आदि के अनुसार कवि की भाषा-शक्ति परखते हैं वे चंद को पसंद नहीं कर सकते; वे तो बिहारी पर ही बलिहारी होते हैं। किन्तु जिन्हें भावानुकूल भाषा मंद और तीव्र सौन्दर्य की चाट है वे चंद के पास बार-बार मँडरायेंगे।

NMDC-065

छंद भाषा की गति तथा भंगिमा है। इसलिए चंद जैसे भाषा पर अचूक अधिकार रखने वाले कवि की छंद-भंगी स्वाभाविक है। वस्तुत: हिन्दी में चंद को छंदों का राजा कहा जा सकता है। भाव-भंगिमा के साथ-साथ दनादन भाषा नये-नये छंदों की गति धारण करती चलती है और विशेषता यह है कि इस बलखाती हुई नदी में बहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छंद परिवर्तन के प्रवाह में सहज आत्मविस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र/कहीं नहीं मिलता। रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छंद परंपरा के पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के नूतन छंद-संगीत के सूत्रपात की संधि बेला है। इस तमाम छंद-संघटन में भी रासो का अपना हिन्दी काव्योचित संगीत सर्वोपरि है। इसलिए तो 'सरोज' के रचयिता श्री शिवसिंह सेंगर ने चंद को छप्पयों का राजा कहा है। विभिन्न यतियों के छप्पय की जो सुकर भंगिमा चंद ने दिखलायी है वह दुर्लभ है।

इस प्रकार चंद ने अनूठे अभिव्यक्ति-कौशल का परिचय दिया।

रासो और युग की वास्तविकता—चाहे पृथ्वीराज रासो की रचना आठ-दस वर्षों में एक कवि द्वारा हुई हो चाहे शताब्दियों में अनेक कवियों द्वारा, उसमें प्रतिबिम्बित वास्तविकता में कोई महत्त्वपूर्ण स्तर-भेद लक्षित नहीं होता। जिस प्रकार कबीर, जायसी सूर, तुलसीदास आदि की रचनाओं में चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण प्रतिबिम्बित हुआ है और सामान्य जन समूह की आशाओं-आकांक्षाओं का उभार लक्षित होता है, उस तरह पृथ्वीराज रासो में नहीं मिलता। वस्तुत: वह पृथ्वीराज तथा उससे सम्बद्ध राजाओं और सामंतों के प्रणय तथा युद्ध विषयक सम्बन्धों के माध्यम से उस युग के ह्रासोन्मुख उपरले समुदाय की वास्तविकता प्रकट करता है। निस्संदेह चंद अपने चरित नायक पृथ्वीराज का सखा था और पृथ्वीराज के प्रति उसका पक्षपात भी स्वाभाविक था। इस सहानुभूति के बावजूद उसके अनजाने पृथ्वीराज तथा उसके समाज की कमजोरियाँ उभर गई हैं। संभवत: इस सहानुभूति के कारण रासो में युग की सच्चाई अपने नग्न रूप में व्यक्त हो सकी है।

जब गोरी के हमले की खबर पृथ्वीराज की प्रजा में पहुँचती है तो वह अपने को अरक्षित तथा असहाय अनुभव करती हुई अंत में रनिवास-लुब्ध राजा की शरण जाने की मंत्रणा करती है। उस समय चंद की इन पंक्तियों 'रतिवंतौ राजन' का संकेत ध्यान देने योग्य है।

मिलिय सकल एकान्त महाजन। किम बुज्झै रतिवंति राजन।।

मृगया-रत और केलि-विलासी राजा के जीवन का उद्‌घाटन करने के साथ ही परम्परा-घातक राजपूती शान की ओर भी कन्ह के चषबंधन कथानक में संकेत किया गया है। चंद ने इस

NMDC-065

सच्चाई का यथातथ्य अंकन ही नहीं किया है, बल्कि पृथ्वीराज के पराभव तथा कैद वाले पश्चाताप के द्वारा अनजाने ही उस ह्रासयुगीन भावना के घातक परिणाम की ओर ध्यान दिलाया है।

इस प्रकार पृथ्वीराज़ रासो संत-भक्ति काव्य की भाँति सामान्य जन-जागरण की उत्थानशील भावना का प्रतिबिम्ब न होते हुए भी ह्रासोन्मुखी सामन्ती शक्तियों के अंतर्विरोध का चित्रण करने वाला महाकाव्य है। इसलिए इसकी वीर भावना में न तो महाभारत सा उदात्त शौर्य और पराक्रम है और न इसकी शृंगार भावना में कालिदास की सी मुग्ध तन्मय भावाकुलता। ह्रासयुग का प्रभाव रासो की वीरता और शृंगार दोनों भावनाओं पर पड़ा।

इसलिए रासो की महिमा वीरता और शृंगार के उदात्त तथा उज्जवल चित्रण में उतनी नहीं जितनी अपने युग की वास्तविकता वीरता तथा प्रेम-भावना को प्रतिबिम्बित करने में है। कहना न होगा कि इस कार्य में चंद ने जितने व्यापक क्षेत्र को समेटा है वह संत-भक्ति काव्य को छोड़कर अन्यत्र कही नहीं मिलता। रासो मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भावदशाओं का महासागर है। यही वह विशेषता है जिससे ह्रास युग के सभी काव्यों में रासो को सर्वोपरि स्थान दिया है। निश्चय ही यह उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परंपराओं को बृहद् कोश और मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है।

NMDC-065

2. काव्य-सौष्ठव
(पृथ्वीराज रासो)

शांता सिंह

पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक पक्ष को लेकर प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद इतना लम्बा खिचा कि उसके अलावा उसकी साहित्यिक महत्ता की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया। इसमें एक बहुत बड़ी बाधा इसकी भाषा भी थी, जो 'दुर्भेद्य दीवाल' की तरह रचयिता और पाठक के बीच रुकावट बनी खड़ी थी। भाषा की इस कठिनाई के बावजूद 'रासो' की साहित्यिक विशिष्टता के उद्घाटन के सबसे पहले प्रयास का साहस विपिनबिहारी त्रिवेदी ने किया।

'रासो' का कथानक

नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह एक चरितकाव्य है, जो रासक शैली में लिखित है। पृथ्वीराज इसके नायक हैं। उनसे जुड़ी हुई मुख्य कथा के साथ अनेक आनुषंगिक कथाओं से 'रासो' भरा पड़ा है। आरम्भ में परम्परा निर्वाह के लिए मंगलाचरण, पहले के कवियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन आत्म-विनय, खलनिन्दा और सज्जन प्रशंसा के बाद ग्रंथ-रचना-प्रयोजन का उल्लेख करने के उपरान्त कथा आरम्भ होती है। पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र थे। इनकी माँ दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कन्या थीं। अनंगपाल की दूसरी बेटी कन्नौज के राजा विजयपाल को ब्याही थी, जिससे जयचंद का जन्म हुआ। पृथ्वीराज के विद्याभ्यास के उपरान्त राजकीय कार्य-निर्वाह के दौरान आनेवाले तरह-तरह के प्रसंगों का वर्णन किया गया है जैसे पृथ्वीराज के आश्रय में रहनेवाले भीमदेव चाल्युक्य के भाई का वध पृथ्वीराज का एक सामन्त कन्ह महज़ इतनी-सी बात पर कर देता है कि उसने कन्ह के सामने अपनी मूँछों पर हाथ रख दिया था। दण्डस्वरूप कन्ह की आँखों पर पट्टी बँधवा दी गयी। तो भी भाई के वध से कुपित भीमदेव ने शत्रुता मान ली। उसने इसके अलावा बड़ी बहिन मंदोदरी से विवाह के बावजूद इंच्छिनी के विवाह की माँग की, जिसके अनौचित्य से नाराज़ हो इंच्छिनी के पिता और भाई ने पृथ्वीराज के पास इंच्छिनी के विवाह का प्रस्ताव भेजा। फलस्वरूप भीमदेव और पृथ्वीराज में विधिवत् लड़ाई हुई, जिसमें विजयी होकर पृथ्वीराज ने इंच्छिनी से विवाह किया। हंस से पृथ्वीराज के गुणों का वर्णन सुनकर शशिव्रता, पृथ्वीराज के प्रतिद्वन्द्वी कन्नौज के राजा जयचंद के भतीजे की बजाय पृथ्वीराज पर अनुरक्त हो गयी। इसी बीच दासी के प्रति मंत्री कैमास की अनुरक्ति की बात जानकर पृथ्वीराज को इतना क्षोभ हुआ कि उसने रात में छिपकर कैमास को मार डाला। चंद ने इस ज़्यादती (छोटी भूल के लिए इतना बड़ा दण्ड देने की) और इतने योग्य मंत्री को खो देने की नासमझी के लिए पृथ्वीराज को बहुत फटकारा। युद्धों के फलस्वरूप

NMDC-065

विवाह और विवाह के निमित्त युद्ध के क्रम में कुछ दिनों बाद संयोगिता का अपने प्रति प्रेम जानकर ज्योतिषियों और हितैषियों के मना करने पर भी पृथ्वीराज कन्नौज जाता है। यात्रारम्भ के पहले रनिवास से अनुमति लेने के लिए जाने पर, छः रानियों द्वारा एक-एक ऋतु में रुकने का आग्रह किये जाने के फलस्वरूप, साल भर रुका रह जाता है। इस बहाने षड्ऋतु वर्णन का अवसर निकालना कवि का प्रयोजन है। अन्त में किसी तरह ससैन्य कन्नौज के लिए प्रयास करता है। संयोगिता के प्रेमवश गंगा किनारे उससे भेंट होने पर उसे घोड़े पर बिठाकर चल देता है। पृथ्वीराज तो शत्रुसेना को काटता निकल गया, पर उसके अनेक वीर योद्धा इस युद्ध में मारे गए। अंत में जयचंद ने पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह में दहेज भेजकर अपनी स्वीकृति दे दी। संयोगिता के आ जाने पर पट्टरानी के रूप में इंच्छिनी का सपत्नी-भावजन्य द्वेष स्वाभाविक था। शुक से इंच्छिनी का संदेश पाकर पृथ्वीराज को अपनी भूल का बोध हुआ, दोनों रानियों में समझौता हुआ और नायक के लिए परिस्थितियाँ अत्यन्त सुखद हो गयीं।

इसके साथ ही भोग-विलास में डूबे और राजकीय दायित्व निर्वाह से बेखबर राजा पर शहाबुद्दीन का हमला हुआ। युद्ध में राजा बन्दी बनाए गये, अन्य रानियों के साथ संयोगिता सती हो गयी। पृथ्वीराज गज़नी ले जाए गये, उनकी आँखे निकाल ली गयीं और उन्हें क़ैदख़ाने में डाल दिया गया। यह सारा समाचार पाक़र चंद गजनी पहुँचा और उसने गोरी को पृथ्वीराज का शब्दवेधी वाण कौशल देखने के लिए राज़ी कर लिया। भरे दरबार में गोरी के द्वारा आज्ञा दिलाकर उसी स्वर की दिशा में पृथ्वीराज के लक्ष्य कर बाण छोड़ने के फलस्वरूप शहाबुद्दीन गोरी मारा जाता है, चंद और पृथ्वीराज भी एक-दूसरे को मारकर अपनी प्राणान्त कर लेते हैं।

कथानक रूढ़ियाँ

इस कथानक के घटनाक्रम के विन्यास के लिए किसी कार्य कारण-शृंखला की बजाय कथानक रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर लिखे गये *पृथ्वीराज रासो* और *पद्मावत* जैसे काव्यों में भी सम्भावना पर बल दिये जाने के नाते आचार्य द्विवेदी ने इन्हें निजंधरी कथा' नाम दिया है। "सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश में साहित्य के कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे 'अभिप्राय' बहुत दीर्घ काल से व्यवहृत होते आए हैं, जो थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं।'' जैसे शुक मनुष्य की बोली की नकल कर लेता है यह वास्तविकता है, ऋषि के वरदान से यह शक्ति बढ़ सकती है और यदि शापग्रस्त गंधर्व बनकर पैदा हुआ हो तो पिछले जन्म के संस्कारों से यह कलामर्मज्ञ हो सकता है। सम्भावना पक्ष पर आग्रह होने के कारण किस-किस तरह की रूढ़ियाँ प्रचलित हो गयी हैं, इसके कुछ नमूने यों हैं -

1. कहानी कहनेवाला सुआ,

NMDC-005

2. **स्वप्न में देखकर,** चित्र देखकर या भिक्षुओं आदि से रूप-गुण वर्णन प्रेमासक्ति होना

3. मुनि का शाप,

4. आकाशवाणी,

5. षड्ऋतु और बारहमासे के बहाने विरह-वेदना का वर्णन आदि।

'रासो' में प्रेम सम्बन्धी, लगभग सभी रूढ़ियों का समावेश हुआ है। इंच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों के शुक-शुकी के वार्तालाप का प्रयोग किया गया है। इंच्छिनी के विवाह में शुक-शुकी के वार्तालाप से ही भीम मोरंग और पृथ्वीराज के प्रसंग में उनकी शत्रुता के कारण का पता चलता है। भीम के प्रताप से उसके भाइयों का भयभीत होकर पृथ्वीराज की शरण में आना, पृथ्वीराज के प्रिय सामन्त कन्ह द्वारा एक का मारा जाना और भीमराव का नाराज़ होना यह शुक-शुकी की बातचीत से ही ज्ञात होता है। दूसरा प्रसंग है—भीमराव की इंच्छिनी से विवाह की इच्छा। इंच्छिनी की बड़ी बहन मंदोदरी भीम की विवाहिता थी; उसके बाद छोटी बहन को उसकी सपत्नी के रूप में ले आने की आकांक्षा अनुचित थीं, इसलिए इंच्छिनी के पिता सलष और भाई जैन दोनों इस विवाह के विरुद्ध थे। अत: इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने पृथ्वीराज की शरण ली। लड़ाई हुई, भीम के कहने से शहाबुद्दी भी चढ़ आया, पर पृथ्वीराज ने सबको परास्त कर इंच्छिनी से विवाह किया। इंच्छिनी विवाह के बाद शशिव्रता के विवाह में भी कथानक-रूढ़ियों का भरपूर प्रयोग किया गया है। नट के मुँह से यादव कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशंसा सुनकर पृथ्वीराज का उस पर आसक्त हो जाना, यह ज्ञात होना कि कामध्वज राजा को शशिव्रता नहीं चाहती, इसलिए उससे विवाह के लिए वह तैयार नहीं है; कन्या-प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिव-मन्दिर में मनोरथ सिद्धि का वरदान, ये सब पुरुष-प्रेम की पुरानी भारतीय कथा-रूढ़ियाँ हैं। इनके नियोजन में कवि की निपुणता अवश्य प्रशंसनीय है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में काम-पीड़ा की व्याकुलता भी रूढ़ि ही है और उसके बहाने ऋतु-वर्णन भी।

नट के मुख से रूप-वर्णन सुनकर पृथ्वीराज की आसक्ति की पूर्णता के लिए हंस की कल्पना की गयी है, जो वस्तुत: कोई गंधर्व है, जो शशिव्रता की इच्छा के विरुद्ध उसकी सगाई किसी और से होने जा रही है, यह जानकर, हंस बनकर उसके पास जाता है। उसने शशिव्रता को पूर्वजन्म की चित्ररेखा नामक अप्सरा का अवतार होने की बात बताई और उसे पृथ्वीराज के प्रति प्रेमानुरक्त कर दिया। इसके बाद वह पृथ्वीराज के पास पहुँचकर शशिव्रता के रूप-वर्णन के साथ यह बताकर कि यह चित्ररेखा नामक अप्सरा का अवतार है तथा पृथ्वीराज पर आसक्त है, उसे कृष्ण के, रुक्मिणी की तरह, शशिव्रता के हरण को प्रेरित करता है। यह रूप-गुण-श्रवणजन्य आकर्षण और प्रेमोत्पत्ति प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय कथानक रूढ़ि है। इसी तरह अन्य

NMDC-065

अनेक प्रचलित कथा-रूढ़ियों के प्रयोग के सहारे, सम्भावनाओं के विस्तार में रस-सृष्टि, इस काव्य के रचयिता का प्रयोजन है।

वस्तु-वर्णन

कथा-विस्तार के क्रम में ऐसे अवसर आते गये हैं, जिनमें युद्धों की तैयारी, सेना की व्यूह-रचना, नगरों, दरबारों और राजाओं के वैभव, नारियों के सौन्दर्य और विभिन्न ऋतुओं की शोभा के वर्णन के प्रसंग सुलभ हुए हैं। युद्धों की अनवरत शृंखला के नाते युद्धों की तैयारी सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने में कवि की उत्सुकता दर्शनीय है। युद्धों के संदर्भ में चक्रव्यूह, मयूर-व्यूह, गिद्ध-व्यूह और गरुड़-व्यूह नामों से अनेक व्यूहों के वर्णनों में समानता के आधार पर विपिन बिहारी त्रिवेदी का अनुमान है कि ये महाभारत से प्रेरित हैं। पर ये व्यूह-वर्णन केवल युद्ध की परम्परा का निर्वाह मात्र करते हैं, 'ये वर्णन इस ढंग के हैं कि हमें व्यूहों की स्थिति का पता नहीं लग पाता। केवल नाम देने और कतिपय निर्देश कर देने मात्र से सेना के आकार और प्रकार का पता लगा सकना सर्वथा असम्भव है।'

राजा के वैभव, शक्ति और राजकीय ऐश्वर्य के प्रमाणस्वरूप नगरों का वर्णन-करने में कवि का सहज आग्रह है। निस्सन्देह यह सारा वर्णन वस्तु-परिगणात्मक पद्धति का ही है, चाहे वह गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य की राजधानी पट्टनपुर का वर्णन हो, चाहे पृथ्वीराज चौहान की इन्द्रपुरी सदृश दिल्ली या कान्यकुब्जेश्वर जयचंद के कन्नौज नगर का। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज की दिल्ली का वर्णन के लिए निगम बोध स्थित उद्यान के वृक्षों की सूची देखें -

सुंधं निगम बोधयं जमंन त सोधयं।
तहां सु बाग व्रच्छयं बने सु डाल्ल अच्छयं।

समीर तासु बास यं, फलं सु फूल रासयं।
विरष्य बेलि डम्बरं सुरंग पान अंमरं।

सु केसरं कुमं कुमं, मधुप्प बास तं भ्रमं।
अनार दाष पल्लवं, सु छत्र पत्ति ढिल्लषं।

इसी प्रकार कनवज्ज पहुँचने पर प्रातःकाल का दृश्य—

तहां प्रात प्रातं बिबं अंब मोरै,
सुरं कंठ कलियंठ रस प्रस्स झोरे।
फली फूल बेली तरूं चढ़िढ सोहैं,
तिनम ओपमा दैन कविचंद मोहै।

NMDC-065

रवी तेज देषी रसी बाल भागी,
मनो तारिका उड्डि तर सब्ब लागी।

कहों जुही जंभीर गंभीर वासी,
तभी तप्पनी सेब सीसंम सासी।

इसी तरह नगर-वर्णन हो तो बादल की गर्जना के स्वरवाले नगाड़ों का बजना, योजनों तक फैले उद्यान, जिसमें नारंगी दाड़िम पुष्प विकसित होंगे, नगर में द्यूतशालाएँ, वीणा-वाद्य, विभिन्न पेशोंवाले स्त्री-पुरुष, नगर हाट में रत्न, मोती, माणिक्य के हार, बहुमूल्य वस्त्रों का क्रय-विक्रय सब कुछ, कवि, परम्परानुसार गिनाता चला गया है। ज्योनार के प्रसंग में व्यंजनों की लम्बी सूची हाज़िर है। होली-दीवाली जैसे पर्वों के अवसर हों तो उसकी उमंग और उल्लास के बजाय अपनी जानकारी का प्रदर्शन करने में कवि विशेष उत्साहित रहता है।

भाव-व्यंजना

वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भाव-व्यंजना में कवि की सहृदयता विशेष रूप से प्रभावित करती है। आचार्य शुक्ल के शब्दो में कवि की कुशलता इससे प्रमाणित होती है कि वह कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानने और उनके हृदयस्पर्शी निरूपण में कितना सफल हुआ है। चंदबरदाई की प्रसिद्धि युद्धों के अतिशयोक्तिपूर्ण और उद्धत वर्णनों के लिए ही ज्यादा है, पर 'रासो' में ऐसे ढेरों प्रसंग सुलभ हैं, जहाँ पात्रों की कोमल तथा करुण मनोभावनाओं से कवि का पूरा तादात्म्य हुआ है और उसकी अभिव्यंजना में चमत्कार प्रदर्शन के बजाय मर्मस्पर्शिता का गुण उभरा है।

महान आत्माएँ गर्भस्थ शिशु के रूप में अपना विशिष्ट प्रभाव दिखाती हैं, यह तथ्य गौतम बुद्ध जैसे महान पुरुषों के जन्मपूर्व उनकी माँ के अनुभवों में वर्णित हुआ है। पृथ्वीराज जैसा तेजस्वी शिशु माँ के गर्भ में जैसे-जैसे विकसित हो रहा है, वैसे-वैसे उनकी माँ के सौन्दर्य की कान्ति शुक्ल पक्ष की शशि-कला के समान दिन-दिन द्विगुणित होती जा रही है,

कितिक दिवस अंतरह रहिय आधान' रानि उर।
तदन दिल कला बढ़ंत मेघ ज्यों बढ़त भद्द उर।
चन्द्रकला सित पष्ष जेम बाढ़ंत दिनं दिन।
मुगधा जीवन चढ़त मिलतं भरतार खिनं खिन।

सोमेसर तोंवर घरनि, अनगपाल पुत्रीय।
तिन सु पिथ्य गर्भधरिय दानव कुल छत्रीय।

NMDC-065

पंलग से उतर कर जमीन पर लोटने के सहज बाल-चेष्टा तथा बार-बार उठने की असफल कोशिश में उठ-उठकर गिरने का यह स्वाभावित वर्णन दर्शनीय है—

केसर सु मंडि सुभ भाल छवि। दसन जोति हीरा हरत।
नह तलप इक्क थह षिन रहत। हुलसि हुलसि उठि उठि गिरत।

अथवा माता-पिता की उँगली पकड़कर चलने का यह चित्र -

अंगुरिन लग्गि रगि चलत लाल,
सर मद्धि उठत गज हंस बाल।

इसमें सरोवर में गज द्वारा बाल हंस को उठाए जाने की सटीक मौलिक उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है। ये स्वाभाविक चित्र सूरदास द्वारा वर्णित बाल-चेष्टाओं के चित्रों का स्मरण दिलानेवाले हैं।

विवाहों और उनके साथ अनिवार्यतः जुड़े सौन्दर्य-वर्णन के प्रसग कवि की विशेष रुचि के क्षेत्र हैं। 'रासो' में इंच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के साथ विवाह के अवसर चंद के कौशल की विशिष्टता के प्रमाण हैं। तीनों ही विवाह हैं, अत कवि अगर तनिक भी असावधान होता तो इनमें पुनरावृत्ति होनी अनिवार्य थी। पर कवि ने प्रयासपूर्वक इसमें किसी तरह की एकरूपता या आवृत्ति नहीं होने दी है। इंच्छिनी-विवाह ब्राह्मण के हाथों लग्न भेजने की प्रक्रिया से आरम्भ होता है। फिर बारात की सजावट, उसकी अगवानी, तोरण, कलश, कुल-देवता की पूजा, जनवासा, गणेश तथा नवग्रह पूजन, भाँवरें, ज्योनार, दान-दहेज, विदाई आदि पारम्परिक रीतियों का विधिवत वर्णन हुआ है। इससे भिन्न शशिव्रता-विवाह में हंस और गंधर्व द्वारा पूर्वानुराग की पृष्ठभूमि बनी है और उभयपक्षीय प्रेम के फलस्वरूप शशिव्रता का हरण और विवाह का अवसर उपस्थित हुआ है। संयोगिता के प्रसंग में पूर्वराग संयोगिता की ओर से है। वह पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डालकर उसका वरण करती है, बाद में पृथ्वीराज उससे गंधर्व विवाह करता है। यहाँ हरण और युद्ध दोनों की नौबत आती है, पर शशिव्रता विवाह से कुछ अलग परिस्थितियों में, जिनका उल्लेख कथा-प्रसंग में पीछे हो चुका है।

विवाहों के साथ सौन्दर्य-वर्णन, विशेषतः नारी-सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग आएँगे ही। चंद द्वारा वयःसंधि का वर्णन प्रसिद्ध है-

राका अरु सूरज्ज बिच उदय अस्त दुहुं बेर।
वर शशिवृत्ता सोमई, मनो शृंगार सुमेर।

शशिव्रता की वयःसंधि ऐसी है, मानों शृंगाररूपी सुमेरु के दोनों ओर उदय होता सूर्य और

NMDC-065

अस्ताचलगामी चन्द्रमा एक साथ दिखाई दें। इस उत्प्रेक्षा में अद्भुत कल्पनाशीलता तो है ही, यौवन के तेजोदीप्त रूप की शोभा और कैशोर्य काल की चन्द्रमा-सी शीतलता की व्यंजना अत्यन्त सटीक और कलात्मक है। चमत्कारोत्पादन में अपने स्वाभाविक रुझान के नाते सौन्दर्य-वर्णन के लिए रूपकातिशयोक्ति जैसे स्थूल अलंकारों का प्रयोग होना स्वाभाविक है। संयोगिता-हरण के पहले गंगा के किनारे पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहा है। आँखें उठाता है तो सामने संयोगिता कैसी दिखाई पडती है, कवि रूढ़ उपमानों के द्वारा उसका वर्णन करता है-

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दो पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय।।

ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोदंड संघ कन्द्रप्प वयढ्ठौ।।

अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्यौ।
सुर भुवन छंडि कविचंद फहि तिहि घोषै राजन पर्यौ।।

राजा के धोखे में पड़ जाने से रूपकातिशयोक्ति के साथ भ्रान्तिमान अलंकार का सहज मेल भी कर लिया गया है।

सौन्दर्य-वर्णन के क्रम में सद्य:स्नाता का मोहक रूप कवियों को हमेशा से आकृष्ट करता रहा है। इंच्छिनी के इस नहाए-धोए रूप के चित्रण में उपमाओं की मौलिकता सारे दृश्य को इन्द्रियग्राह्य बनाने में और सहायक हुई है-

करि मंजन अंगाछि तन, धूप वासि बहु रंग।
भयो देह जनु नेह फुलि हेम भोग जन गंग।।

प्रथम मिलन की हलकी घबराहट और आनन्द के मिले-जुले अनुभूतिजन्य कम्प को मन्द वायु से लहाराती लता से उपमित करने में इंच्छिनी की कमनीय देहयष्टि और उमंगित मन:स्थिति दोनों की अत्यन्त सटीक व्यंजना की गयी है-

हल हलै लता कछु मंद वाय। नव वधू केलि भय कंप पाय।
उपमां उर कव्वि कहीय तांम। जुब्बन तरंग अंगि अंगि काम।

यहाँ नायिका के विभिन्न अंगों के उल्लेख द्वारा उसके यौवनजन्य सौन्दर्य का वर्णन करने की बजाय यौवन अंग-अंग में तरंगित होता हुआ काम, कहने में भी अप्रस्तुत की नवीनता और उपयुक्तता द्रष्टव्य है। नख-शिख का परिपाटीबद्ध वर्णन करने में भी कवि की दृष्टि हृदय पर

NMDC-065

पड़नेवाले सौन्दर्य के प्रभाव को साकार करने के लिए सजग है और अपनी कल्पना के नवोन्मेष से नये रस की सृष्टि करती चलती है। इंच्छिनी के नखशिख के ब्यौरे के अन्त की यह उक्ति-

आलोल नैन गति बचन बहु सषिन सोभ मंडिय मनह।
फुल्ली सु सांझ कवि चंद कहि, मनहु बीजु थरकी घनह।।

नारी-सौन्दर्य को विद्युत-छटा की तरह कहने की पुरानी रीति की पृष्ठभूमि में 'घटाओं के बीच मानों ठहर गई बिजली-सी' कहने में जो मौलिकता है, वह छायावादी युग में प्रसाद के सौन्दर्य-वर्णन में आए अप्रस्तुत विधान का स्मरण कराने वाली है।

शशिव्रता के प्रिय के प्रथम साक्षात्कार के दृश्य भी अत्यन्त मोहक और हृदयस्पर्शी हैं। गुण-श्रवणजन्य आकर्षण के नाते, जिसे पति स्वीकार कर लिया है, वह मानसमूर्ति सामने साकार हो, तो सहसा रोमांच, उल्लास, संभ्रम आदि अनेक भावों की व्यंजना स्वाभाविक है —

कर्न प्रयत कटाछ सुरंग बिराजहीं
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजहीं,
नैन सैन में बात जु स्रवनन सों कहै,
काम किधौं प्रथिराज भेदि करि ना लहै।

यहाँ 'काननचारी नैन मृग' की तरह केवल नेत्रों की दीर्घता ही व्यंजित नहीं हो रही है। ये कर्णायित लोचन मानो कानों से कुछ पूछना चाहते हैं, इस 'कछु पुच्छ को जाहिं पै पुच्छत लाजहीं' में उत्सुकता, मन का लालायित भाव, हलका संकोच और जो रूप-गुण-वर्णन सुन रखा है, वही इस समय प्रत्यक्ष है, इसके लिए आश्वस्त होने की चेष्टा सब एक साथ संकेतित हैं। वस्तुतः इसे तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' से भी कहीं मुखर और कल्पनापूर्ण प्रयोग कहा जा सकता है।

संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रथम साक्षात्कार का दृश्य भी अत्यंत मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। एक-दूसरे को देखकर दोनो की क्या स्थिति होती है—कोई कुछ कह ही नहीं पाता है—संयोगिता सोच रही है-

जो जंपौ तौ चित्त हर अनजपै बिहरंत,
अहि उटठै छंछुन्दरी हिये विलग्गी वंति।

कुछ वैसी ही स्थिति है, जिसे तुलसी ने 'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा' कहकर व्यक्त किया है। दोनों की मनःस्थितियों की अलग-अलग पृष्ठभूमि है जरूर, पर भावातिरेकजन्य वाणी-अवरोध दोनों में एक-सा है।

NMDC065

वसन्तागम के वर्णन द्वारा कवि शैशव के जाने और कैशोर्य काल के आगमन का वर्णन करता है –

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय चढ़िय वैसब किसोर कुछ।

इसमें पत्तों के झड़ने और नये अंकुरों के उठने से शैशव के उतरने और कैशोर्य वय के चढ़ने की सुन्दर व्यंजना हुई है।

प्रथम दर्शन से और मार्मिक क्षण है प्रथम स्पर्श। पृथ्वीराज द्वारा शशिव्रता का हाथ पकड़ना कैसा है –

चौहान हथ्थ वाला गहिय सो ओपम कवि चंद कहि।
मानों कि लता कंचन लहिर मत्त वीर गजरात गहि।।

दर्पयुक्त वीर नायक को मत्त गजरात और रोमांच, आनन्द तथा मिलन के उछाह से लज्जाशीला सुन्दरी शशिव्रता को कंचन की लहराती लता-सी कहने में रूप-साम्य और भाव-साम्य का सुन्दर समन्वय हो रहा है। फिर अनागत की आशंका और आनन्द के मिले-जुले भाव से आँखों में आनेवाले आँसुओं को 'अमांगलिक का निषेध' करने के लिए शशिव्रता द्वारा पोंछने की सजग चेष्टा का यह दृश्य अपनी स्वाभाविकता, मार्मिकता और प्रभविष्णुता में अतुलनीय हैं –

गहत बाल पिय पानि सु गुरुजन सभरे।
लोचन मोचि सुरंग जु अंसु बहे टरे।
अपमंगल जिय जानि सु नैनन मुष बही।
मनो खंजन मुष मुत्ति मरक्कत नंषही।

काव्यशास्त्रोक्त 'भावशबलता' में ऐसे भावपूर्ण उदाहरण कम मिलेंगे।

ऋतु-वर्णन के लिए बहाने ढूँढना, मध्य काल तक ही बहुप्रचलित रूढ़ि रही है। *संदेशरासक* में पथिक के मात्र इस प्रश्न से कि 'तुम इस तरह कब से विरह से दग्ध हो ?' कवि को वर्ष भर के ऋतु-क्रम में प्राकृतिक परिवर्तन द्वारा उद्दीप्त विरह-वेदना के वर्णन का बहाना मिल जाता है। यहाँ भी पृथ्वीराज विवाह के लिए यात्रा पर जाने से पहले रानियों से अनुमति लेने जाता है। इंच्छिनी पटरानी है, अत: उसके पास राजा सबसे पहले जाता है। संयोग से वह समय वसन्तऋतु का है। जब आमों में बौर आ गए हों, मकरन्द लोभी भौंरों का मँडराना शुरू हो गया हो, लम्बी रातों में विरहाग्नि तीव्र करने वाली शीतल मंद वायु बहने लगी हो, तो रानी कैसे राजा को जाने की अनुमति देगी —

NMDC-065

मवरि अंब फुल्लिग। कदंब रयनी दिघ दीसं।
भवर भाव, भुल्लै। भ्रमंत मकरंद सीसं।।

बहत बात उज्जलति। मौर अति विरह अगिन किय।
कुहु कुहंत कल कंठ। पत्र राषत रति अग्नियं।।

पयलग्गि प्रान पति बीनवों नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय। कंत बसंत न गम करहुं।

दूसरी रानी पुण्डीरनी ग्रीष्म ऋतु के दिनों की दीर्घता, चक्रवाक की प्रसन्नता, (इस बहाने पृथ्वीराज के चले जाने पर अकेली रानी के सम्भाव्य दु:ख की ओर इशारा भी है) सूखते हुए सरोवर में तड़पती मछली, पत्रहीन लताएँ (विरहिणी नायिका की भावी विषण्ण मूर्ति की ओर संकेत) इन सबका उल्लेख करती है –

दीरघ दिन निस हीन। छीन जलधर वैसनंर।
चक्रवाक चित मुदित। उदित रवि थकित पंथ नर।।
चलत पवन पावक। समान परसत सुताप मन।
सुकत सरोवर मचत। कीच तलफंत मीन तन।।
दीसंत दिगम्बर सम सुरत। तरु लतान गय पत्त झरि।
अक्कुलं दीह संपति विपति। कंत गमन ग्रीषम न करि।।

वर्षाकालीन अम्बर में गरजते, उमड़ते मेघों का आडम्बर, बरसते जल से पल्लवित – अर्थात् उल्लसित लताएँ और अपने पाँचों बाणों का संधान करता कामदेव – इन्द्रावती कहती है कि यह ऋतु क्या प्रवास करने की है ?

घुमड़ि घोर घन गरजि। करत आडम्बर अम्बर।
पूरत जलधर धसत। धार पथ थकित दिगम्बर।।
झंझकित द्रिग सिसु म्रगग। समान दमकति दामिनि द्रिस।
बिहरत चात्रग चुबत पीय दुषंत समं निसि।।
ग्रीषम बिरह-दुम लता तन, परिरंभन क्रत सेन हरि।
सज्जंत काम निसि पंचसर। पावस पिय न प्रवास करि।।

अन्य ऋतुओं की तुलना में वर्षा का वर्णन अधिक प्रभावशाली हुआ है।

शरद ऋतु उससे भी कहीं मोहक है। दर्पण जैसा स्वच्छ आकाश, उज्जवल जलवाली नदियाँ,

NMDC-065

सरोवरों में खिले कमल, अमृतवर्षी चन्द्रमा, पुष्पित लताओं पर गुंजार करते भौरे; मोहक शरद ऋतु में पति का जाना 'हे कंत दुसह दारुण है' यह कहकर हंसावती प्रथ्वीराज को रोक लेती है –

द्रप्पन सम आकास स्रवत जल अमृत हिमकर।
उज्जल जल सलिता सु सिद्धि सुन्दर सरोज सर।।
प्रफुलित ललित लतानि। करत गुंजारव भ्रंमर।
उदति सित्त तिसि नूर। अंग अति उमांगे अङ्ग बर।।
तलफंत प्रान निसि भवन तन, देषत दुति रिति मुष जरद।
ननु करहु गवन नन भवनतजि, कंत दुसह दारुन सरद।।

हेमंत की दीर्घ रातें, अंगों को सताने वाला शीत, ऐसे में पति को प्रवास के लिए अनुमति की बात सोची भी नहीं जा सकती –

न चलि कंत सुभ चित्त। धनी बहु वित्त प्रगासी।
गह गहि ऐसी प्रेम। सौज आनन्द उहासी।।
दीरघ निसि दिन तुच्छ । सीत संतावै अगा।
अधर दसन घरहरै। प्रात परजरै अनंगा।
जा ऐनि रैनि हर हर जपत। चक्क सद्द चक्की कियौ।
हिमवंत कंत सुग्रह ग्रहित कर हहत फुट्टै हियौ।।

अंत में आ जाती है शिशिर ऋतु। जो पाँच ऋतुओं के दस महीनों का कार्यक्रम था, वही शिशिर का होना था, क्योंकि वर्षभर के प्रणय निवेदन के साथ रुकने की मनुहार राजा की आकांक्षा के प्रतिकूल भी नहीं रहती –

आगम फाग अबंत कंत सुनि मित्त सेनही।
सीत अंत तप तुच्छ होइ आनंद सब ग्रेही।।
नर नारी दिन रैनि मैन मदमाते डुल्लै।
सकुच न हिय छिन एक वचन मनमाने बुल्लैं।।
सुनौ कंत सुभ चित्त करि। रयनि गवन किम कीजिइय।
कहि नारि पीयं बिनु कामिनी। रिति ससिहर किम जीजइय।।

NMDC-065

ऐसी दारुण शीतमय ऋतु में जब प्रियविहीन प्रिया का जीवन ही दुःसाध्य हो, तो राजा को रुकना ही होगा। बड़ी कुशलता से चंद ने राजा के प्रणय लोभी मन और उद्दीपक ऋतुवर्णन का मेल बिठा दिया और फिर यह चक्र दुबारा न आरम्भ हो इसका उपाय भी निकाल दिया। दूसरे वसंत के आने पर परामर्श करने के लिए राजा चंद की शरण जाता है –

षट रिति बारह मास गय फिरि आयौरु बसंत,
सो रति चंद बताउ मुहि तिया न भावै कंत।

और चंद 'ऋतु' शब्द के श्लेष के सहारे राजा की मुक्ति का रास्ता निकाल देता है। पृथ्वीराज का केलि-विलास समाप्त होता है और यह अंततोगत्वा अपनी पूर्व नियोजित यात्रा पर प्रयाण करता है। कनवज्ज समय का यह ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में है और पारम्परिक ढर्रे का ही है। वैसे नामवर सिंह इसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "ऊपर से देखने पर इसमें परिपाटी-विहित बातें पर्याप्त मिलेंगी और उद्दीपन के रूप में ही प्राकृतिक सुषमा का प्रयोग दिखेगा, किन्तु यह उस ह्रास-युग के दृष्टिकोण की सीमा है। 'रासो' के षट्ऋतु-वर्णन की विशेषता इस बात में है कि यह आरोपित न होकर मानवीय क्रिया-कलाप का अभिन्न अंग बनकर आया है और इस प्रकार कथा-प्रवाह को गति देता है। उसकी क्रियाशीलता में ही शोभा है।"[3]

इस ऋतु-वर्णन की अपेक्षा अन्तिम युद्ध के लिए पृथ्वीराज के प्रयाण के फलस्वरूप सम्भावित वियोग वर्णन का एक ही छंद अपनी सहजता से मन को छू जाता है। बाह्य प्रकृति के उपकरण वही हैं; वही पावस की रात, वही इन्द्रधनुष, वही चपला चमकती विद्युल्लता, मोरों और पपीहों का वही स्वर है – वही जमीन और आसमान है, पर प्रिय पति के बिना कुछ भी सुहाता नहीं –

वही रत्ति पावस्स। वही मघवान धनुष्षं।
वही चपल चमकंत। वही बगपंत निरष्षं।।
वही घटा घनघोर। वही पप्पीह मोर सुर।
वही जमी असमान। वही रवि ससि निसि बासर।।
वे ई आवास जुग्गिन पुरह। वेई सहचरि मंडलिय।
संजोगि पयंपति कंत बिन। मुहि न कछू लग्गत रलिय।।

विस्तृत ऋतु-वर्णन की अपेक्षा इस एक छंद की अतिरिक्त हृदयस्पर्शिता इसके परिस्थितिजन्य होने और अनुभूति की हार्दिकता के कारण है; जो अपनी अकृत्रिम सहजता में और मार्मिक हो उठी है।

'रासो' की कथा के अत्यन्त मार्मिक स्थलों में से एक है – गजनी की कैद में पश्चात्ताप से

NMDC-065

दग्ध हृदय पृथ्वीराज की मनोदशा का चित्रण। पृथ्वीराज को शत्रु के द्वारा बन्दीगृह में डाल दिया गया। यही नहीं, उसकी आँखे भी निकाल ली गयीं। उस नितान्त असहाय स्थिति में अपने विगत जीवन की सारी स्मृतियाँ और मानसिक द्वन्द्व उसकी मनोदृष्टि में साकार होते हैं। पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) पद्धति का कैसा उपयुक्त प्रयोग है –

पर्‌यो बंधनं गज्जनै मेछ हथ्थं विचारै करी अप्प करतूति पिथ्थं।
हन्यो दासि कै हेतु कैमास बानं गजं षून चामंड बेरी भरानं।
बंधे कन्ह काका चष पट्ट गाढ़े बिना दोस पुंडीर से भ्रत्त काढ़े।।

यह लम्बा स्वगत कथन है, जिसमें पृथ्वीराज जीवनभर की भूलों के लिए पश्चात्ताप करता है। वह अपनी उस कामान्धता पर पश्चात्ताप करता है, जिसके लिए उसको सामन्तों के मारे जाने का भी शोक नहीं हुआ था, चंद के मना करने पर भी कन्नौज पर चढ़ाई की थी और सारी सेना कटवा दी थी। आज वे ही सारे अनाचार और अत्याचार उसकी इस दुर्दशा के रूप में उसे दण्डित कर रहे हैं।

वर्तमान दुरवस्था के परिणाम की पीड़ा भोगते हुए इस एकाकी राजा की यह स्मृति अत्यन्त कारुणिक है। बंदीगृह की पीड़ा के दिनों में पिछले विलास और सुखपूर्ण जीवन का स्मरण अतिरिक्त रूप से मर्मस्पर्शी हो गया है –

स हौ फूल की फूलनी नाहिं नाथं। तुरत्तं तरायौ जु मालीन हाथं।।
नहीं सूर सामंत परिवार देसं। नहीं गज्ज बाजं भंडार दिलेसं।।

• • •

नहीं रूपकं राग रंगं उचारं। सुनों कन्न सावद्द वंगं पुकारं।।
नहीं चोम मौजं करूं लष्षदानं। नहीं भट्ट चदं विरद्दं बषानं।।

और इस निपट असहायता में राजा सिवाय ईश्वर के किसे पुकारे ?

निराधार आधार करतार तू ही
बन्यो संकटं आय मो लीव सोंही।
कली क्रद्दमंगाय वृन्दावनी को,
संभालो नहीं तो कहाओ धनी क्यों।

इस कारुणिक प्रसंगों के ये मार्मिक वर्णन, चंद-जैसे उद्धत और प्रचंड युद्ध-वर्णनों और सेना की तैयारी के आडम्बरपूर्ण दृश्यों की योजना करनेवाले कवि द्वारा ही रचित है, यह सचमुच चमत्कृत करने वाला है।

NMDC-065

पृथ्वीराज रासो वीर तथा उसके सहयोगी रसों के प्रभावपूर्ण वर्णन के लिए ख्यात है। ये चंदबरदाई की प्रकृत रुचि के प्रसंग हैं। अत: प्रचण्ड और उद्धत युद्ध-वर्णन की चर्चा के बिना भाव-व्यंजना को यह विवेचन अधूरा रहेगा। *साहित्यदर्पणकार* ने वीर के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर आदि चार भेद किये हैं और *रसगंगाधर* में भी इन भेदों को स्वीकार किया गया है। आचार्य शुक्ल ने वीर रस की प्रेरक भावभूमि की व्याख्या करते हुए कहा – "सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा या मृत्यु लोक तक की परवाह नहीं रहती, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं।" 'रासो' में वीरत्व का आदर्श है स्वामिधर्म के लिए हँसते-हँसते सर्वस्व निछावर कर देना। उस युग में एक श्रेष्ठ योद्धा के लिए क्षात्र-धर्म और जीवन-मरणं विषयक मान्यताओं के अद्‌भुत आदर्श प्रतिष्ठित थे। दया, दान, तप, तीर्थ आदि कुछ भी स्वामिधर्म की समता नहीं कर सकते। क्षात्र-धर्म तथा स्वामिधर्म की श्रेष्ठता की बेजाड़ उक्तियाँ 'रासो' में भरी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ कर्तार ने हाथ में तलवार दी है और यही राजपूत के लिए तत्त्व है –

करतार हत्थ तरवार दिय, इह सु तत्त रजपूत कर।

चिर धूमायित जीवन की अपेक्षा क्षण भर के लिए प्रज्ज्वलित और प्रदीप्त होकर जीना कहीं श्रेयस्कर है

मरना जीवन हक्क है जुग्ग रहेगी गल्हां।
सा पुरुसा का जीवणां, थोड़ाई है भल्लां।।

ऐसे विश्वासों में सांस लेने वाले वीर क्षणभर में विध्वंसित हो जाने वाली काया की चिन्ता से मुक्त होकर युद्ध में जूझ जाते हैं। उस युग के वीरत्व का आदर्श इन्हीं आस्थाओं में निहित है –

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगणा।
क्षणो विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणै।।

सुल्तान गोरी के आक्रमण का समाचार पाते ही पृथ्वीराज अपने समान्तों को बुलाकर मंत्रणा करता है और युद्ध का निर्णय करके तैयारी शुरू कर देता है –

कहत सब्ब सामंत मति, चढ़ि दल सजौ समंकि।
सुनिव मंत्र कैमास कहि, करहु निसांन टमंकि।।
भय दामक निसान पत्त निज ग्रह सूर सामंत।
बाजे गीज्ज अनेकं हयं मंगे राज चउहानं।।

NMDC-065

सुल्तान गोरी आलम्बन, उसके आक्रमण का समाचार उद्दीपन, सामंतों की गर्वसूचक बातें (चटि दल सजौं समंकि) आदि और मंत्री कैमास की सलाह 'करहु निसान टमंकि' आदि अनुभावों के साथ शत्रु से मोर्चा लेने के लिए धैर्य और आत्म-विश्वास आदि संचारियों से युक्त वर्णन में वीर रस का परिपाक हो रहा है। युद्ध के जुझाऊ नगाड़ों पर चोट पड़ने, अन्य बाजों के बज उठने चौहान राजा द्वारा घोड़े माँगने आदि के उल्लेख से उत्साह का वातावरण भी उत्पन्न हो रहा है।

गोरी भले ही चरित नायक का शत्रु है, परन्तु उसकी सेना की तैयारी और युद्धोत्साह के वर्णन में भी चंद ने कोई कृपणता नहीं की है –

सुनि चरित्त साहाब वर दिय निरघाष निसान।
चढ्यौ सैन सज्जे सिलह करिब फौज सुरतान।।

चढ़यौ सरतान सुसज्जिय फौज। बजै बरबज्जन बीर असोज।।
भयौ गज घुम्मर घंट विघौर। मनौ झुमि क्रंन्न भयो सुर रोर।।

गजै गज मद्द मनौ घन भद्द। चिकार फिकार भये सुर रुद्द।।
तुरंग महीस कडक्क लगाम। परिक्कय पष्षर तोन सुतांन।।

यहाँ इस वीर रस का आलम्बन पृथ्वीराज है, जिसकी युद्ध की तैयारी आदि का समाचार उद्दीपन है। सुल्तान द्वारा नगाड़े बजवाना तथा जिरह-बख़्तर आदि से सुसज्जित सेना लेकर चढ़ाई के लिए चल पड़ना अनुभाव, गोरी का साहस गर्व आदि संचारी के रूप में रस के सभी अंग स्पष्ट हैं। सेना के जोश, गज घंटों के स्वर और पक्खरों की खड़खड़ाहट आदि से पूरा वातावरण ही सजीव हो उठा है। शत्रु की शक्ति और तैयारी को जानते हुए भी सुल्तान का युद्ध के लिए आगे बढ़ना उसके अद्म्य उत्साह का द्योतक है।

वीर के साथ अन्य कठोर रसों के प्रसंगों में भी चंद की कुशलता के प्रमाण प्रासंगिक है। युद्ध-स्थलों के वर्णन में वीर, रौद्र और वीभत्स – तीनों रसों का सुन्दर और समन्वित प्रतिफलन मिलता है

सजिय सकल सन्नाह, दाह जनु दंगल पट्टिय।
सुमरि साह इक देव, दुवन दल देषि दपट्टिय।।

छुट्टिय पट्टिय नयन, भइ दुदुभी गयन्ना।
तेग वेग झमझमिय, मच्च आरीठ भयन्ना।।

NMDC-065

बजि डौंरुअ डक्क निसान घुरं बीर जगावत बीर उरं।
दुअ सेन बलं असियो बरषी नचि जुग्गनि षप्पर लै हरषी।

यहाँ सनाह आदि से सुसज्जित होने का उत्साहपूर्ण दृश्य वीर रसात्मक है, तेग झमझमाना रौद्र रस का तथा पंजर कटना और योगिनियों का खप्पर लेकर नाचना वीभत्स का द्योतक है। इन तीनों के समन्वित वर्णन में कहीं कोई असंगति या अनुपयुक्तता का न होना, इसे सचमुच प्रभावशाली बनाता है।

भयानक रस के प्रसंग भी 'रासो' में प्रभूत रूप से पाए जाते हैं। मनुष्यों को ढूँढ-ढूँढकर खाने के कारण उस विकट दानव का नाम ढूँढा पड़ा था। उसने अजमेर नगर को उजाड़ डाला

ढूंढि ढूंढि खाए नरनि ताते ढूंढा नाम।
देव पुरी अजमेर पुर, रम्य करी बेराम।।

उस दानव के भय से नगर की ऐसी दशा हो गयी कि उसमें किसी जीव का प्रवेश करने का साहस नहीं रहा, दिशाएँ शून्य हो गयीं और उसकी हिंस्र वृत्ति के कारण सिंह जैसे पशु तक भाग खड़े हुए, अन्य पशुओं की तो बात ही क्या ?

सो दानव अजमेर वन, रह्यों दीह घन अंत।
सुन्न दिसानन जीव कौ, थिर थावर जग मंत।
तंह सिंह न म्रग्ग न पंषि वनं, दिसि सून भई डर जीव घनं।।

मुँह से विष की ज्वाला निकालते हुए उस विकराल दानव ने मनुष्यों को खाना शुरू कर दिया —

जिन रथी मद्धि उठे असुर धषै ज्वाल तिन मुष विषय।
नर भषै जहां लसकर सहर मिले मनिष ते ते भबय।।

यहाँ आलम्बन रूप दानव के प्रचण्ड रूप और असहाय मनुष्यों को ढूँढ-ढूँढकर खाने का दृश्य उद्दीपन विभाव की शास्त्रोक्त शर्त के रूप में है, सो है ही, सारे वर्णन की भयावहता से उत्पन्न आतंक अत्यन्त प्रभावशाली है।

छन्द

छंदों के प्रयोग-कौशल की दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* अतुलनीय है। 12वीं-13वीं शती में अपभ्रंश साहित्य में छंद-परिवर्तन की प्रथा खूब प्रचलित थी। मध्यकाल में केशवदास तक आते-आते यह अपने आप में साध्य बन गयी। केशवदास ने *रामचन्द्रिका* का बहु छन्दों में वर्णन करने का

NMDC-065

निर्णय करके काव्य-रचना आरम्भ की। छंद वस्तुत: भाषा में विविध प्रकार की लय उत्पन्न करने के साधन होते हैं, जो प्रसंग-भेद से पाठक के चित्त में तदनुकूल उद्वेलन उत्पन्न कर रसानुभूति में सहायक होते हैं। केशव में छंद-परिवर्तन के निरर्थक और निर्जीव रूप की विकृति दिखाई देती है। जबकि, चन्द में इसका सजीव और सार्थक रूप दृष्टिगोचर होता है। गंगा-वर्णन का यह छंद गंगा की महिमा-वर्णन के साथ धारा के तरल प्रवाह की तालबद्धता के संगीत को भी मूर्तिमान कर देता है –

हरि हरि गंगे तरल तरंगे अघ क्रित भंगे व्रित चंगे।
हरि सिर परसंगे जटनि विलंगे विहरति दंगे जल जंगे।।
मुन गंधब छंदे जै जै बंदे क्रित अघ कंदे मुष चंदे।
मति उच गति मंदे दरसत नंदे पढ़ि वर छंदे गत दंदे।।

वियोग-वर्णन में भाव-तन्मयता के लिए शिथिल प्रवाह के निमित्त कवित्त का उपयुक्त प्रयोग हुआ है। चंद के छंद-प्रयोग-कौशल के ऐतिहासिक महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए नामवर सिंह ने स्वीकार किया है – "रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छंद-परम्परा के पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के नूतन छंद-संगीत के सूत्रपात की संधि-बेला है। इस तमाम छंद-संघटन में भी 'रासो' का अपना हिन्दी काव्योक्ति संगीत सर्वोपरि है।"[4] शिवसिंह सेंगर ने बहुत पहले ही अपने इतिहास ग्रंथ *शिवसिंह सरोज* में चंद को छप्पयों का राजा कहकर चंद के छंद-प्रयोग कौशल का महत्त्व घोषित कर दिया था।

छंद-प्रयोग को आधार बनाकर 'रासो' की प्रामाणिकता/अप्रामाणिकता के निर्णय का भी प्रयास किया गया है। श्यामलदास ने 'रासो' में छप्पय और दूहा के अलावा और किसी छंद का अस्तित्व ही नहीं माना। पर द्विवेदीजी ने इस पर आपत्ति करते हुए ध्यान दिलाया, "वैसे तो हर तलवार की झंकार में चंदबरदाई त्रोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं। यह अत्यन्त संकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दबरदाई के नाम से मिलने वाले छंदों में जिनकी प्रामाणिकता लगभग संदिग्ध है, वे छप्पय ही हैं। मुनि जिनविजय ने *पुरातन प्रबंध संग्रह* में चंद के नाम पर मिलने वाले चार छप्पयों का उल्लेख किया है, उनमें से तीन स्वयं ही वर्तमान 'रासो' में ढूँढ निकाले हैं।"[5] अनेक सुप्रसिद्ध और प्रचलित छन्दों के साथ मंगल काव्य भी 'रासो' में आया है, जो छन्द-प्रयोग में चंद की प्रयोगधर्मिता और तत्सम्बन्धी कुशलता का प्रमाण है।

भाषा

NMDC-065

पृथ्वीराज रासो की अभूतपूर्व लोकप्रियता के बावजूद इसके अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा इसकी

भाषा है। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने 1952 ई. में इसकी भाषा को 'दुर्भेद्य दीवाल' कहा था, जिसके कारण इसके वास्तविक अर्थ तक पहुँचना बाधित होता है। यह बाधा आज भी समाप्त नहीं हुई है। इसकी प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद का आरम्भ भी भाषा विषयक विचार-विमर्श से ही हुआ। कर्नल टॉड ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को 'रासो' के प्रकाशन के लिए प्रेरित किया था और स्वयं इसका अनुवाद आरम्भ किया था। सोसाइटी के जर्नल में 'पोएम्स ऑफ चंदबरदाई'[6] लेख द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन करने पर उन्हें इसकी परीक्षा कर सोसाइटी की रिपोर्ट देने का दायित्व सौंपे जाने की चर्चा पीछे की जा चुकी है। 1869 ई. में बीम्स ने *पद्मावती समय* का अनुवाद किया।[7] ग्राउज ने 'ट्रांसलेशन फ्रॉम चंद' शीर्षक लेख लिखकर इस अनुवाद पर आपत्ति की। उन्हें लगा कि बीम्स द्वारा किया गया अनुवाद ठीक नहीं हैं। इस आपत्ति का आधार भाषागत असंगतियाँ थी जिनके निर्धारण का आधार ग्राउज के अपने पास का मूलपाठ था। बीम्स ने अपनी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए ग्राउज का खण्डन किया। 1873 ई. में बीम्स ने 'ए स्टडीज ऑफ़ ग्रामर इन चंदबरदाई' प्रकाशित किया। यह सारा विचार-विमर्श भाषा-विज्ञान की दृष्टि से होने वाले अध्ययन का सूत्रपात था। इस क्रम में डॉ. ग्रियर्सन, डॉ. बूलर, रूसी विद्वान रॉबर्ट लेंज ने भी अपनी-अपनी तरह से योगदान किया। बीम्स ने 'रासो' की भाषा सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन[8] की चर्चा करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा – "ग्राउज की दी हुई व्याकरण की रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक व्याकरण के ढाँचे का प्रश्न है, 'रासो' की भाषा प्रधानतया सोलहवीं शताब्दी में साहित्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा है, न डिंगल अथवा प्राचीन मारवाड़ी है और न अपभ्रंश, किन्तु शब्द-समूह में अपभ्रंशाभास और डिंगल रूपों का प्रयोग 'रासो' में बहुत हुआ है। यह एक शैली मात्र थी, जिसका प्रयोग वीररस सम्बन्धी स्थलों पर अनेक समकालीन कवियों ने किया है, जैसे केशव, तुलसी, भूषण आदि। अन्तर इतना ही है कि युद्ध प्रधान ग्रन्थ होने के कारण ही रासो की भाषा के डिंगल अथव अपभ्रंश होने का संदेह पाठकों को होने लगता है।"[9]

"रासो' की भाषा के महत्व के एक आयाम की ओर ग्रियर्सन ने बहुत पहले 1888 ई. में ही संकेत किया था, "चाहे कुछ हो, परन्तु यह काव्य भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अभी तक प्राप्त सामग्री को देखते हुए योरोपीय अन्वेषकों के सामने अर्वाचीन प्राकृतों और प्राचीनतम गौड़ीय रचनाओं के बीच की कड़ी के रूप में केवल यही मात्र है। चंद का वास्तविक पाठ न होने पर भी, हमें इसकी रचना में गौड़ीय साहित्य के अति प्राचीन अभिन्न निदर्शन प्राप्त होते हैं, जो शुद्ध अपभ्रंश और शौरसेनी प्राकृतों से भरे पड़े हैं।"[10] ग्रियर्सन की इस मान्यता में निहित सम्भावना को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह का निष्कर्ष था, "ग्रियर्सन के अनुसार *पृथ्वीराज रासो* की भाषा का अध्ययन केवल उस रचना को समझने के

NMDC-065

लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उसका महत्त्व भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भी है।''[11] इस 'महत्त्व' के उद्‌घाटन के लिए नामवर सिंह ने *पृथ्वीराज रासो* की भाषा पर व्यवस्थित और सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया जो अब भी इस दृष्टि से किया गया एकमात्र कार्य है।

डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा ने 'रासो' को परम्परानुसार प्राचीन राजस्थानी रचना कहा[12] लेकिन उन्होंने उस परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया, जिसमें 'रासो' को राजस्थानी रचना माना गया हो। 'रासो' की भाषा के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के बाद नामवर सिंह का निष्कर्ष है, "अपभ्रंश के बाद पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुई – दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल ..... *पृथ्वीराज रासो* पूर्वी राजस्थान में मूलत: चंद बलिद्द द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया है और अनेक प्रक्षेपों के साथ, अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी यह पिंगल की ही रचना है। निस्सन्देह प्रक्षेपों के साथ भाषा के परवर्ती रूपों का समावेश भी होता गया है, किन्तु आद्योपान्त बृहद् रूपान्तर (जिसे प्राय: सबसे परवर्ती कहा जाता है) की भी भाषा का आधार एक ही ब्रज भाषा अर्थात् पिंगल है।[13] 'रासो' की भाषा के जो अनेक प्रकार के नामकरण किए गए, उन सबको अस्वीकार करते हुए नामवर सिंह का निर्णायक मत है, "*पृथ्वीराज रासो* का वर्तमान रूप व्यक्तिविशेष की कृति न होकर पीढ़ियों का संकलन है, इसलिए उसमें भाषा के स्तर-भेद स्वभावत: आ गए हैं, जो वस्तुत: शैली-भेद के द्योतक है, भाषाभेद के नहीं।''[14]

इसी संदर्भ में 'रासो' में आई 'षट्‌भाषा पुरान च कुरानं पुरानं कथितं मया' वाली उक्ति को केवल उस युग में बहुभाषाविद् के अर्थ में प्रयुक्त रूढ़ कथन मानना चाहिए न कि 'रासो' में षड्‌भाषा के नाम पर अरबी-फारसी के तत्त्व ढूंढने का प्रयास करना। बीम्स ने एक ही शब्द के विविध रूपों के प्रयोग की व्याख्या करते हुए इन्हें छंदानुरोध तथा भाषा की संक्रमणशीलता का परिणाम कहा था। नामवर सिंह ने उदाहरणों से प्रमाणित किया है, "निस्सन्देह ऐतिहासिक दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* ऐसे युग की भाषा की प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें तद्‌भव शब्दों का रूप स्थिर नहीं हो सका था, फलत: एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित थे।''[15]

पृथ्वीराज रासो में चित्रित तद्‌युगीन जीवन

सामान्यत: साहित्य कहीं प्रत्यक्ष या अधिकतम परोक्ष रूप से तद्‌युगीन जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। इस संदर्भ में *पृथ्वीराज रासो* पर विचार करते समय उस पूरी पृष्ठभूमि और विवेचन का भी ध्यान रखना होगा, जो अब तक उसकी प्रामाणिकता और संभावनाशीलता के प्रसंग में हुआ है। यह सत्य है कि अन्ततोगत्वा ऐतिहासिक प्रामाणिकता से निरपेक्ष होकर साहित्यिक दृष्टि

NMDC-065

से ही इस ग्रंथ का मूल्यांकन उचित और सार्थक माना गया। लेकिन साहित्य कवि या लेखक के मनोजगत की सृष्टि होती है और वह मनोजगत चतुर्दिक फैले बाह्य जगत के अनुभवों से निर्मित होता है। व्यक्ति जिस समाज के बीच रहता है, वही उसके राग-द्वेष और हर्ष-विषाद का स्रष्टा होता है, उससे प्राप्त अनुभवों के ताने-बाने से ही उस मन की रचना होती है, जो कवि या लेखक की कृति का उत्स है। *पृथ्वीराज रासो* इतिहास प्रसिद्ध पुरुष को केन्द्र में रखकर लिखा गया काव्य है ज़रूर, पर वहाँ इतिहास गौण है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, 'वह केवल कवि की कल्पना-वृत्ति को उकसाने और मनोहरतर जगत के निर्माण के लिए सहायक है।'' अत: इस कल्पना की उड़ान और सम्भावनाओं की दिशा निर्धारित करने वाले तथ्यों तथा तत्कालीन समाज की वास्तविकता की झलक प्राप्त करने का प्रयास अपेक्षित है।

उस युग के जातिबद्ध समाज में युद्ध भी जाति विशेष अर्थात् राजपूतों का दायित्व था। वे राजा थे, अत: अपने राज्य की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता था। पश्चिम की ओर से होने वाले दुर्दान्त विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए तत्पर रहना होता था। पर हमेशा इन आक्रमणकारियों से रक्षा ही युद्ध का कारण न होता था। बहुधा युद्ध अपने शौर्य, पौरुष और पराक्रम को प्रमाणित करने का साधन बन जाता था। पारम्परिक महिमा गान के बावजूद स्त्री उस युग में विलास का उपकरण या पराक्रमपूर्वक 'जीती हुई' वस्तु मात्र थी, जो विजयी राजा के दर्प की पोषक होती थी। युद्धों और विवाहों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध उस युग के लिए ऐसा सहज स्वीकार्य प्रसंग था कि मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध के मूल में भी इसी तरह के कारण की कल्पना कर ली गयी है; कहा गया कि गोरी अपने दरबार की सुन्दरी चित्ररेखा पर आसक्त हो गया और उसे ज़बरदस्ती अपने हरम में डालना चाहा। चित्ररेखा और उसके प्रेमी उमराव गोरी के अत्याचार से आत्मरक्षा के लिए पृथ्वीराज की शरण में आ गए। इस स्थिति में शरणागत की रक्षा के लिए पृथ्वीराज को गोरी से युद्ध करना पड़ा। तात्पर्य यह है कि उस युग में या तो किसी की रूपवती कन्या को प्राप्त करने के लिए युद्ध किए जाते थे या युद्ध में हार जाने के बाद विजित राजा जैसे विजयी राजा को अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार भेंटस्वरूप प्रदान करता था, उसी क्रम में उसको अपनी कन्या भी भेंट में दे देता था। पराजित राजा की कन्या से विवाह कर लेना विजय की पूर्णाहुति होती थी। विवाह मात्र अहंकार की तुष्टि का साधन बन जाए, यह मध्यकालीन सामन्ती मानसिकता की क्षयशीलता का एक प्रमुख लक्षण है।

इसी से एक ओर वीरता के ऐसे खोखले आडम्बरपूर्ण आदर्श बने, जिसमें किसी को अपने सामने मूँछों पर हाथ रखते देखना इतना नागवार लग जाए कि उसका सिर काट लिया जाए, दूसरी ओर, राजा के सुन्दरीहरण को सफल बनाने के लिए सारे सामन्त प्राणोत्सर्ग कर दें। कहना न होगा कि वीरत्व की ऐसी धारणाएँ मूलत: कैसी आत्मघाती होती हैं, यह आगे अपने वीर

NMDC-065

सामन्तों के मारे जाने से कमजोर राजा के गोरी के हाथों पराजित होने, बंदी होने और अन्ततः अंधे होकर मारे जाने के अपमान तथा विनाश से सिद्ध है।

इन युद्धों के लिए बाकोयदा युद्धोन्माद उत्पन्न करते रहने के निमित्त चारणों का वर्ग ही बन जाए, इससे भी युद्धों के प्रयोजन पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। जब कोई बड़ा लक्ष्य सामने न हो, केवल राजा की निजी अनियंत्रित आकांक्षाओं के आवेग की पूर्ति के लिए सारी व्यवस्था समर्पित हो, तो उसकी कैसी कारुणिक परिणति होती है। 'रासो' में इसका बहुत सटीक चित्र मिलता है। पृथ्वीराज अपनी रानियों के साथ केलि-विलास में ऐसा डूबा हुआ है कि उसे राज्य संचालन के अपने दायित्व का कोई ध्यान ही नहीं है। यहाँ तक कि उपयुक्त अवसर देखकर शहाबुद्दीन गोरी चढ़ाई कर देता है। राजा के इस निहायत उत्तरदायित्वहीन आचरण से असहाय और अरक्षित प्रजा की विवशता का बहुत संकेतपूर्ण वर्णन है –

'मिलिय सकल एकान्त महाजन। किमि बुज्झै रतिवन्तौ राजन।'

मृगया-विहार और केलिविलास के ये चित्र मध्य-युग के ह्रासशील सामन्ती-जीवन की ट्रेजेडी की कथाएँ हैं।

जब राजा युद्ध की योजना बनाने के बाद पूरा एक वर्ष अपनी रानियों से अनुमति लेने में बिता देता हो (चाहे उसके मूल में कवि द्वारा ऋतु-वर्णन के लिए बहाना ढूँढना ही क्यों न हो) वहाँ युद्ध भी उपहास का विषय हो जाता है। अरक्षित प्रजा ऐसे विलासी और युद्धप्रिय राजाओं की अहंकार-तुष्टि का साधन बनकर रह जाती है। यह उस ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज का चित्र है, जिसके लिए आचार्य द्विवेदी का कहना है, "आश्रयदाता राजाओं के गुण-कीर्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधरित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नए रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता।"[16] इसी से ह्रासोन्मुखी सामन्ती शक्तियों के अन्तर्विरोध का चित्रण करने वाले इस महाकाव्य की वीर भावना में नामवर सिंह को न "महाभारत का उदात्त शौर्य और पराक्रम दिखा, न इसकी शृंगार भावना में कालिदास की सी मुग्ध तन्मय भावाकुलता।"[17]

कवि ने अपनी 'कल्पना वृत्ति की उकसाने' और 'मनोहरतर जगत के निर्माण के लिए' इतिहास को माध्यम बनाया है। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि कवि की 'कल्पना वृत्ति', उसका 'मनोहरतर जगत' उसकी आकांक्षा क्या है? उसके सरोकार क्या है ? उसका तादात्म्य किसके साथ हुआ है ? वह अपने युग के जिस समाज के सुख-दुःख से विगलित या विचलित हुआ, वह कौन-सा वर्ग है? कवि के रागात्मक सम्बन्धों की व्याप्ति का वृत्त कितना बड़ा है ? इन प्रश्नों

NMDC-065

का उत्तर थोड़ा निराश करता है। तद्युगीन साधारण समाज रासोकार के लिए हाशिए पर है। सामन्ती समाज का आडम्बरपूर्ण जीवन, व्यक्तिगत निष्ठाओं के लिए मर मिटने का संकल्प, हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग का निर्भय साहस, स्वाभिमान और दर्प भरे वीरत्व का अनोखा आदर्श, जिसमें बड़ी से बड़ी कुरबानी करके भी शरणागत-रक्षा, निष्ठा और स्वतंत्रता जैसे जीवन के परम मूल्य निहित थे, उनको 'रासो' में अवश्य साकार किया गया है।

'रासो' द्वारा स्थापित ये जीवन-मूल्य ही उसकी अद्भुत लोकप्रियता के आधार हैं। लगातार होने वाले विदेशी आक्रमणों और अपने आस-पास के राजाओं के साथ आये दिन होने वाले युद्धों में हार-जीत की अपेक्षा योद्धा का व्यक्तिगत शौर्य, साहस और निर्भीकतापूर्ण आत्म बलिदान, जन-मानस की वीर-पूजा की भावना को विशेष रूप से प्रभावित करता था। जन-मन के आराध्य गुणों का अधिष्ठान होना ही *पृथ्वीराज रासो* की ऐसी व्यापक लोकप्रियता का कारण है जो अकबर और कर्नल टॉड जैसे लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकी थी। उस ह्रासशील सामन्ती जीवन में कोई उज्जवल पक्ष बचा था तो व्यक्तियों के स्तर पर निष्ठापूर्ण समर्पण, आत्मबलिदान और शरणागत की रक्षा जैसे वीरत्व के महनीय आदर्शों को किसी नायक में साकार होते देख पाने की आकांक्षा। कहना न होगा कि इन गुणों की जीवन्त और आवेगमयी अभिव्यक्ति पाठक और श्रोता को अभिभूत कर लेती है। इस दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* अतुलनीय है।

उपसंहार

साहित्य का विकास-क्रम वस्तुत: कार्य-कारण-शृंखला का परिणाम होता है। वर्तमान का स्वरूप विगत की सम्भावनाओं से निर्दिष्ट होता है, दूसरी ओर, वही वर्तमान अपने भीतर अनागत के विकास के बीज छिपाए होता है, जिसे केवल किसी क्रान्तिदर्शी सर्जक की प्रतीक्षा रहती है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य, विशेषकर *पृथ्वीराज रासो* के वैशिष्ट्य के सारे विधायक तत्त्व उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में निहित थे। किसी केन्द्रीय शक्ति के नेतृत्व के अभाव में छोटे-छोटे राज्यों के रूप में, न केवल देश की शक्ति विभाजित और क्षीण हो जाती है, बल्कि, लोगों की निष्ठाएँ और जीवन-दृष्टि भी एक छोटे से परिवेश में संकुचित होकर रह जाती हैं। किसी के पास कोई व्यापक राष्ट्रीय-चेतना, कोई महत धारणा, कोई उदार दृष्टि होने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। छोटे-छोटे राज्यों के शासकों के छोटे-छोटे राग-द्वेष के प्रसंग ही उनके लिए अपने प्राणोत्सर्ग या किसी के प्राण लेने का कारण बन जाते हैं।

इन छोटे-छोटे राज्यों के चारणों को अपने आश्रयदाताओं को अपौरुषेय पराक्रम और अद्भुत शौर्य सम्पन्न इन्द्र तथा विष्णु जैसा वर्णित करने के लिए अतिरंजित प्रशंसा करनी पड़ती थी। उनके नायकों के नाम चाहे ऐतिहासिक रहे हों, पर उनके जीवन की वर्णित घटनाओ, उनके

NMDC-065

द्वारा जीते गए युद्धों, उनके विवाहों, मृगया, वन-विहार, केलि-विलास, उनके नगरों का वैभव और ऐश्वर्य, उनकी सेनाओं की साज-सज्जा, सब कुछ निजंधरी काव्यों जैसा काल्पनिक, रमणीय और चमत्कृत करने वाला होता था।

ईरान आदि पश्चिमी देशों से इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को केन्द्र में रखकर काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति को भारतीय कवियों ने अपनाया, उसमें अपनी पद्धति से काल्पनिकता और पौराणिकता का मेल करके ऐसी काव्य-रचनाओं का सूत्रपात किया, जिसमें न इतिहास की तथ्यात्मकता थी, न जीवन की वास्तविकता से उत्पन्न होने वाला विशिष्ट रस।

तो भी, इन वीरगाथात्मक काव्यों, उसमें भी *पृथ्वीराज रासो* की लोकप्रियता अतुलनीय थी। सोलहवीं शताब्दी में अकबर रासो की इस लोकप्रियता से ही आकृष्ट और प्रभावित हुआ था तथा अबुल फजल ने इसे ऐतिहासिक सूचनाओं का स्रोत-ग्रंथ स्वीकार किया था। 'रासो' के महत्त्व के ये प्रमाण साधारण नहीं कहे जा सकते। राजस्थान के राज-परिवारों में इस ग्रंथ के प्रति अतिशय सम्मान का जो भाव दिखाई पड़ा, उससे प्रभावित होकर कर्नल टॉड न केवल इसके प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हुए, अपितु इस अनुपम ग्रन्थ को अंग्रेजी भाषा-भाषी पाठकों को सुलभ कराने के लिए इसका काव्यानुवाद करना भी शुरू कर दिया। उनकी असमय मृत्यु के कारण *पृथ्वीराज रासो* के अंग्रेजी अनुवाद का ऐतिहासिक कार्य होते-होते रह गया। भाषा की कठिनाई के बावजूद पश्चिमी विद्वानों ने इसके अनुवाद की दिशा में आकृष्ट होने के साथ इसकी भाषा और व्याकरण के विवेचन की भी शुरुआत की। 'पोएम्स ऑफ़ चंदबरदाई' शीर्षक निबन्ध में ग्राउज़ ने भी 'रासो' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन की आवश्यकता पर जोर दिया था।

परन्तु इन तथ्यान्वेषी विद्वानों के लिए *पृथ्वीराज विजय* के इतिहासपोषित तथ्यों की तुलना में 'रासो' की इतिहास-विरुद्ध सूचनाओं को स्वीकार करना कठिन हो गया। इसलिए उन्होंने इसके प्रकाशन की पूरी योजना ही रोक दी। *पृथ्वीराज रासो* के महत्त्व से प्रभावित विद्वत वर्ग के लिए यह निर्णय चुपचाप स्वीकार कर लेना सम्भव नहीं था। अत: वर्षों 'रासो' की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद के समर्थन और विरोध में बड़े-बड़े इतिहासज्ञ तथा साहित्य के मूर्धन्य विद्वान लगे रहे। सारे विवाद का विश्लेषण करने के उपरान्त आचार्य शुक्ल ने इसके इतिहास विरोधी तथ्यों और 'बेठिकाने की भाषा' से क्षुब्ध होकर इसे संदिग्ध ग्रंथों की कोटि में रख दिया। लेकिन उस युग की - 'शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति' को निर्दिष्ट करने में सहायक ग्रन्थ के रूप में उन्होंने इसका महत्त्व ज़रूर स्वीकार किया। अपने इतिहास में इस युग को वीरगाथा काल नाम देने में शुक्ल जी द्वारा इस ग्रंथ के योगदान की स्वीकृति स्पष्ट है। पर जिस

NMDC-065

ग्रंथ के लिए आचार्य शुक्ल 'किसी काम का न होना' जैसा निर्णय दे दें, उसे 'कुछ काम लायक है या नहीं' यह जानने के लिए प्रयत्नशील होने का साहस भी आसान नहीं था।

एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ़ राजस्थान के नाम से राजस्थान के इतिहास का प्रकाशन 1829 तथा 1832 ई. में हुआ था, जिसके लेखन क्रम में टॉड ने 'रासो' का उपयोग किया था। जाहिर है कि तभी इसके प्रकाशन की बात उनके मन में आयी होगी। यद्यपि टॉड को ऐसे काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं में इतिहास (तथ्याधारित) और काव्य (भावाधारित) दोनों के अन्तर का ध्यान था तथा 'कवि के पक्षपात और विद्रोह दोनों के इतिहास के लिए घातक' होने का भी खयाल था। तो भी, 'इस प्रकार के काव्यों में सहज ही ऐसे दोषों के आ जाने' की छूट देते हुए, इस कोटि की पुस्तकों से 'इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्राप्त की जा सकती है', इस दृष्टि से वे इसके अनुवाद और प्रकाशन दोनों दिशाओं में सचेष्ट हुए थे।

इस प्रयास के लगभग 120 वर्ष बाद 1951-52 ई. में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्' के तत्त्वावधान में *हिन्दी* साहित्य का आदिकाल विषयक चार भाषणों द्वारा *पृथ्वीराज रासो* के अध्ययन के लिए एक नई दृष्टि, विचार के नए धरातल और समीक्षा के नए आधार ढूँढने का बीड़ा उठाया। उन्होंने ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता के विवाद से अलग होकर 'साहित्य, भाषा तथा सामाजिक गति' की दृष्टि से 'किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिलने की सम्भावना' से इस ग्रंथ के अध्ययन पर जोर दिया। उनकी दृष्टि में यह इसलिए भी वांछनीय था कि, "इसमें उस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य चिनगारी की सम्भावना थी, जो उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने में सहायक होती।"

आचार्य द्विवेदी ने मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा 'रासो' के सम्पादन के दुरूह कार्य को आगे बढ़ाने का काम भी शुरू किया। 69 समयों वाले विशाल ग्रंथ में से उसके मूल अंश का संधान करने से पहले उसके लिए मान्य आधार और दिशा निर्धारित करना ज़रूरी था। इस विकट कार्य के लिए उन्होंने यथासम्भव विवेक और श्रमपूर्वक निर्णायक कसौटियाँ तय कीं और उनके आधार पर *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का सम्पादन किया। इसे स्वीकार करते हुए भी, कि 'रासो' के मूल रूप को निर्भान्त और त्रुटिहीन रूप से निर्दिष्ट कर पाना लगभग असाध्य है, विद्वानों ने 'रासो' के इस संक्षिप्त संस्करण को मान्यता दी। माताप्रसाद गुप्त जो समय-समय पर 'रासो' के पाठ आदि के सम्बन्ध में गहरी छान-बीन करते रहे हैं, उन्होंने भी कुछ आपत्तियों के बावजूद इसे महत्त्वपूर्ण प्रयास माना।

भाषा की बाधा के नाते रासो के साहित्यिक मूल्यांकन का कार्य चुनौती भरा था। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने प्रामाणिकता विषयक विवाद के बजाय *चंदबरदाई और उनका काव्य* में पहली बार

NMDC-065

'रासो' के रचयिता और उसकी कलाकृति के वैशिष्ट्य का उद्‌घाटन किया। डॉ. त्रिवेदी ने चंद के जीवन सम्बन्धी सूचनाओं के लिए 'रासो' के अन्त:साक्ष्य का ही सहारा लिया। चंद न केवल आदिकाल के, बल्कि, हिन्दी साहित्य के 'नवरत्नों' में प्रतिष्ठित कवि हैं। उन्हें ऐसी कृति के प्रणयन का श्रेय है, जो एक पूरे युग की प्रमुख धारा का प्रतिनिधित्व करती है। चंद अपने युग के प्रसिद्ध कवि होने के साथ वीर योद्धा, प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न, कुशल दूतत्व करनेवाले चतुर सहायक तथा संकट-काल में प्राण देकर सहायता करनेवाले मित्र थे। लोकचित्त में वे पृथ्वीराज के बन्धु, सहायक और साथ-साथ प्राणों की बलि देकर मित्रता निभानेवाले सखा थे। डॉ. त्रिवेदी ने 'रासो' की भाव-व्यंजना, वस्तु-वर्णन, रस, अलंकार और छन्द आदि के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से विचार कर इस ग्रंथ के काव्य-सौष्ठव के विश्लेषण द्वारा इसके साहित्यिक महत्त्व को उद्‌घाटित किया। साथ ही, बीम्स के बाद इन्होंने ही 'रासो' की भाषा पर भी विचार किया, यद्यपि इसमें कोई नई स्थापना नहीं की। 'रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तथ्यों के संकलन, उनकी ग्राह्यता/अग्राह्यता पर विचार-विमर्श की दिशा में सक्रिय बने रहने की दृष्टि से माताप्रसाद गुप्त और राजमल बोरा के प्रयास भी उल्लेखनीय हैं।

संक्षिप्त 'रासो' के सहसम्पादन के दायित्व निर्वाह के साथ नामवर सिंह ने 'रासो ' के अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। 'रासो' की भाषा और व्याकरण के अध्ययन का सूत्रपात 1869-76 ई. के लगभग बीम्स और ग्राउज के बीच अनुवाद के औचित्य के सन्दर्भ में उठे विवाद से हुआ था। ई. 1878 में जब बीम्स ने 'रासो' का प्रथम व्याकरण प्रस्तुत किया था, उस समय तक 'रासो' का कोई सुसम्पादित मुद्रित संस्करण उपलब्ध नहीं था। बीम्स ने टॉड की प्रतिलिपि, बेदला और आगरे की दो अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादन शुरू किया था और उस समय तक 'प्रथम समय' का सम्पादन हो चुका था। स्वाभाविक था कि बीम्स ने इस प्रथम समय के आधार पर ही व्याकरण की अधिकांश सामग्री ग्रहण की। बीम्स के बाद होर्नले ने भी 'रासो' की भाषा पर विचार किया पर वह *गौडियन ग्रामर* में हिन्दी कारकों की व्युत्पत्ति के विचार के सन्दर्भ मे स्थान-स्थान पर चंद से दिए गये उदाहरणों तक ही सीमित है। नामवर सिंह ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ग्रियर्सन का संकेत उनके ध्यान में था, अत: 'रासो' की भाषा के सांगोपांग अध्ययन द्वारा उन्होंने 'भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास' में 'रासो' की भाषा के महत्त्व का उद्‌घाटन किया।

चारणों और भाटों द्वारा वीरगाथात्मक काव्यों के सामान्यतया अतिशयोक्तिपूर्ण. आडम्बरप्रधान तथा चामत्कारिक वर्णनों से युक्त होने की धारणा बलवती होती है। 'रासो' का सहृदयतापूर्ण अध्ययन इस मत को संशोधित करने के लिए विवश करता है। कथा के मार्मिक स्थलों को

NMDC-065

पहचानने में 'रासो' के रचयिता की सहृदयता और उसकी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति दोनों पाठक को प्रभावित करती है। उस युग में परम्पराओं का निषेध सम्भव नहीं था। अत: चंद को भी उनका निर्वाह करना था। वय:सन्धि, सौन्दर्य-वर्णन और भावानुकूल प्रेम-प्रसंगों के प्रभावशाली वर्णनों की दृष्टि से चंद का कौशल प्रशंसनीय है। यही नहीं, अप्रस्तुत-योजना में पारम्परिकता के अवरोध से बाहर आकर एकदम अछूती और उस युग के लिए नितान्त नई उद्‌भावनाएँ करने में कवि की कल्पनाशीलता आश्चर्यजनक है।

'रासो' की कथा का अत्यन्त मार्मिक स्थल है- बन्दी-गृह में पड़े अंधे, असहाय और एकाकी पृथ्वीराज की मर्मान्तक पीड़ा तथा पश्चातापदग्ध मन:स्थिति का चित्रण। अपने युग के अद्‌भुत पराक्रमी योद्धा का पश्चात्ताप से भरा लम्बा स्वगत-कथन मर्माहत करने वाला है। अपनी भुजाओं की शक्ति पर अखण्ड विश्वास के बल पर अनेक युद्धों के विजेता वीर के दर्प के धूल-धूसरित होने की पीड़ा की त्रासदी असाधारण है। चंद ने इस सम्पूर्ण प्रसंग का अत्यन्त कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है। उस पराक्रमी वीर के लिए ईश्वर की शरण में जाने के अलावा कोई विकल्प न रह जाए, यह पृथ्वीराज के जीवन का सबसे करुण पर्यवसान है। इस प्रसंग में चंद की सहृदयता मन को छू लेती है।

उस युग के सामन्ती जीवन के गौरवगान में तत्कालीन समाज के सुख-दु:ख के विषय कवि के भाव-जागत से बाहर छूट गए हैं। कहीं-कहीं एकाध झलक मिल जाती है। पृथ्वीराज अपनी नई रानी के साथ काम क्रीड़ा में डूबा हुआ है। उसको राज-काज से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में शहाबुद्‌दीन गोरी के आक्रमण से त्रस्त और अरक्षित प्रजा राजा तक अपनी गुहार कैसे पहुँचाए, इसकी चिन्ता में लोगों की घबराहट का सुन्दर चित्रण हुआ है। अन्यथा सारा काव्य केवल सामन्तों के वैयक्तिक वीरोचित दर्प का ऐसा रूप प्रस्तुत करता है, जिसमें प्राण देकर भी शरणागत की रक्षा करना, स्वाभिमान, निष्ठा, समर्पण आदि आदर्श जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उस सामन्ती समाज के सामने कोई बडा लक्ष्य नहीं था उनके लिए राष्ट्रीय चेतना का कोई संदर्भ नहीं था, छोटे-छोटे राज्यों की सीमाओं की तरह मनुष्य की अवधारणाएँ और जीवन-मूल्य भी उसकी वैयक्तिकता के वृत्त में सिमट आए थे। इन विखंडित शक्तियों के बीच जहाँ आए दिन युद्धों के प्रसंग आ जाते हों, वहाँ हार-जीत से भी बड़ी बात थी प्राणों के बलिदान का निर्भय साहस, स्वाभिमान रक्षा, दर्पपूर्ण वीरत्व, किसी को दिएं गए वचन का प्राण देकर भी निर्वाह करना। ये मूल्य ही उस युग की वीर-पूजा के विधायक तत्त्व बन गंए तों आश्चर्य क्या? आल्हा-ऊदल की जीत नहीं हुई थी, पर उन्होंने अपने दिए गये वचनों का पालन करने में अपने प्राण दे दिए – यह गुण उस युग में उन्हें और इसी तरह किसी को भी – नायक बना देने के

NMDC-065

लिए बहुत बड़ा आधार था। उस ह्रासशील सामन्ती समाज में वैयक्तिक स्तर पर वीरत्व के इन महनीय गुणों को किसी नायक में साकार होते देखना उस युग की वीर-पूजा का आकांक्षित आदर्श था। इस तत्त्व की अत्यन्त प्रभावशाली अभिव्यक्ति होने के नाते ही *पृथ्वीराज रासो* को मध्ययुगीन भारतीय समाज का 'काव्यात्मक इतिहास' कहा गया।

और इस कल्प सृष्टि का कर्ता है – हिन्दी का आदि (कालीन) कवि चंदबरदाई, जो अपने आप में ही एक निजंधरी नायक है। उसे लेकर प्रचलित अनुश्रुतियाँ और कथाएँ प्रमाण हैं कि चंद का लोकचित्त के साथ वैसा ही तादात्म्य हुआ है, जैसा सूर, तुलसी और कबीर का। मिश्रबन्धुओं द्वारा 'हिन्दी के नवरत्नों' में प्रतिष्ठित किया जाना भी इस महत्ता की ही स्वीकृति है। असंख्य अज्ञात कवियों ने अपने परिचय का विसर्जन करते हुए 'रासो' में इतना और ऐसा योगदान किया कि उसमें से चंद की मूल रचना को ढूँढ़ निकालना एक चुनौती हो गई। लोक-मन में चरितनायक पृथ्वीराज और कवि चंद के एक ही दिन, एक ही मुहूर्त में जन्म और मृत्यु का विश्वास जड़ीभूत है। यह तथ्य इतिहास समर्थित हो या नहीं, लोक-मन में यह मान्यता दृढ़ है। चंद कला-मर्मज्ञ, बहुभाषाविद और लोक-व्यवहार में निपुण तो थे ही, आगे बढ़कर युद्ध में भाग लेने वाले प्रचण्ड वीर भी थे। वे पृथ्वीराज के विश्वासपात्र सलाहकार और अवसर पड़ने पर, उनकी भूलों के लिए, खरी-खोटी सुनाने का साहस रखने वाले परम आत्मीय मित्र भी थे। आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से उद्वेलित उस युग के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में प्रेम तथा युद्ध जैसे सनातन विषयों पर मर्मस्पर्शी चित्रण करने में चंद की सहृदयता और भावुकता का अच्छा समन्वय हुआ है। राजपूताने के लगभग सभी राजवंशों में *पृथ्वीराज रासो* को इतना समादृत और लोकप्रिय ग्रंथ बनाने में इन्हीं गुणों का योग है।

संदर्भ :

1. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल*, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 80
2. *चंदबरदाई और उनका काव्य*, विपिनबिहारी त्रिवेदी, पृ. 92
3. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य*, नामवर सिंह, पृ. 258
4. वही, नामवर सिंह, पृ. 262
5. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल*, ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 105
6. रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, 1868 ई., खण्ड 37
7. वही, 1869 ई., खण्ड 42, खण्ड 38

NMDC-065

8. वही, 1876 ई., खण्ड 42, खण्ड-1

9 *काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती अभिनंदन-ग्रंथ* पृ. 177-178

0. *माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान,* ग्रियर्सन, पृ. 44

11. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, प्रस्तावना, पृ. 18

12. *राजस्थान भारती.* भाग-1 सं. 1 सन् 1949, पृ. 101

13 *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह पृ. 265

14. वही, पृ. 265

15. वहीं पृ. 266

16. *हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास,* ह. प्र. द्विवदी पृ. 109

17. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह पृ. 263

NMDC-065

3. अपरूप के कवि

'विद्यापति'

शिव प्रसाद सिंह

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय में शास्त्रीय मतों की संकुलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की कब्रो से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्माएँ चलती भी हैं और जब कि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फ़र्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा। वस्तुत: सौन्दर्य जैसे वस्तु की परिभाषा करना कठिन ही नहीं, असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धांतों का बवण्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य। इसीलिए हजारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है! सौन्दर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अनुभव की वस्तु है, उसमें रमा जा सकता है।

सौन्दर्य वस्तु का नहीं, व्यक्ति का धर्म है, जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमें सत्य है। यदि ऐसा न हुआ तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नहीं है, यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है, जो उन वस्तुओं के बारे में सोचती है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलत: वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनंद प्रदान कर सके, वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते है क्योंकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनँद की परिभाषा तो और भी कठिन है, जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता है। दूसरे इस अद्‌भुत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सकें। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं

NMDC-065

है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच.एच. परखूरस्ट (H.H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है। यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है, हमें मूलत: दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहली यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है, अर्थात वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिस्कार है। दूसरी यह कि वह वक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य बोध का परिचय देते हैं।

विद्यापति वस्तुत: सौन्दर्य के कवि है। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव विह्वल और एकोन्मुख कर देता है, इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्राय: 'अपरूप' या सौन्दर्य की अपूर्वता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण् किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है–

सुधामुखि के बिहि निरमल बाला
अपरूप रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव की कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सलि पेखल एक अपरूप', आदि पंक्तियों से आरंभ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना की गई है।

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्वव्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पद्मावत में पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते हैं। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से सभी वस्तुएँ अभिनव सौन्दर्य को धारण करती हैं। आचार्य

NMDC-065

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पारस रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि पारस रूप है वह जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुत: भगवान के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर–

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उस पर लोगों का ध्यान नहीं गया, इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहें। विद्यापति की राधा वह अपूर्व सौन्दर्य-मणि है, जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं–

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तँहि तैहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि विजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माँहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास संचार, तँहि तँहि अमिय विचार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, लतँहि गइन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अंगोर
पुनु किए दरसन पाव, दय योहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तब गुने दैबब आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरे मालूम होते हैं, उसके मधुर ह्रास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत बिखेर देता है। यह राधा का पारस रूप, जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमें जो लोग शृंगार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हें कौन रोक सकता है; किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमें सन्देह नहीं। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की बात करके मैं उनकी मांसल सौन्दर्य-सृष्टि का मूल्य घटाना नहीं चाहता। वस्तुत: सौन्दर्य-लोभी कवि भी रहस्यवादी हो ही नहीं पाता, उसके मन के कुछ क्षणों में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जब वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध होकर उनके उद्दीप्त स्वर का चित्रण करे और इसमें दिव्यता (Divinity)

NMDC-065

लाने का कुछ प्रयत्न भी करें, परन्तु अधिकांशत: वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत के बीच में ही देखना पसंद करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्रनाथ आदि जो भी सौन्दर्य प्रेमी कवि हैं, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य-सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते हैं अर्थात उसमें यथासंभव यथार्थ का आधार रखते हैं, किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु में किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओं का व्यापक आधार उसके लिए "किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है। ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप जाल में न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है, जैसा कि रवीन्द्रनाथ या अन्य रहस्यवादियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रकृति के कवि थे। वह बात दूसरी है कि कालिदास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमें नहीं है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ढूँढ़ा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम; कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनों प्रकार के चित्रण उनकी उद्भावनाओं से अनुप्राणित हैं, बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि की रुचि के कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुत का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि प्रयोग विद्यापति के बिल्कुल मौलिक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें किसी प्रसिद्ध रूढ़ि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नहीं है। मध्यकालीन काव्य में मौलिकता ढूंढने का यह तरीका ठीक नहीं है। क्योंकि मौलिकता वस्तुओं के लिए नये उपमानों को ढूंढने में नहीं, बल्कि पुराने उपमानों को नये तरीके से कहने में दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती है। मुख और आँख के एकत्र चित्रण से मुख को कमल और आँखों को भ्रमर कहते हैं। किन्तु यह दृश्य का बारीक चित्रण नहीं कहा जा सकता। विद्यापति पहले तो मुख की छवि की अभिधार्य में व्यक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। साधारण से साधारण शब्द जैसे नगीने की तरह जड़े होते हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर आँखें–विद्यापति कहते हैं–

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौंह सुरेखलि आँखि

मुंह तो 'सहज' सुन्दर है। सौन्दर्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता है। यह विशेषण विद्यापति ही दे सकते हैं। और आँखें जो भौंहों से सुरेखित हैं। 'भौंह सुरेखलि' आँख

NMDC-065

का प्रयोग ध्यान देने लायक है। विद्यापति को अब भी सन्तोष नहीं हुआ। मुख को कमल की तरह से कह सकते हैं, और आँखों को भ्रमरों की तरह। किन्तु क्या 'भ्रमर' कह देने मात्र से चंचल बरौनियों वाली चपल आँखों की विशेषता का पूरा बोध हो पाता है? शायद नहीं। इसलिए विद्यापति ने लिखा है–

पंकज मधुपिवि मधु कर रे
उड़ए पसारलि पांखि

चंचल भ्रमर स्वभाववश और आशंका से (यौवन के आगमन पर भय आशंका का संचारी स्वत: उदित होता है) इस मधु को पीते हुए भी उड़ जाने की मुद्रा में पांखों को फैलाये हुए हैं – युवती की आँखें जैसे सुदूर गमन में उड़ जाना चाहती हैं। विद्यापति इस रूप के स्वभाव की व्यंजना भी अत्यंत हल्के ढंग से, किन्तु अतीव गहन व्यंजनों के साथ प्रस्तुत करते हैं –

ततहिं धाओल दुहु लोचन रे, जलहि गेलि बर नारि
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि

जैसे आशा-लुब्ध भिखारी कृपण का पीछा नहीं छोड़ता, वैसे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे रूप-लुब्ध आँखें दौड़ गईं। कृपण सम्बोधन में नारी के रूप-शील की ओर संकेत है।

उपमानों का प्रयोग विद्यापति के काव्य में अत्यंत रूढ़ ढंग से हुआ है। किन्तु कवि को जैसे इन उपमानों में आसक्ति नहीं है चूंकि वे जिस वस्तु का वर्णन करना चाहते है, उसके लिए इन उपमानों का प्रयोग होता आ रहा है, इसलिए उन्होंने भी किया, किंतु उनके मन में निरन्तर यह शंका है कि शायद माध्यम उपयुक्त नहीं है, वह रूप इससे ऊपर की वस्तु है, इसे इन शृंखलाओं में बाँधना ठीक नहीं। बाँधने का प्रयत्न भी किया जाये तो भी क्या यह अनिर्वचनीय रूप इन रूढ़ियों में बाँधा जा सकता है? इसीलिए प्राय: वे विरोधाभासों या प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। उनका बहुत प्रसिद्ध गीत नीचे उद्धृत किया जाता है।

तोहर बदन सम चांद होअथि नहिं
जइयो जतन विहि देल
कए धेरि काटि बनाओल नव काय
तइयो तुलित नहिं भेल
लोचन तूल कमल नहिं भय सक
से जग के नहिं जाने

NMDC-065

से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इतना सब होते हुए भी उन्होंने पुराने उपमान का स्वच्छंद व्यवहार भी किया है। विद्यापति के इन वर्णनों को समझने के लिए कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़क्ति-सिक्त अप्रस्तुतों की पुरानी परिपाटी को समझना आवश्यक हो जाता है। नख-शिख वर्णन में उन्होंने सर्वत्र इसी पिटी हुई परिपाटी की शरण ली है। किन्तु विद्यापति ने इन रूप उपमानों को भी नये ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने दृश्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतों के निर्वाचन में अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए शरीर के वर्णन के लिए चन्द्रमाला, शिरीषमाला, विद्युल्लता, तरा, कनकलता, दीपशिखा आदि का प्रयोग साहित्य-शास्त्र में रूढ़ माने गए है विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्हीं का प्रयोग किया हैं–

(1) मेघमाल संय तड़ित लता जनि

(2) जनि विजुरी रेह

(3) कनकलता अरविन्दा

(4) कनकलता अवलम्बन ऊअल

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्राय: सर्वत्र उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया है। केशों की उपमा शास्त्रकारों की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी, चामर, यमुना-तरंग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश, धूप, धूप का धुआँ इत्यादि से दी जानी चाहिए।

(1) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा

(2) केस निगारइत बह जल धारा
चामर गरए जानि मोतिए हारा

(3) चिकुर गरए जल धारा
मेह वरिस जनु मोतिय हारा

(4) अलकहिं तीतल तैं अति शोभा
अलिकुल कमल बेढल मधुलोभा

(5) तापर साँपिनि झापल मोरू

NMDC-065

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से की जाती है। विद्यापति ने आँखों की उपमा प्राय: उपर्युक्त सभी उपमानों से दी है। आँखों की उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों सें भी दी जाती है।

(1) कुटिल कटाख लाट पडि गेल
मधुकर डम्बर अम्बर लेल
(2) लोचन तूल कमल नहिं
(3) तापर चंचल खंजन जोर
(4) बादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि के चाँद चकोर
(5) सावन घन सम झर दु नयान
(6) नीर निरंजन लोचा राता
सिंदूर मंडित जनु पंकज पाता

स्नान के बाद लाल हुई आँखों की उपमा केवल कमल पत्र से नहीं दी। वैसे कमलपत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र को सिन्दूर मंडित हो, ऐसा कहा। क्योंकि, आँखें निरन्तर लाल नहीं रहती। श्वेत आँखें सद्य:स्नान के बाद लाल हैं। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शब्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य का भी संकेत दे दिया।

वराहमिहिर ने बन्धुजीव के समान लाल और अमांसल अधर को प्रशस्त बताया है। इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरों के लिए प्रवाल, बिम्बफल बधूक, पुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।

(1) विमल बिम्ब फल जुगल विकास
(2) अधर बिम्ब अधजाई
(3) अधर बिम्ब सन दसन दाडिम बिजु

अधरों के बारे में विद्यापति बहुत जागरूक नहीं हैं। वे तो मुख का वर्णन करने के बाद अधर, चिबुक और कंठ की बात छोड़कर कुचों के बारे में वर्णन करने लगते हैं। कुचों की उपमा देने में तो विद्यापति बेजोड़ हैं। जाने कितनी प्रकार की उपमायें खटाखट उपस्थित होती चली आती है। यह उनके नख-शिख वर्णन का सबके आकर्षक और सबसे अधिक निर्बल पक्ष है। इसके वर्णन में उन्होंने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलंकारियों ने कुछ उपमान माने हैं। जैसे पुंगफल, कमल, कमल कोरक, विल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ,

NMDC-065

अविषम और कठिन उरोजों की प्रशंसा की है।

(1) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता

(2) कुच जुग परसि चिकुर पुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जाति सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद विहुन सब तारा

(3) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइन

(4) जुगल सैल मम हिमकर देखल

(5) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
डारत सुरसरि धारा

(6) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु

(7) कुच युग चारु चकेवा

(8) माजि धएल अनु कनक मुकूरे
तेइ उदसल कुच जोरा
पलटि बैठाओल कनक कटोरा

(9) सजल चोर रह पयोधर सीमा
कनक वेल जनि पड़ गेल हीमा

(10) कुच जुग अरविन्द

(11) कनक कमल हेरि काहे न लोभि

(12) कुच कम्भे कहि गेल अप्प आस

(13) अम्बर विघटु अकामिक कामिनी
कर कुच झापु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुइ पंकज दस चन्दा

यही नहीं, विद्यापति कुचों के विकास को संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओं की करामात दिखाते हैं। ऐसे स्थलों पर रूढ़ उपमाओं से उन्होंने आकार की दृष्टि के विकास-सूचक स्थितियों की कल्पना की है।

NMDC-065

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग
से पुन भये गेल़ बीजक पोर
अब कुच बाढल सिरफल जोर

बेर, नारंगी, बीजपुर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आँचल से अनाच्छादित कुचों के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें–

उरहि अंचल झाँपि चंचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद घन जानि
बेकत कएल सुमेरु

संस्कृत आलंकारिकों ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय में बताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है। इसके लिए रसातल, कूप, आवर्त, झील या ह्रद आदि की उपमाएँ चलती हैं।[1] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियों का वर्णन भी कवि लोग करते है। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को बलि कहते है। त्रिबली का वर्णन कवि लोग करते है। इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन में सूई की नोंक, शून्य, अणु, सिंह की कटि, आदि उपमान गृहीत होते हैं। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं–

(1) कनक कदलि पर सिंह समारल

(2) गरु नितम्ब भर चलए न पारए
माझ खनि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरुझाई

(3) नाभि विवर संय लोम लता वलि

(4) केहरि सम कटि गुन सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सगनि गे
गुन पाओल अवधारि

NMDC-065

जाँघों की उपमा कनक-कदली से बहुत रूढ़ हो गई है। चरण-तल कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते हैं। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या सलाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणों के जावक या महावर के वर्णन में ऊषा की लाली, अग्नि-शिखा, पलाश-पुष्प आदि की उपमाएँ दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्हीं उपमाओं का सहारा लिया है--

(1) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने
(2) विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल पंकज के रूप दे
(3) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि
(4) चरन जावक हृदय पावक
(5) तरुन मदन सर पूरए रे
गति गंजए गजराज
(6) जहाँ जहाँ पग भरई
तहिं तहिं सरोरुह धरई
(7) कमल जुगल पर चाँद का माला

विद्यापति की नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्राय: प्रसिद्ध रूढ़ियों या कवि समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है, इसीलिए उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक चित्रण कम से कम मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन की विवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ख्याल रखना चाहिए कि यह वर्णन चौदहवीं शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये हैं, जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नहीं है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्राय: अत्यन्त आकर्षक और वर्ण्य-वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली होती हैं। ऊपर के उदाहरणों में यदा-कदा मैंने संकेत दिये हैं। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेश चन्द्र सेन ने लिखा

NMDC-065

है कि "भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह के अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।''

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति-पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किये? विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी की मान्यताओं का कि राधाकृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि "राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मांसल चित्रण तथा शृंगार से कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमारस्वामी ने अपने को भ्रम में भुलाया है।''

सूरदास के चित्रणों को, जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्राय: विद्यापति की शैली के सदृश या संभवत: उसी से प्रभावित होकर नख-शिख वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ परिपाटी में लिखे हुए हैं, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुत: यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्तिपूर्ण काव्य लिखते आ रहे है। नख-शिख वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'वैष्णव कवि की रूपोपसना' में एक स्थान पर लिखा है कि "वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वहीं उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँचकर रुक जाते है, जहाँ वह हतचेष्टा हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना आत्म-निवेदन में अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।'' मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिलसिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते, बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो बिहारी आदि की तरह थकती है और न तो सूर की तरह समर्पण कर देती है। विद्यापति कृष्ण या राधा के सौन्दर्य की अतिशयता को अनिर्वचनीय कहकर उस पर सूर की तरह बलि-बलि नहीं जाते, बल्कि उस सौन्दर्य को निरन्तर नाना रूपों में निरखते रहने की इच्छा से ही इसकी अर्चना किया करते हैं। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। बहुत से आलोचक नख-शिख-वर्णन

NMDC-065

को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव सौन्दर्य का खण्डश: वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं है। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का–स्थूल दृष्टि से कहें तो नख-शिख वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं, बल्कि उसने प्रत्येक हिस्से को उद्‌भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिए किया है; प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं, श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा कि विद्यापति रूप के पार्थिव बन्धन में बँधे हुए कवि नहीं हैं, यदि वे मांसल रूप के बन्धन में बँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की बात न करते। वस्तुत: वे इस तमाम खंडित रूप-तत्वों के बीच प्रवाहमान अखण्ड रूप-तत्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।

4. विद्यापति का काव्य सौष्ठव

अंबादत्त पंत

काव्य क्या है इस जटिल समस्या को सर्वमान्य परिभाषा देकर सुलझाने में मानव मस्तिष्क असमर्थ रहा है। भारतीय काव्यशास्त्रियों का प्रयास वाक्यं रसात्मकं काव्यं को ही खोजकर संतुष्ट नहीं हुआ, उसने आगे चलकर काव्य में रसों की विवेचना को भी अपनाया। अधिकतर विद्वान काव्य में नव रस मानते हैं और उनमें भी शृंगार को रसराज स्वीकार किया है। साहित्यदर्पण के अनुसार अंग का अर्थ कामोद्रेक है, उसके आगमन से अर्थात उत्पत्ति का कारण शृंगार कहलाता है। शृंगार रस के आलंबन—नायक नायिका, उद्दीपन सखी, मंडन हासपरिहास, षट्ऋतु वर्णन, वन उपवन, चंद्र, तारा आदि सभी प्राकृतिक एवं रमणीय वस्तुएँ, अनुरागपूर्ण आंगिक चेष्टाएँ, हावभाव कटाक्ष आदि, अनुभाव आलस्य, मरण, उग्रता, धृति आदि आदि अनेक संचारी भाव हैं तथा स्थायी भाव है रति। रति का लक्षण करते हुए दर्पणकार ने लिखा है—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

अर्थात् प्रियवस्तु में प्रेमपूर्ण उन्मुखीभाव का नाम रति है। प्राणिमात्र में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। प्रकृत्ति का प्रत्येक अणु अपने दूसरे प्रकार के अणु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। युवतियों में युवकों के प्रति और युवकों में युवतियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण का होना हम अन्यत्र कह चुके हैं। इस भाव की महत्ता को आधुनिक मनोविज्ञान एवं कामशास्त्र भी स्वीकार करता है। साहित्य में आरंभ से ही शृंगार रस को अधिक महत्व मिला है। आचार्य भरत ने संसार में जो कुछ पवित्र है, उत्तम है, उज्ज्वल है, दर्शनीय है, उसे शृंगार कह डाला है। संस्कृत, हिंदी तथा विदेशी साहित्यशास्त्रियों ने शृंगार की उत्तमता के गीत गाए है।

उत्तमता की दृष्टि से भी शृंगार रस का महत्व कम नहीं। हम प्रारंभ में कह चुके हैं कि इसका मूल भाव रति है। रति में भी दांपत्य रति मुख्य है। यह अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति और पुरुष की लीला है। अतः सभी शृंगारी रचनाएँ आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखी जा सकती हैं। जीवन की स्मृति, सत्प्रेरणाएँ, भक्ति और धर्म, साहित्य और कला सभी के मूल में प्रेम की यह प्रेरणा है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रेम प्रेरणा में मनोवृत्तियों के अपूर्व समीकरण की शक्ति को स्वीकार करता है। अतः संसार के सभी कार्यों को उन्मुख करने वाली तथा उनमें तीव्रता उत्पन्न करने वाली यही प्रवृत्ति मानी जाती है।

शृंगार की मौलिकता एवं गंभीरता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नगेंद्र लिखते हैं—"गांभीर्य और तीव्रता के विचार से भी शृंगार भावना का ही स्थान सर्वोच्च है। जीवन की मूलवृत्ति होने के कारण वह स्वभावतः ही सबसे अधिक गंभीर वृत्ति भी है। उसके द्वारा जीवन में गहनतम परिवर्तन हो

NMDC-065

जाते हैं, जीवन की कोई भी मनोदशा इतनी स्थायी नहीं होती। मन स्वभाव से ही चंचल है, परंतु प्रेम के वशीभूत होकर उसमें असाधारण एकाग्रता आ जाती है। संपूर्ण आत्मनिलय प्रेम में ही संभव है, अतएव प्रेम में अन्य भावनाओं की अपेक्षा तीव्रता भी अधिक है।''

शृंगार रस का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। मानवहृदय के दोनों प्रकार के भाव—सुखात्मक एवं दुःखात्मक इसके अंतर्भूत हो जाते हैं। प्रेमार्द्र मन की अवस्था बड़ी विचित्र होती है। वहाँ प्रिय से संबंध रखनेवाली वस्तु तक प्रिय लगती हैं और विपरीत अवस्था में वही दुखकारी प्रतीत होती है। डॉ. नगेंद्र इसकी व्यापकता को स्वीकार करते हुए लिखते हैं,—शृंगार की महत्वस्वीकृति में आपत्ति किसे हो सकती है। वास्तव में हमारा समस्त जीवन राग पर स्थित है। हमारी कलाएँ हमारा साहित्य जीवन की—और स्पष्ट शब्दों में हमारी रागात्मक प्रवृत्ति की—ही अभिव्यक्ति हैं, और यह रागात्मक प्रवृत्ति काममूलक है। अतएव विश्वसाहित्य का अधिकांश शृंगारमय हैं। यही नहीं यदि शुद्ध साहित्य से शृंगार की कृतियाँ बहिष्कृत कर दी जाएं तो समस्त साहित्य का गगनचुंबी प्रासाद धाराशयी हो जाएगा।

शृंगार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। संयोग में आश्रय एवं आलंबन का मिलन रहता है। अतः वह सुखात्मक माना जाता है। रूपवर्णन, (नखशिख एवं आभूषणों का वर्णन) हावभाव चित्रण, उपवन, उद्यान, जलक्रीड़ा, हास परिहास, मान, सुरतक्रीड़ा, सुरतक्रीड़ा गोपन तथा वर्णन आदि आदि प्रसंग इसके अंतर्गत हैं। विप्रलंभ (वियोग) का लक्षण है कि जहाँ उत्कृष्ट रति होने पर भी प्रिय का समागम न हो। यह चार प्रकार का है, पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करूण। पूर्वराग संयोग से पहिले की आतुरता है। मान किसी अपराध के कारण रूठ जाने को कहते हैं और प्रवास में नायक का विदेशगमन होता है। दर्पणकार ने कार्यवश उत्पन्न हुए प्रवास को भविष्यत, वर्तमान और भूत इन तीनों भेदों में विभक्त किया है। करुण का लक्षण बताते हुए वे लिखते हैं— "नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है उस अवस्था को करुण विप्रलंभ कहते हैं। परंतु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में और इसी देह से पुनः मिलने की आशा हो।'' अथवा किसी आधिदैविक अन्य प्रबल व्यवधानवश मिलन की आशा अत्यंत क्षीण हो जाएं तब करुण विप्रलंभ की सृष्टि हो जाती है। यह करुण रस सर्वथा भिन्न है। करुण रस से इष्ट का विनाश निश्चयात्मक हो जाता है और करुण विप्रलंभ में मिलन की क्षीण आशा बनी रहती है।

साहित्य ने विप्रलंभ शृंगार को अधिक महत्व दिया है,– कहा भी है–

संगम विरह विकल्पे बरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
मिलने सैव यदेका त्रिभुवन मयि तन्मयं विरहे।।

NMDC-065

साहित्यकार मानते हैं कि यह बात ठीक है क्योंकि संगम में प्रेम परितृप्त होकर निश्चेष्ट हो जाता है परंतु विरह में वही उद्दाम होकर हृदय के अंतराल में नव नव आशा और प्राण का संचार करता रहता है। विरह में त्रिभुवनमय प्रेमी हो जाता है, तभी तो सूर की गोपिका पुकार उठती है कि 'ऊधो तेरहौ प्रेम करें।' विरह के अंतर्गत कामदशा (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति – किसी किसी के अनुसार केवल मूर्छा नामक दश दशा) वर्णित की गई है। पत्र, दूती तथा संदेश आदि का भी वर्णन रहता है। प्रकृति का वर्णन संयोग और वियोग दोनों में होता है। यह है संक्षेप में रसराज शृंगार का महत्व एवं व्यापकत्व जिस पर हमारे आलोच्य कवि विद्यापति ने अपनी काव्य प्रतिभा का विस्तार दिखाया है और नाना प्रकार के सुंदर चित्र दिए हैं।

शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष में एक अंतर होता है। संयोग पक्ष में जितनी बाह्य चेष्टाओं की महत्ता रहती है उतनी अंतर्जगत के हलचल की महत्ता नहीं करती। संयोग में नायक और नायिका का हृदय मिलनसुखेच्छा से पूर्ण होकर अंतर्द्वंद्व में रत नहीं हो पाता और न वहाँ उसके लिए अवकाश है क्योंकि वहाँ तो–

तनुस्पर्शादस्या दरमुकलिते हन्त नयने,
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामगङ्मखिलम्।
कपोलौ घर्माद्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं,
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम्।।

अर्थात शरीर का स्पर्श करने से इस कामिनी के नयन कमल कुछ मुकुलित (आनंदविघूर्णित) होने लगे हैं। रोमांचयुक्त संपूर्ण शरीर जड़वत हो गया है और कपोलों पर पसीना आ गया है। मालूम होता है अन्य सब विषयों से विमुख होकर इसका मन ब्रह्मानंद के समान किसी सांद्रसुख में विलीन हो रहा है। यह है संयोग की महत्ता। विद्यापति ने इस तथ्य को भलीभाँति समझा है और उसका समुचित लाभ उठाया है। अतः उनके संयोगवर्णन में जो बाह्य जगत का सूक्ष्म दर्शन है वह अंतर्जगत का नहीं और न उसकी वहाँ आवश्यकता थी। वियोग में प्रिय की चिंता रहती है और हृदय नाना प्रकार की भावनाओं का नीड़ बन जाता है। हृदय में नाना प्रकार के भावों का आघात प्रतिघात होता रहता है। अतः कवि को भी अंतर्जगत के वर्णन का समुचित अवसर वियोग में प्राप्त हो जाता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि साहित्य में सबसे प्रधान रस शृंगार है। इसका स्थायी भाव रति है। अब देखना है कि यह भाव कब उत्पन्न होता है तथा उत्पत्ति के समय किन-किन अलौकिक चेष्टाओं को जन्म देता है। विद्यापति ने इसका खूब अध्ययन किया है और अनुभव किया है।

NMDC-065

सबसे पहली अवस्था वय:संधि है। अत: विद्यापति का शृंगार वर्णन भी वय:संधि से प्रारंभ होता है। वय:संधि में नायिका का लावण्य चमकता है। उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

सैसव जौवन दरसन भेल। दुहु दलबले धनि दंद पड़ि गेल।
कबहु बांधए कच कबहु वियारि। कबहु झाँपय अंग कबहु उघारि।
थिर नयान अथिर कछु भेल। उरज उदय थल लालिम लेल।
चंचल चरन, चित चंचल मान। जागल मनसिज मुदित नयान।
विद्यापति कहे सुन वर कान। धैरज धरह मिलायव आन।।

अंकुरित नायिका का कितना सुंदर चित्र है। उसके उठते हुए उरोजों की लालिमा, कभी अंगों का ढकना, कभी खोलना बड़ी स्वाभाविकता के साथ वर्णित किया गया है। रसिकों के मन को मुग्ध करने वाले उरोज होते हैं। अब वे दिनों दिन बढ़ते जाते हैं, उनका भी कवि ने चित्र दिया है। यथा–

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग। दिने दिने बाढ्य पिड़ए अनंग।
से पुन भए गेल वीजक पीर। अब कुच बाढ़ल सिरिफल जोर।
माघव पेखल रमनि संधान। घाटहि भेटल करत सिनान।
तनु सुख वसन हिरदय लागि। जे पुरुख देखब तेकर भागि।
उर हिल्लोलित चाँचर केस। चामर झाँपल कनक महेस।
भनइ विद्यापति सुनह मुरारि। सुपुरुख विलसय से वरनारि।।

अर्थात् पयोधर पहले वदरीफल के समान थे, फिर नारंगी के समान दिनों दिन बढ़ने लगे। अनंग उसको पीड़ा देने लगे। फिर वह बीजपूर के समान हो गए। अब कुछ बढ़कर बेल के समान हो गए। माधव, रमणी का (कटाक्ष) संधान देखा। घाट पर स्नान करती हुई (उस) का साक्षात पाया। (उसका) शरीर कोमल, (आर्द्र) वस्त्र (वक्ष) हृदय में लगकर सट गया, जो पुरुष (इसे) देखे, उसका भाग्य है। (उसके) गीले (भीगे) केश वक्ष पर हिल रहे हैं, मानों स्वर्णशंभु (पयोधर) चँवर द्वारा आवृत हुए हैं। विद्यापति कहते है, मुरारि, श्रवण करो, सुपुरुष वैसी ही श्रेष्ठ नारी से (के साथ) विलास करते हैं।

कितना सुंदर और स्वाभाविक वर्णन है। 'उर हिल्लोलित चांचर केस। चाँमर झाँपल कनक महेश' इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कितना सुंदर है। इसी प्रकार किसी अन्य अंकुरित-नायिका की स्वाभाविक चेष्टाओं का कितना सुंदर वर्णन किया है। वह कभी हंसती है तो कभी अधरों पर वस्त्र रख लेती है, कभी-कभी स्वयं अपने उरोजों पर आप ही दृष्टि डालती है। क्षण-क्षण में उसके नेत्र कोण का अनुसरण करते हैं, कभी वह हंसती है तो कभी वह इधर

NMDC-065

उधर देखने लगती है। विद्यापति ने इन सभी चेष्टाओं को किस सुंदरता के साथ नीचे लिखे पद में दिया है–

खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खने वसनधूलि तनु मरई।
खने खने दसन छटा छुट हास। खने खने अधर आगे करु वास।
चउकि चलए खने खने मलु मंद। मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आँचर दए खने होय भोर।
बाला सैसव तारुन भेंट। लखए न पारिअ जेठ कनेठ।
विद्यापति कह सुन वर कान। तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।

वय:संधि के उपरांत यौवन का अपूर्व समय आता है जिसमें प्रेमी और प्रेमिका का लावण्य अपनी चरम सीमा पर होता है। विद्यापति ने नायक और नायिका दोनों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उनके नायक कृष्ण हैं, वह भी अपूर्व सुंदर हैं, कौन मान सकता है कि वे इतने सुंदर हैं। सुनने वाले कवि की कल्पना मानेंगे। उनके सौंदर्य पर रीझी हुई नायिका (राधिका) कहती है–

ए सखि देखलि एक अपुरूप। सुनइत मानवि सपन सरूप।।
कमल जुगल पर चाँदक माल। तापल उपजल तरुन तमाल।।
तापर बेढ़लि विजुरि लता। कालिंदी तीर धीर चलि जाता।।
साखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।।
बिमल बिंबफल जुगल विकास। तापर कीर धीर करु वास।।
तापर चंचल खंजन जोर। तापर सापिनि झाँपल मोर।।
ए सखि रंगिनि कहल निसान। हेरइत पुनि हमें हरल गिआन।।
कवि विद्यापति एह रस मान। सुपुरुख मरम तुहु भल जान।।

अर्थात् हे सखि, एक अपरूप (दृश्य) देखा, सुनकर समझोगी कि सपना है। कमलयुगल पर (चरणद्वय) पर चाँद की माला (नखपंक्ति), उसके ऊपर तरुण तमाल वृक्ष (उरु) उत्पन्न हुआ। उसके ऊपर विद्युल्लता (पीत पटी) लिपटी हुई थी, (एवं वह) धीरे-धीरे कालिंदी तीर पर चला जा रहा है। शाखाशिखर पर (हस्तांगुलियों) चद्रश्रेणी (नखपंक्ति); उसपर अरुण के समान नव पल्लव (करतल), विमल बिंबफल युगल (ओष्ठाधर) का विकास (हो रहा है)। उसके ऊपर शुकपक्षी (शुकपक्षी के चंचु के समान नासा) स्थिर होकर वास कर रहा है। इसके ऊपर खंजन युगल (चक्षुद्वय), उसके ऊपर मयूर (मयूरपुच्छ) साँपिनी को (चूडाबद्ध केश को) आच्छादित किए हुए हैं। हे रंगिणि सखि, तुमको यह संकेत किया; फिर देखकर मेरे ज्ञान का हरण हो गया। विद्यापति कवि इस रस का वर्णन करते हैं। सुपुरुष का मर्म तुम खूब जानती हो।

NMDC-065

वस्तुत: विद्यापति इसी अपरूप के सफल कवि हैं। उन्हें इस अपरूप के देखने से कभी तृप्ति नहीं होती। अब नायिका के उठते हुए अंगों की माधुरी का अवलोकन कीजिए। आहा ! कैसा सुंदर यौवन है जहाँ दृष्टि जाती है, वही रह जाती है। गजब है, क्यों अनुपम पदार्थ एक स्थान पर हैं। हरिण, चंद्र, कमल, हस्तिनी, स्वर्ण और कोकिल। स्तनयुगल के ऊपर केश बिखर रहे हैं, उनमें हार उलझ गया है मानों सुमेरु पर्वत के ऊपर चंद्रविहिन तारे उग रहे हैं। सुंदर मणिमाला, कुंडल कुंपोलों पर झूल रहे है। अधरों की लालिमा देखकर बिंबा फल लज्जित हो रहा है–

कि आरे ! नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ छपो अनुपम एक ठामा।।
हरिन इंदु अरविद करिनि हेम पिक बुझल अनुमानी।
नयन रयन परिंमल गति तनुरुचि अओ अति सुललित बानी।
कुच युग पर चिकुर फुचि पसरल ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद विहिन सब तारा।
लोल कपोल ललित मनि कुडल अधर बिंब अध जाई
भौंह भ्रमर, नासापुट सुंदर से देखि कीर लजाई।
भनइ विद्यापति से वर नामरि आत न पाबए कोई।
कँसदलन नारायन सुंदर तसु रंगिनी पए होई।।

क्यों न ऐसा सुंदर रूप नायक के मन को विचलित कर दे? तभी तो उसके चले जाने पर नायक के 'आशालुब्ध नयन' उसी ओर लगे रहते हैं और रह रह कर उसकी चेष्टाओं का ध्यान करते रहते हैं, जिनका वर्णन करता हुआ वह कहता–

आध आँचर खसि आध बदन हसि आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भेरि तब धरि दगधे अनंग।।

अर्थात् हे सखि, उसी समय से अनंग (मुझे) दग्ध कर रहा है। जबसे मैने उसके मुख पर आधी हंसी, आधी नयन तरंग देखी, आंचल से आधा ढके हुए पयोधर देखा।

इस प्रकार नारी सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने कमाल दिखाया है। कही वह गुरु नितंबों का वर्णन करता है, तो कहीं उसकी क्षीण कटि का। नायिका के जघन रंभा के सदृश हैं, त्रिबली की शोभा अवर्णनीय है, उसका चंद्रमुख, उन्नत उरोज सभी दर्शनीय है। कभी कवि का मन नायिका के खुले अंगों के सौन्दर्यवर्णन पर लगा है तो कभी उसकी गति पर रीझा है। इस प्रकार नारीसौन्दर्य के वर्णन में उन्होंने उत्प्रेक्षा अलंकार एवं रूपकातिशयोक्ति का बड़ा सुंदर संमिश्रण किया है। उदाहरण के लिए एक ही पद पर्याप्त होगा–

NMDC-065

माधव कि कहब सुंदरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे।
पल्लवराज चरणयुग शोभित गति गजराजक भाने।
कनक कदलि पर सिंह सभारल तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई
मनिमय हार धार बह सुरसरि लें नहिं कमल सुखाई।
अधर बिंब सन दसन दाडिम विजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि बसु नियरो न आवथि तें नहिं करथि गरासे।
सारँग नयन बचन पुन सारँग सारँग तसु समधाने।
भनइ विद्यापति सुन वर यौवति एहन जगत नहिं जाने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमादइ प्रति भाने।।

अर्थात हे माधव ! सुंदरी के रूप का वर्णन क्या करें? विधाता ने कितना यत्न करके सजाया है, मैंने अपनी आँखों देखा। उसके दोनों चरण कमल केसमान शोभित हैं, उसकी चाल गजराज के समान है। सोना के केले (जंघा) के ऊपर सिंह (कमर) सजाया; उसके ऊपर मेरु के समान पयोधर रखे। मेरु के ऊपर दो कमल खिलाए, वे बिना नाल के भी शोभा देते हैं। मणिमय हार गंगा की धारा के समान है, उसी से कमल सूखने नहीं पाता है। अधर बिंबफल के समान दाँत अनार के बीज के समान, रवि (सिंदुर विंदु) और चंद्र (मुख) एक दूसरे के निकट ही उगे हुए हैं। राहु (केश) दूर वास करता है, निकट नहीं आता, इसी से रवि शशि को ग्रसता नहीं है। उसके नेत्र हरिण के समान और वचन कोकिल के समान हैं, उसके कटाक्ष में कामदेव निवास करते हैं। कमलतुल्य मुख के ऊपर दस भ्रमर (चूर्ण कुंतल) केलि करते हुए मधुपान करते हैं। विद्यापति कहते हैं, हे युवतिश्रेष्ठ सुन, यह रस कौन जानता है? लखिमादेवी के पति रूपनारायण शिवसिंह यह जानते हैं।

कवि की पैनी दृष्टि ने नायिका को विभिन्न परिस्थितियों में देखने का भी प्रयत्न किया है। सबसे सुंदर वर्णन स्नान करती हुई नायिका का है। उसके अंगों पर चिपके हुए वस्त्र से निकलती हुई आभा को देखकर कवि का मन विमुग्ध हो गया है। केश झाड़ती हुई तथा उनसे गिरते हुए पानी की बूंदों को देखकर उसे ऐसा प्रतीत हुआ है मानों अंधकार रो रहा है। समस्त दृश्य के आनंद को उन्हीं के पद में देखिए–

कामिनि करए सनाने। हेरितहि हृदय हनए पचवाने।।
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुखससि डरे रोअए अंधारा।।

NMDC-065

कुच युग चारु चकेवा। निअ कुल मिलित आनि कोन देवा।।
तें सनकाए भुज पासे। बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासें।।
तितल वसन तनु लागु। मुनिहुक मानस मनमथ जागु।।
मनइ विद्यापति गावे। गुनमति धनि पुनमत जनि पावे।।

सौन्दर्याकर्षण के उपरांत प्रेमप्रसंग प्रारंभ होता है। विद्यापति ने प्रेम सम रखा है। पथ में जाती हुई राधा को देखकर भगवान कृष्ण की दशा का वर्णन देखिए। वे स्वयं कहते हैं—मैंने रास्ते में जाती हुई राधा को देखा। उस समय के उसके भाव ने मेरे प्राणों को पीड़ा पहुँचाई है। कुमुद के सर्वस्व (चंद्र, मुखचंद्र) की साध मेरे मन में रह गई। कमलिनी के समान सुंदर नयनों से वक्र दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा, मानों खंजन ने दृष्टि को शृंखलाबद्ध करके मेरी ओर दृष्टि की और फिर छिपा ली। उसने मृदु हँसी हँसकर अर्द्धचंद्रवदन दिखाया और आधा अपनी बाँह से ढक लिया। मानो चंद्रमा के एक भाग को मेघों के नीलांबर ने ढक लिया। इसी प्रकार राधा भी कृष्ण के सौन्दर्य को देखकर विचलित हो गई है वह भी कहती है–

सामर सुंदर एँ बाट आएल ताँ मोरि लागलि आँखि।
आरति आँचर साजि न मेले सबे सखीजन साखि।।
कहहिं मो सखि कहहि मो कथा ताहेरि बासा।
दूरहु दुगुन एड़ि मैं आवओं पुनु दरसन आसा।।
कि मोरा जीवने किं मोरा जौवने कि मोरा चतुरपने।
मदन बाने मुरुछलि अछों सहओं जीव अपने।।
आध पदे यो धरइते मोर देखल नागर जनसमाजे।
कठिन हिरदय भेदि न भेले जाओ रसातल लाजे।।
सुरपति पाए लोचन मागओं गरुड़ मागओं पाँखी।
नंदेरि नंदन मैं देसि आवजों मन मनोरथ राखी।।

क़ितनी सुंदर कामना है। वे कहती हैं श्यामल सुंदर इस पथ से आए, इसी लिए मेरी आँखें लग गईं। अनुराग प्राबल्य से आँचर (अंग) सजाया नहीं जा सका—सब सखियाँ साक्षी हैं। सखि, मुझे कहो, मुझे कहो, उसका अधिवास (वासस्थान) कहाँ है? दुगुनी दूर होने पर भी फिर दर्शन की आशा से मैं पथ का अतिक्रम करूँगी। मेरे जीवन, यौवन और चतुरपना का क्या प्रयोजन है? मदनबाण से मूर्छित होकर रहती हूँ, किसी प्रकार जीवन का भार सहन कर रही हूँ। उस नागर ने जनसमाज अर्थात् लोकजन के सामने मुझे अपनी ओर आधा पद आगे बढ़ाते देखा। (मेरा) कठिन हृदय भिन्न नहीं हुआ, लज्जा रसातल में चली गई। इंद्र के चरणों में लोचन के

NMDC-065

लिये प्रार्थना करती हूँ, गरुड़ से पंख की याचना करती हूँ। मनमनोरथ रखकर नंद के नंदन को देख आती हूँ।

विद्यापति ने प्रेमवर्णन को बड़ा मनोवैज्ञानिक ढंग दिया है। जब दोनों ओर से प्रेमलता बढ़ रही है, तब दोनों ओर से प्रयत्न होना कितना स्वाभाविक है। राधा की दूती कृष्ण को और कृष्ण की दूती राधा को मिलन के लिए उत्साहित करती है। मिलने के लिए शिक्षा दी जाती है। अभिसार कराया जाता है और तदुपरांत मिलनप्रसंग है। मिलनप्रसंग में हम उसी अंतरंग महल में पहुँचते हैं जहाँ विलासिता तथा कामकला का साम्राज्य है और जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इस महल में सखियाँ सजाकर प्रथम समागम के लिए नायिका को ले जाती हैं। मिथिला में यह पद आज भी विवाह के उपरांत प्रथम दंपति के प्रथम मिलन पर गाया जाता है। विद्यापति ने वात्स्यांयन के समस्त सांप्रयोगिक अधिकरण को सरल पदों में अभिव्यक्त कर दिया है। विद्यापति के मूल स्रोतों का वर्णन करते हुए हमने वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव का संकेत किया है। सुरत संबंधी पदों में कवि की मति खूब रमी है, और बड़े यथार्थ चित्र दिए गए हैं। आजकल की विचारधारा के अनुसार वहाँ विद्यापति ने समाजकल्याण की भावना की ओर ध्यान नहीं दिया। इस सुरतवर्णन में अश्लीलता आ गई है, परंतु खेद है कि हम इन विद्वानों से सहमत नहीं हो सकें। हम पहिले कह चुके हैं कि विद्यापति के काव्य का उद्देश्य मदनमनस्कों के लिए पथदीपक प्रस्तुत करना है। अत: उन लोगों की सभी बातें यथार्थ रूप में दी गई है। प्रसिद्ध कवि चंद ने भी संयोगिता की सुरत का वर्णन किया है। चंद ने भी विद्यापति में मिलता हुआ एक प्रसंग लिया है। महाराज पृथ्वीराज संयोगिता को अत्यंत कोमल समझ कर उसके साथ कामक्रीड़ा करने में झिझकते थे। सखियों से उनका यह संकोच छिपा न रह सका। अत: उन्होंने रूपक रचकर महाराज को सुरत के लिए प्रेरणा दी–

भजै न राज संजोगि सम, अति सुच्छम तनजानि।
तब सु सषी पंगानि वर, रची बुद्धि अप्पान।
मधि अंगन नव दल सु तरू, पत्र मोर धन उट्टि।
एक मंजर पर भ्रमर भ्रमि, वास आस रस विट्ट।
भार भ्रमर मंजरिन मिग, तुटत जानि उटि पंषि।
कछु अंतर राजन सुनहि, बोलि बयन दिषि अंषि।
रस घुट्टत लुट्टत मयन, नन डुलि मजरि याह।
भार भगत कथ्थह सुनी, अलियल मंजरि याह।
अप्पा आरुहि भ्रंग, मम डरई मद्ध देषि झीनंग।
पत्तली षग्ग धारा, हय गय कुंभस्थल हनई।

NMDC-065

जं केहरि नन झीनं, तं गज मत्त जूययं, दलए।
नव रमनि रमि राअं, एक पलं जम्म सुष्यांइ।

अर्थात जब संयोगिता को सखियों ने देखा कि राजा कामातुर एवं प्रेमासक्त होकर भी संयोगिता से रतिक्रीड़ा नहीं करता है क्योंकि वह उसे अत्यंत कोमलांगी समझता है। तब सखियों ने एक भ्रमर का रूपक लिया और वह कहने लगी कि कोई भ्रमर एक सुंदर मंजरी को नवीन डाल पर लगा हुआ देखकर मस्त हो रहा है। वह बार बार उसके चारों ओर घूमता है परंतु मजरी की कोमलता से प्रभावित होकर वह उसपर नहीं बैंठता है क्योंकि वह समझता है कि कदाचित उसके भार से वह टूट जाय। राजा को सुनाकर सखियाँ कहती हैं कि हे भ्रमर, कहीं भौंरे के बोझ से मंजरी को टूटते हुए सुना है। अत: तुम आनंद करो, मंजरी को दुर्बल समझ कर डरो मत। देखो तलवार जितनी पतली होती है उतनी ही हाथियों के मस्तक को छेदन करने में समर्थ होती है। सिंह की कटि कितनी पतली होती है परंतु वह गजयूथों के मस्तक को विदीर्ण करने में समर्थ होता है। अत: हे भ्रमर (राजन्) कामिनी को क्षीण कटिवाली देखकर डरो मत, अपितु रमण करो। यही संसार के सुख का सार है।

विद्यापति को रूपक रचने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, वहाँ सीधा सादा उपदेश है–

कोमल तनु पराभवे पाओअ तेजि न हलवि ते हु।
भमर भरेकि माअरि भागए देखल कतहु केहु।।
माधव, बचन धरब मोर।
नही नहि कथ न पतिआएब अपद लागत मोर।।
अधर निरसि घूसर करव भाव उपजत भला।
उने खन रति रभस अधिक दिने दिने ससि कला।।

कुछ शब्दों में तथा पंक्तियों में दोनों कवियों में साम्य है, परंतु विद्यापति की सखी इतने पर भी संतुष्ट नहीं हुई। उसने नायक को पुन: खुले शब्दों में संकेत किया जो इस प्रकार है–

वदर सरिस कुब परसव लहुँ। कत सुख पाओव करित उहुँ उंहुँ।
बाहुक बेढ़े परस निवार। नीवि मोष करए के पार।।
माधव अनुभव पहिलुक सग। नहि नहि करति इहे बहु रंग।
अधर पाने से हरति गेयान कमलकोष कए धरति पराण।।
बैरी डीठि निहारति तोहि। जनु भमरसि पुछिहिसि मोहि।
नूतन रस संसारक सार। विद्यापति कह कवि कंठहार।।

NMDC-065

सयोग शृंगार के अंतर्गत अभिमान, नोकझोंक, सुरतगोपन आदि आदि प्रसंग भी लिए गए हैं। विद्यापति ने उनका बड़ा सुंदर वर्णन किया है। हम केवल एक अत्यंत प्रचलित प्रसंग का वर्णन करेंगें। जिसमें चतुरा नायिका अपने सुरत को अपनी ननद से छिपाती है–

ननदी सरूप निरूमह दोसे।
बिनु विचार वेभिचार बुझओवह सासु करन्हि रोसे।।
कौतुक कमल नाल सयँ तोरल करए चाहल अवतंसे।
रोस कोस सर्य मधुकर आओल तन्हि अधर करु दंसे।।
सरवर घाट बाट कंटक तरु देखहि न पारल आगू।
साँकरि बाट उवटि कहु चललहु तें कुच कंटक लागू।।
गरूअ कुंभ सिर थिर नहि थाकए तें उघसल केस पास।
सखिजन सय हम पीछे पड़लहु तें मेल दीघ निसास।।
पथ अपवाद पिसुन परचारल तथिहु उतर हम देला।
अमरख चाहि धैरज नहि रहले तें गद गद सरं भेला।।
भनई विद्यापति सुन वर यौवित ई हम राखह गोई।
ननदी सयै रस रीति वढ़ावह गुपुत वेकल नहि होई।।

अर्थात नायिका कहती है कि हे ननद जी, आप मेरी आकृति देखकर मुझे क्यों दोष लगा रही है। देखो यदि आप मुझे व्यभिचारिणी कहेंगी तो व्यर्थ सासुजी क्रोधित होंगी। बात कुछ भी नहीं है। मैंने केवल कौतुकवश होकर एक मृणाल तोडा परंतु उसमें भौंरा बैठा हुआ था। वह क्रोधित हुआ और उसने मेरा अधर काट खाया। अत: अधर पर जो यह क्षत है वह भ्रमर का है किसी अन्य का नहीं। सरोवर से चली तो आगे काँटेदार वृक्षों में घिर गई। मुझे ध्यान नहीं रहा। संकीर्ण मार्ग था। देह मोड़कर चली, तो पयोधर क्षतविक्षत हो गए। जल से भरी गगरी को संभालने में केश सब अस्तव्यस्त हो गए। सखियाँ सब आगे हो गई थीं। अत: मैं दौड़कर चली। बस साँस चलने लग गया। रास्ते में दुष्टों ने मेरे ऊपर लांछन लगाना प्रारंभ किया, मैंने उनसे उत्तर प्रत्युत्तर किया, अत: देर हो गई। क्रोध के आवेश के कारण धैर्य नहीं रहा, अत: स्वर भंग हों गया ; विद्यापति कवि कहते हैं कि हे युवती यह सब छिपा कर रखो। यदि गुप्त को प्रकट नहीं करना चाहती हो तो ननद से प्रेम व्यवहारों को बढ़ाओ। समस्त पद में सुरत आनंद को लेकर आने की ध्वनि निकलती है। अत: अत्यंत उच्च कोटि का ध्वनिकाव्य कहा जा संकता है। पहली नायिका पूछती है–

जाहिलागि गेलहि ताहि कहाँ लइलिहै ता पतिवैरि पितु काहाँ।
अछलि है दुख सुखे कहह मुखे भूसन गमओलह जाहाँ।।

NMDC-065

सुंदरि, कि कए बुझाओव कंते।
जन्हिका जनम होइत तो हे गेलिहे अइलि है तन्हिका अंते।।

अर्थात हे सखि, जिसके लिए गई थी उसे कहाँ लाई ! उसके पति के शत्रु का पिता कहाँ है? जिस स्थान पर अंगराग खो आई है, दुख सुख में (किस प्रकार) थी, अपने मुँह से बोल ! हे सुंदरी, बता तो सही अपने पति को क्या कहकर समझाएगी? जिसका जन्म होते ही गई थी अब उसके अंत होने पर आई है ! (अर्थात! हे सखी तू जल लेने गई थी बता तो सही तेरी गगरी कहाँ है? अपने मुख से अपने दुख सुख की कहानी तो कह ! तू इतनी क्यों घबड़ाई हुई है? हे सुंदरी अपने पति को क्या जवाब दोगी? तुम प्रात:काल गई थी और अब सायंकाल को आई हो–दिन भर कहाँ रही?) सखी उत्तर देती है–

जाहिलागि गेलाहु से चलि आएल तें मोहि धएलाई नुकाई।
से चलि गेल ताहि लए जललाहुं ते पथ भेल अनेआई।।
संकर वाहन खेड़ि खेलाइते मेदिनि वाहन आगे।
येसब अछलि संगे से सब चललि मंगे उबरि अएलांहु अछ भागै।।
जाहि दुइ खोज करइछहि सासुन्हि से मिलु अपना संगे।
भनइ विद्यापति सुन वर जउविति गुपुत नेह रति रंगे।।

अर्थात जिसे लेने गई थी वही चला आया। और जब वह चला गया तब मैं चली। रास्ता अन्य प्रकार का हो गया। एक ओर से शंकरवाहन (बैल) लड़ रहे थे, दूसरी ओर से भेदिनि वाहन (सर्प), आगे आगे जो संग की सखियां थी वे सब आगे बढ़ गई। मैं तो आने भाग्य से बच कर आ गई। और जिन दोनों की खोज सासुजी कर रही हैं वह अपने अपने संग में मिल गए। विद्यापति कहते हैं, हे श्रेष्ठ युवती सुनो गुप्त स्नेह और रतिरंग अनुमानित हो रहा है। (अर्थात मैं जल लेने गई थी वर्षा आ गई इसलिये मुझे रुकना पड़ा, और जब वर्षा चली गई तब मैं चली, रास्ते में फिसलन हो गई थी। एक ओर बैल लड़ रहे थे दूसरी ओर से साँप सामने आ गए, सखियाँ सब भाग गई, बड़ी कठिनाई से मैं बच कर आई। सासुजी जल और घड़े की खोज कर रही हैं, घड़ा सिर से गिरकर फूट गया। अत: जल जल में मिल गया और घड़े की मिट्टी मिट्टी में मिल गई।)

इस प्रकार के एक नहीं अनेक पद पदावली में प्राप्त होते हैं। इन सब में संक्षेप में वही पार्थिव सौन्दर्य है। उसके लिए आकर्षण है, जिज्ञासा है, मिलन का प्रयत्न और प्राप्ति पर उन्मुक्त विलासमय उपभोग है। वहाँ न किसी रहस्य को स्थान है, और न किसी आमुष्मिकता का संकेत। वहाँ सुरत में वह तन्मयता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ वह अनुराग है जो तिल तिल नूतन होता है, वहाँ रूप की अतृप्त वासना है जो कभी पूरी नहीं होती। वहाँ बस

NMDC-065

यही सार वस्तु हैं–एक तिल भर के लिये मिलन और यावज्जीवन अनुराग, और परम पद के लाभ के समान आनंदित हृदय से चिरकाल रमण करने का संदेश।

यह है विद्यापति का संभोग शृंगार का वर्णन। सब में बाह्य सौन्दर्य के अपूर्व चित्र हैं। कदाचित् डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसी पक्ष पर दृष्टि डालकर लिखा है–'विद्यापति ने अंतर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना बाह्य जगत का। उन्हें अंतर्जगत की सूक्ष्म वृत्तियाँ बहुत कम सूझी हैं। उन्हें उनसे मतलब ही क्या? उन्हें तो सद्यःस्नाता अथवा वयःसंधि के चंचल कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूँथनी थी।

हम डॉ. साहब से सहमत हैं कि उनका वर्णन शुद्ध ऐहिक शृंगार है, जिसमें उन्होंने निश्छल रूप से कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूँथी हैं। परंतु क्या डॉ. साहब ने शृंगार रस के संयोग पक्ष के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया है? क्या उन्होंने साहित्य दर्पणाकार के 'तनुस्पर्शादिस्या' छंद में वर्णित भावों का ध्यान रखा है। जहाँ हास परिहास से अंग स्पर्श हुआ वहाँ संयोग में आत्मा रसावस्था में लीन हो जाती है। वहाँ समस्त अंतर्द्वंद्व समाप्त हो जाते है। जब यह बात है तो अंतर्जगत का चित्र कैसा? यह आनंद तो अनिर्वचनीय है। हाँ यदि अंतर्जगत की हलचल देखनीं है तो आइए विद्यापति के वियोग शृंगार को देखें। विप्रलंभ अथवा वियोग वह स्थल है जहाँ कवि का अंतस्तल में बैठकर हृदय का रहस्य उद्‌घाटन करने का अवसर मिलता है। विरहवर्णन भी उनका बड़ा अद्वितीय है।

विद्यापति का विरहवर्णन–विरह प्रेम की कसौटी है। इस अग्नि में तपकर ही प्रेमरूप स्वर्ण की आभा अपनी चमक लाती है। विरह को हमने प्रारंभ में चार प्रकार का कहा है। विद्यापति ने मान और प्रवास दो का ही वर्णन किया है। मानजन्य विरह केवल कृत्रिम होता है। वह प्रणयजन्य कलह ही कहा जाता है जिसका परिणाम मिलन और सुरति होती है। विद्यापति के शब्दों में 'खनरि खन महधि भइ किछु अरुन नयन कइ, कपटे धरि मान संमान लेहि।' अर्थात कपटी क्रोध दिखाकर प्रियतम से आदर लेना ही मान का कारण होता है। विद्यापति ने मानजन्य विरह को अधिकतर आनंदकेलि के ही अंतर्गत लिया है। यहाँ काल्पनिक मान अपनाकर रातों करवटें बदलने की ऊहा नहीं प्राप्त होती। हाँ वाक्चातुर्य अवश्य है। अपराधी कृष्ण प्रातःकाल आए हैं। राधिका संभवतः अपना महत्व जताने के लिये रुष्ट हो गई है। कृष्ण को अपनी रात की केलियों को छिपाना है अतः वह राधिका के सामने कहते हैं–

सुन सुन सुंदरि कर अवधान। बिनु अपराध कहसि काहे आन।।
पूजलुं पसुपति जामिनि जागि। गमन विलंब भेल तेहिलागि।।
लागल मृगमद कुंकुम दाग। उचरइत मंत्र अधर नहि राग।।

NMDC-065

रजनि उजागरि लोचन मोर ।ताहि लागि तोहें मोहे बोलसि चोर।
नवकविसेसर कि कहव तोय। सपथ करह तब परतीत होय।।

अर्थात हे सुंदरी (सखि) मन देकर सुन, तुम बिना अपराध ही मुझे अन्य बातें कह रही हो। रात को जागकर शिवपूजा की, इसीलिए आने में देर हुई। (पूजोपकरण) मृगमद कुंकुम का दाग लग गया है। (सारी रात) मंत्र उच्चारण करते रहने से अधर रागशून्य हो गए हैं। रात्रि जागरण से आँखें लाल हो गई हैं। इसीलिए तुम मुझे चोर कह रही हो? नवकविशेखर तुमको क्या कहे यदि तुम शपथ करके कहो तो विश्वास हो।

अब प्रश्न शपथ का है। कदाचित साधारण शपथ से संभवत राधा का क्रोध शांत न हो। अत: प्रसंगानुकूल दंडविधान भी है। कृष्ण कहते हैं कि हे मानिनी ! मान का परित्याग करो, मैं तुम्हारे स्तनरूपी स्वर्ण घट पर रखा हुआ जो यह हाररूपी सर्प है इसका स्पर्श करके कहता हूँ कि यदि मैंने तुमको छोड़कर अन्य किसी स्त्री का स्पर्श किया हो तो यह नाग मुझे डसे और अब भी यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो यथायोग्य दंड दो परंतु मान छोड़ दो। मैं स्वयं ही दंड की व्यवस्था किए देता हूँ। तुम मुझे अपनी भुजाओं के पाश में बाँधों और अपने जघनों द्वारा प्रतांड़ित करो। और यदि इससे भी तुम्हारी तृप्ति न हो तो अपने कुच रूपी पत्थरों से दबा दो और आजन्म अपने हृदयरूपी कारागार में डाल दो। धन्य हैं विद्यापति ! कितनी सुंदर शपथ और कितना सुंदर दंड, इस प्रकार की व्यवस्था विद्यापति जैसे कवि ही कर सकते है।

इस प्रकार मानजन्य पदों में वाक्पटुता काआधिक्य है। कहीं उक्तियाँ भी तीखी हैं परंतु अंतर्जगत की उन दशाओं का वर्णन नहीं है जो रसिकों को तड़पा दिया करती है। इस प्रकार का वर्णन प्रवासजन्य विरह में ही प्राप्त होता है। प्रवासजन्य विरह की भूमिका भी बड़ी सुव्यवस्थित पद्धति पर है। राधा कुलकामिनी हैं। वह सहसा सुनती हैं कि कल कृष्ण मथुरा जा रहे हैं। उसके लिये यह समाचार बज्रपात है। उसका हृदय उद्वेलित हो उठा है। गुरुजनों की लज्जा का प्रश्न है क्या करे। वह सखी से प्रार्थना करती है कि हे सखी तू जाकर प्रियतम से कह दे कि यह समय बाहर जाने का नहीं है। परंतु जब वह देखती है कि कृष्ण जा ही रहे हैं तब वह लज्जा छोड़कर अपने प्रियतम से स्वयं अनुनय विनय करती है और कहती है–

माधव, तोहें जनु जाह विदेस।
हमरो रंग रमत लए जेवह लेवह कौन सनेसे।।
बनहिं गमन करु होएति दोसर मति विसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब फेरि माँगब पहु तोरा।।
जलन गमन करु नयन नीर भरु देखिओ नि भेल पहु तोरा।

NMDC-065

एकहि नगर बसि पहु भेल परवस कइसे पुरत मन मोरा।।
पहु संग कामि न बहुत सोहागिनी चंद्र निकट जइसे तारा।
भनहि विद्यापति सुनु बर जौमति अपना हृदय धरु सारा।।

हे माधव ! आप कृपा कर विदेश न जाएँ। देखो, थोड़ी दूर जाने पर भी मनुष्य की बुद्धि बदल जाती है। मैं आपसे कुछ नहीं चाहती मैं केवल आपके प्रेम की अभिलाषिणी हूँ। मुझे न धन चाहिए न मान, देखो सुहागिनी वही है जो प्रियतम के पास रहे। कितनी सीधी और सुंदर हृदय की वेदना का प्रकाशन है।

परंतु कृष्ण चले गए। राधा के ऊपर विरह का वज्र टूट पड़ा, उसका समस्त कौशल धूल में मिल गया। उसका हृदय शून्य हो गया। उसका जीवन ही व्यर्थ है। उसे न अब नींद है न भूख। स्वप्न में भी प्रिय का संगम दुर्लभ हो गया क्योंकि नींद टूट गई। कैसी विषम अवस्था है–

सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा बिहि विघटाओल निंदओ हेराएल रे।।

विद्यापति की पदावली में प्रेमोन्मत्ता प्रलाप करती हुई राधा के हृदय का हाहाकार प्रत्यक्ष हो उठा है। जैसा हम पहिले कह चुके है कि बिरहवर्णन में विद्यापति ने अनुभूतियों पर अधिक बल दिया है। विरहिण नायिका कहती है–

सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस हिया।।
नखर खोआओलु दिवस लिखि लिखि।
नयन अंधाओलु पिआपथ देखि।।
जब हम बाला परिहरि गेला।
किए दोस किए गुन बुझइ ने भेला।।
अब हम तरुनि बुझब रस भास।
हेन जन नहिं मोर काहे पिआ पास।।
आएब हेन करि पिया मोर गेला।
पुरबक जत गुन विसरित मेला।।
मनइ विद्यापति सुन अब राइ।
कानु समझाइत अब चलि जाइ'।।

NMDC-065

अर्थात् विरहिणी नायिका कहती है। हे सखी, प्रीतम अबतक पलट कर नहीं आए। मेरा हृदय भी कैसा बज्र कठोर है जो अबतक दु:ख से विदीर्ण भी नहीं हुआ। प्रीतम के आने का दिवस लिखते लिखते मेरे नख घिस गए हैं और प्रीतम की राह ताकते ताकते मेरे नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई है। हे सखी, जिस समय प्रीतम मुझे छोड़कर चले गए थे उस समय मैं भोली भाली किशोरी थी अत: उस समय प्रीतम मेरे गुण दोषों को भली भाँति नहीं जान सके थे। परंतु अब तो हे सखी मैं पूर्ण व्यस्यका तरुणी हो गई हूँ और रास विलास की बातों को समझने लगी हूँ। अब इस समय मेरे प्रीतम मेरे पास क्यों नहीं आते है। हे सखी, मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि जब रास विलास का समय आया तो मेरे प्रीतम मुझे छोड़कर चले गए। इस कारण पहले के मेरे जितने भी गुण थे वह उन्हें सब बिसर गए। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे राधे सुनो हम प्रयत्न करके कृष्ण को समझाएंगे कि वह तुम्हारे पास लौट कर चले आएँ।

विरहचित्रण में विद्यापति अनुभूति से काम ले रहे हैं, पांडित्य पिछड़ गया है। यही कारण है कि हमे शास्त्रोक्त विरह की दशों दशाएँ तो मिलती रही हैं, परंतु इनके अतिरिक्त भी विरहिणी की अनेक दशाओं का चित्रण हमारे सामने उपस्थित हो सका है। विप्रलंभ श्रृंगार से 10 दशाएँ इस प्रकार निरूपित की गई हैं– स्मरण, गुणकथन, अभिलाषा, मूर्च्छा, व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, उन्माद, मरण। विद्यापति-पदावली से इन सभी दशाओं का उदाहरण दिये जा सकते हैं–

एक दिन छिल नवरीति रे, जल मिन जेइन प्रीति रे (स्मरण)
पहिले पिया मोर सुख मुख हेरि हेरि तिलयक छोड़ल न अंग
अपरुब प्रेम पास तनु गाँथल, अब ते जल मोर संग
(गुणकथन)

कत दिन चाँद कुमुद हब मेलि कत दिन कमल भ्रमर करु केलि
कत दिन पिय मोर पूछब बात कबहु पयोधर देहब हाथ।
(अभिलाषा)

वर रामा हे। सो किय बिछुरन जाय
कर धरि माथुर अनुमति मांगल तत ह पड़ल मुरछाय (मूर्छा)

कि कहब सुंदरि तोहरि काहिनी कहहि न पारिअ देखलि जहिनी
अनिल अनल सम मलअज वीख जे छल सीतल से भैला तीख।
(व्याधि)

सजनी, को कहु आयब कन्हाई।
विरह पयोधि पार किय पायब से मन नहिं पतियाई।
(उद्वेग)

NMDC-065

कह तु कह सखि बोल तु बोल तु रे हमर पिया कोन देश रे
मदन सरानत इह तनु जर जर कुशल सुनत संदेस रे।

(प्रलाप)

नीकर पुरुष पिरिती। जिव दय संतर युवती।।
नीचल नयन चकोर। ढरिए ढरिए पलनोर।।

(जड़ता)

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरी भेल मधाइ–

(उन्माद)

मधु पुर गेल भगवान रे हुन बिनु त्यागव प्रान रे–

(मरण)

प्रेमियों के विरहावस्था के मनोभावों में से कौन सा भाव ऐसा है जो विद्यापति ने छोड़ दिया है या जिसका उन्होंने असफल चित्रण किया है। विरहणी को जीवन इतना भारी हो जाता है कि उसे मृत्यु सुंदर लगने लगती है। वह आत्मघात की बात सोचती है परंतु आत्मघात तो पाप है, कैसे करे। पक्षी होती तो वह प्रियतम के पास उड़ जाती।

संक्षेप में विद्यापति ने विरह का बड़ा सुंदर चित्रण किया है। हम केवल एक विरहिणी नायिका का चित्र देने का प्रयत्न करते हैं–

लोचन नीर तटिनि निरमाने ।करए कमल मुखि तथिहि सनाने।।
सरल मृनाल करड जयमाली ।अहनिस जय हरि नाम तोहारी।।
वृंदांवन कान्हु धनि तप करई ।हृदयवेदि मदनानल वरइ।।
जिवकर समिध समर कर आगी ।करति होम बध होएवह भागी।।
चिकुर वरहिरे समरि करे लेअइ ।फल उपहारपयोधर देअइ।।
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी ।तुम पथ हेरइत अछि वर नारि।।

अर्थात, नयनों के नीर से मानों नदी निर्मित हुई। कमलमुखी उसमें स्थान करती है। हे हरि, सरस मृणाल की जपमाला बनाकर (राधा) अहनिशि तुम्हारा नाम जपती है। (हे) कन्हाई, धनी (राधा) वृंदावन तप करती है, हृदयवेदी पर मदनानल जलता है। जीवन को इंधन करके, स्मृति को अग्नि बनाकर होम करती है, तुम (उसके) बध के भागी होंगे। चिकुर का गुच्छा बनाकर हाथ में लेती है, पयोधर फल उपहार देती है। विद्यापति कहते हैं, मुरारि सुनो, सुंदरी नारी तुम्हारा पथ देखती है।

NMDC-065

विद्यापति की पदावली में एक से एक बढ़िया रत्न हैं। सब अपने अपने स्थान पर अपूर्व हैं, सबमें कोई न कोई विरह की अवस्था का सुंदर भावात्मक चित्र प्राप्त हो जाता है। उनके चित्रों में वर्णनात्मक प्रवृत्ति अधिक है, संवेदनात्मक कम। ऋतुपरिवर्तन में प्रेमिका के हृदय का हाहाकार बढ़ जाता है। समस्त प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही विरह में ली गई। यथा–

सखि हे हामारि दुखेर नाहि ओर।
ए भर बादर महि भादर शून्य' मंदिर मोर।।
झांप घन गरजंति संतति भुंवन भरि वरिखंतिया।
कंत पाहुन काम दारुन सघने खर सर हंतिया।।
कुलिस कत शत पात मोदित मयूर नाचत मांतिया।
मत्त दादुरि डाके डाहुकि फाटि जायत छातिया।।
तिमिर भरि भरि घोर जामिनी न धिर विजुरिक पांतिया।
विद्यापति कह कैछे गोडायबि हरि बिने दिन रातिया।।

प्रकृति वर्णन– प्रकृति मानव की चिरसंगिनी है। इसके प्रागंण में रहकर, इसके सतत परिवर्तनों का अवलोकन कर नाना प्रकार के भावों की प्रेरणा मानव सदैव पाता रहा है। विद्यापति ने प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को कम देखा है। वह नायिका के भावों का अनुकरण मात्र करती हुई चित्रित की गई है। यद्यपि प्रकृति के विविध चित्र तो प्राप्त होते हैं परंतु अधिकतर वे आलंकारिक अथवा उद्दीपन के रूप में हैं। राधा और कृष्ण के वर्णन में मुख्यत: राधा के शरीर निर्माण के लिए सभी प्राकृतिक वस्तुएँ उपस्थित कर दी गई हैं। यथा–

माधव कि कहव सुंदरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे।

इस पद में विद्यापति ने संपूर्ण प्रकृति के उपमानों का संग्रह कर राधा के अंगों की सुंदरता का वर्णन किया है।

प्रकृति का सुंदर एवं मधुर रूप वहाँ देखने को प्राप्त होता है जहाँ विलास की रंगभूमि में परिस्थितियों के अनुकूल कवि ने प्रकृति के रंगीन चित्र को दिया है–

नव वृंदावन नव नव तरुगन नव नव विकसित फूल।
नवल वसंत नवल मलयानिल मातल नव अलि-कूल।।

यही प्रकृति विरह में शरीर को प्रतप्त करने वाली हो जाती है। कुंजकुटी के नए फूल, कोकिला का पंचम गान, मलयानिल का हिम शिखर पर जाना और प्रिय का न आना असह्य है। चंद्रमा

NMDC-065

शरीर को भस्म कर रहा है। बसंत में प्रिय का प्रवास में रहना सचमुच विधाता की वामता है। जीवन को धिक्कार है यदि यौवन में भी प्रियतम पास नहीं रहें। इस प्रकार की भावनाएँ न जाने कितनी बार विद्यापति के पदों में दोहराई गई हैं। वर्षा आ गई, भादो का मास लग गया। वर्षा का वर्णन सुंदर शब्दों में है–

तिमिर भरि भरि घोर जामिनी, नधिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैछे गोडायवि हरि बिने दिन रातिया।।

विद्यापति ने वसंत को नवजात शिशु का रूपक देकर वर्णन किया है। उसको राजा बनाया है और उसी के उपयोग में आने वाली वस्तुओं का वर्णन कर उस रूप का आभास दिया है जिसे हम मानवीकरण कह सकते हैं। वसंत के इस वर्णन में कवि के राजदरबार का अप्रत्यक्ष रूप से चित्र प्रतीत होता है। कवि की प्रतिभा ने रूपक का निर्वाह बड़ी सरसता से किया है। सच बात तो यह है कि कवि की प्रकृति प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में उतनी नहीं रमी जितनी विलासिला एदं कामुकता के चित्रों के सुंदर अंकन में। उनके प्राकृतिक चित्र भी वही सुंदर हैं जहाँ वे विलासिता की पृष्ठभूमि में अंकित किए गए हैं अथवा उस परिस्थिति को अधिक तीव्रतर बनाने के लिए काम में आए हैं। यथा, रति को समाप्त कर देने की प्रार्थना पर प्रात:काल का वर्णन अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है[1]।

विद्यापति के काव्य का भावपक्ष और कलापक्ष—विद्वानों ने कविता में दो पक्ष माने हैं। भावपक्ष और कलापक्ष। वस्तुत: भावपक्ष ही काव्य की आत्मा है। भावपक्ष के बिना काव्य केवल पद्यरचना मात्र रह जाता है। परंतु मनुष्य सौंदर्य उपासक है वह अपनी कृति को सुंदरतम बनाने में प्रयत्नशील रहता है। वह अपने हृदय में उठे हुए भावों को सुंदरतम रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है। उसके इसी प्रयत्न से कलापक्ष का जन्म होता है। इस कलापक्ष का ही दूसरा नाम अलंकारों का प्रयोग है। साहित्यशास्त्र में अलंकार प्राय: दो प्रकार के हैं—शब्दालकार जिनमें अनुप्रास और यमक अधिक प्रसिद्ध हैं, दूसरा अर्थालंकार है जिसकी कोई संख्या निश्चित नहीं है।

विद्यापति के भावपक्ष का संकेत हम उनके शृंगार वर्णन (संयोग और वियोग) में कर चुके हैं। किस प्रकार शैशव और यौवन के मिलनबिंदु पर नायिका के हृदय में आंतरिक उद्वेग होता है, किस प्रकार उसके आचरणों में विचित्रता आ जाती है, किस प्रकार वह इधर-उधर देखती हुई चलती है। विरह और प्रेम में क्या-क्या दशा होती है। इस प्रकार के सुंदर चित्र विद्यापति के भावजगत के द्योतक हैं। उदाहरण हम यथोस्थान दे चुकें है अत: यहाँ उनका दोहराना केवल समय नष्ट करना होगा। इन पदों में यद्यपि अलंकार भी आ गए हैं और यथास्थान हमने उनका नाम भी दिया है। यथा, विरहिणी वाला का रूपक (लोचन नीर तटनि निरमाने, तथा राधा का

NMDC-065

नखशिख वर्णन। परंतु फिर भी हम यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि विद्यापति ने अलंकारों का भी बड़ा सुंदर प्रयोग किया है। इस दृष्टि से भी वह किसी कवि से पीछे नहीं हैं।

संस्कृत साहित्य में कालिदास की प्रसिद्धि उपमा अलंकार के लिए है। विद्यापति भी उपमा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। उनकी उत्प्रेक्षाएँ अनूठी हैं। उपमा के कुछ उदाहरण तो पिछले पद्यों में आ चुके हैं, परंतु उदाहरण के लिये यहाँ कुछ और दिए जाते हैं।

(1) पानी में स्नान करने कारण अंजनहीन नेत्रों को कवि ने अनेक प्रकार की उपमाओं से देखा है- यथा–

नीर निरंजन लोचन राता, सिंदुर मँडित जनि पंकज पाता

उपमा के कुछ अन्य उदाहरण–

(2) कनक लता सन सुंदरि ग, विहि निरमाओलि आनि।

(3) गेलि कामिनी गजहु गामिनी

(4) चिकुर निकर तम सम आनन पुनिम ससी।

विद्यापति के उत्प्रेक्षा अलंकार का भी बड़ा सुंदर प्रयोग किया है। सद्यःस्नाता के केशों से गिरते हुए जल को देखकर कवि कहता है कि मानों अंधकार चंद्रमा के डर से रो रहा है–

(1) 'चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा'।

(2) नाभिं विवर सयं लोम लतावलि भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चचु भरम भय कुच गिरि संधि निवासा।।

(3) कनक लता अरविंदा, दमना माँझ जनि उगल चंदा।

वस्तुतः विद्यापति ने अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी सुंदरता से किया है। यद्यपि उपमान सभी प्राचीन हैं परंतु उनका स्थापन बड़ी विदग्धता से किया गया है। हम संक्षेप में कुछ अलंकारों के नाम तथा उनके उदाहरण उपस्थित करते हैं–

शब्दालंकार

अनुप्रास–

कमल मिलल दल मधुप चलल घर विहग गहल निज ठाने।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन बड़ पाँउर दुर गामे।

NMDC-065

यमक–

सारंग नयन धयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केंल करथि मधु पाने।

अर्थालंकार

अतिशयोक्ति– कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

विरोधाभास– मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।

यथासंख्या– जते देखल तत कहिअ न पारिअ छपो अनुपम एक ठामा।

पिक बूझल अनुमानी। नयन, वदन, परिमल, गति, तनुरूचि अओं अति सुललित बानी।

व्यतिरेक– अधर बिंब अध आई।

भोह भ्रमर नासापुट सुंदर से देखि कीर लजाई।

पर्यायोक्ति– मरमक वेदन मरमहि जान आनक दुख आन नहि जान।

एकावली– सरसिज विनु सर, सर बिनु सरसिज की सरसिज बिनु सूरे।

जीवन बिनु तन, तन बिनु जौवन की जौवन पिअ दूरे।

असंगति दिठि अपराध परान पय पीड़सि से तुम कौन विवेक।

विशेष–कनक लता जनि संचर रे महि निर अवलंब।

तदगुण –अनुखन माधव माधव रटइत सुंदरि भेलि मधाई।

संदेह–कनकलता अरविंदा दमना मौहि उगि गेल चंदा।

केओ कहे सबल छपला केओ बोले नहिं मेघ झांपला।

श्लेष–अहनिस जप हरि नाम तोहारी।

अपह्नुति–

गरुअ कुंभ सिर थिर नहिं रह तें उथसल केसपासे।
सखिजन सँ हम पाछाँ पड़लिहुँ तें मेल दीघ निसासे।

सुभाषित तथा लोकोक्तियाँ–भाषा को बल देने के लिए कविगण सुभाषित, सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करते हैं। अपभ्रंश साहित्य परिचय में हमने अपभ्रंश कवियों की इस विशेषता पर विशेष

NMDC-065

बल दिया ह। हमार विद्यापति भी पीछे नहीं रहे हैं। डॉ. उमेश मिश्र ने अपनी पुस्तक विद्यापति में ऐसी सुंदर उक्तियों का अपूर्व संग्रह किया है। उदाहरणार्थ उनमें से यहाँ कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं–

1 – आसा लुवुघल न तजव रे कृपनक पाछि भिखारि।
2 – वैभव गेने रहय विवेक, तेसन पुरूष लाख थिक एक।
3 – प्रेमक कारन जीव उपेखिय जग जन के नहिं जाने।
4 – सुजनक प्रेम हेम समतूल, दहइत कंनक दिगुन होय मूल।
5 – एहि संसार सारबथु एक तिलएक संगम, जावे जिव नेह।
6 – विपति चिन्हिय भल मंदा।
7 – वचन क कौसल जीतिअ वाद।,
8 – काम प्रेम दुहु एक मत भय रहु कखने की न करावे।
9 – मागि लायब वित से जदि हो नित अपनं करब कोन काज।

उपसंहार---विद्यापति के इस संक्षिप्त वर्णन से उनके पांडित्य, उनकी काव्यप्रतिभा, उनके शास्त्रज्ञान एवं अभ्यास, तथा वाक्यपटुता आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने जीवन काल में ही ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनकी अनेक उपाधि एवं उपनाम मिलते हैं जिनमें से (1) अभिनय ज़यदेव, (2) कविशेखर, (3) कवि रंजन, (4) कविराज, (5) कवि कंठहार, (6) दश अवधान तथा (7) पंडितराज अधिक प्रसिद्ध हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो प्रत्येक उपनाम में उनकी प्रवृत्ति झलक रही है, और उनके काव्य का लक्षण दे रही है।

विद्यापति ने पदावली में संसार के मूल रागतत्व को ही अपनाया है। अत: उनका समस्त साहित्य मानवीय रागात्मिका प्रवृत्ति का द्योतक है। वह सदैव अमर रहेगा। गियर्सन का कहना है कि हिंदूधर्म अस्त हो सकता, संसार राधाकृष्ण के प्रेमगीतों तथा उनके प्रेम के लिए अपनी श्रद्धा खो सकता है परंतु विद्यापति के प्रेमगीतों का प्रेम बना रहेगा। पदावली का मूल स्रोत हमने तत्कालीन जीवन एवं समाज को माना है। अत: पदावली में प्रेममूलक जीवन के अतिरिक्त विरक्तिमूलक, भक्तिमूलक तथा संस्कारमूलक पदों का भी अभाव नहीं। वहाँ देवी की वंदना है, नचारी है, महेश दानी तथा विष्णु पद है। यौवनावस्था की रतिकेलियों से वितृष्णा उत्पन्न होने पर भगवान से क्षमाप्रार्थना है। शेष वयस में एकांत आत्मसमर्पण के भाव भी वहाँ है। यथा–

जावत जनम हम तुअ पद न सेविलु जुवती मतिमय मेलि।
अमृत तेजि किये हलाहल पायलुं संपदे विपदहि भेलि।।
निधुवने रमनि संग रसे मातलु तोहे भजब कौन वेला।।

NMDC-065

माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतए तोहरे विसवासा।
कखन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेलदुखहि गमाएव सुख सपनहु नहि भेल, हे भोलानाथ।

अत: पदावली में जीवन और समाज का यथावत चित्रण है। अपभ्रंश का युग समाप्त हो गया था। आधुनिक भाषाओं का युग प्रारंभ हो गया था। विद्यापति ने पूर्व और पश्चिमी शृंगारवर्णन परंपरा का अपूर्व समन्वय किया है। विद्यापति की यह निजी महत्ता है कि उनमें संयोग शृंगार का आधिक्य है। संयोग के चित्रों को उन्होंने बड़ी तन्मयता से अंकित किया है। वियोगपक्ष भी हृदयशून्य नहीं है। उनका समस्त प्रकृतिवर्णन प्रसंग के अनुकूल है। वह अधिकतर उद्दीपन या अलंकार के रूप में है, स्वतंत्र रूप में कम है। कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवि विद्यापति की कविता में केवल अनुभूति की प्रधानता की ओर ही कवि का ध्यान नहीं गया वरन अनुभूति के साथ साथ कवि ने कला का भी सुंदर सामंजस्य किया है। इस सामंजस्य के कारण ही उनका स्थान संसार के महाकवियों की परिधि आता है।

NMDC-065

5. कबीर

हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर धर्म गुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए, परन्तु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधारक के रूप में, सर्व-धर्मसमन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरिं अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर-कथित हरि की कथा का विविध रूप में उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साहपरायण विद्वान गलती से कबीर को इन्हीं रूपों में से किसी एक का प्रतिनिधि समझकर ऐसी-ऐसी बातें करनें लगते है जो असगत कही जा सकती हैं।

भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवा फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्त्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वादन कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी-सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर-जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्दी जानता है: तुलसीदास। परन्तु

NMDC-065

तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछ को झाड़-फटकार कर चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कमर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाए तो और कहा क्या जाए? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट और आनन्दमय लोक की बात करते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने बसन्त रहता है, निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है फिर भी जैसा कि एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियन्त्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं– (1) सादगी और सहजभाव पर निरन्तर जोर देते रहना, (2) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना, और (3) सब प्रकार के विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसन्धिता के द्वारा सहज ही गलत दिखनेवाली बातों को दुर्बोध्य और महान बना देने की चेष्टा के प्रति वैर-भाव। इसीलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखायी देते हैं। कबीर-दास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके सन्त-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

NMDC-065

कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाए तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु आजकल सर्व-धर्म-समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर-संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़े-से-बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च-से-उच्च समझी जाने वाली धर्म-पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और सम्भ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्त्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं!

जो लोग हिन्दू-मुसलिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरुप को भूलकर उसके एक देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनो धर्मों के उच्चतर भावों में सामजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ायी है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु पर से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है

NMDC-065

तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीचे का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचारवर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेण्ट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्यविधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही देखना नहीं है। वे मूलत: भक्त थे। भगवान पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने-आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाले न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकारकर कह उठते 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझायी जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदास ने इस बात को हजार तरह से कहा है। इस भक्ति या भगवान् के प्रति अहैतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं, पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है—बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।

प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमण्डी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद

NMDC-065

के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में, स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति अपने और प्रिय के प्रति अखण्ड विश्वास की परिचायक है; जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान के प्रति भक्त का अनन्य-परायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवान के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब-कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब-कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटे-से-छोटा भी हो और बड़े-से-बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी; जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनता का भी; और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का। परन्तु भगवान के लिए सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव द्वारा साक्षात्कार किए हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैं; पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा' (तुलसीदास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतो-व्याघात कहकर सन्तोष कर लेता हैं। यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान के अनिर्वचनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वाणी के प्रकाशन-क्षेत्र के बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर-विरोधी और अविरोधी शब्दों द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता; वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है।

भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक हैं! यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गयी है! पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति, जो इतने क्षेत्रों को उद्‌भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह

NMDC-065

समझना कि उद्‌भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्‌भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बात का निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर, सतह पर चक्कर काटने वाले समुद्र भले ही पार कर जाएं, पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटने वालों से विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदास के पदों में जो महान प्रकाशपुंज है, वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है। वह म्यूजियम की चीज नहीं है बल्कि जीवित प्राणवान वस्तु है। कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गयी हैं, और भी लिखी जायेंगी, पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गयी थी, पर उसकी गहराई का पता तो मन्दर पर्वत को ही था जिसका विराट् शरीर आपातालनिमग्न हो गया था :

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपाताल - निमग्न - पीवरतनुर्जानाति मन्द्राचलः।

सो, कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है, उसके लिए कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रम से वह भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आयी विशेषताएँ वर्त्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है।

NMDC-065

6. कबीर: मानव धर्म और मूल्य बोध

रघुवंश

कबीर का अध्ययन करने वाले व्यक्ति प्राय: उनको विभिन्न धर्मों का समन्वयकारी सुधारक मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सन्दर्भ में सही प्रश्न उठाया है कि कबीर-जैसा क्रान्तिकारी व्यक्ति समझौता का मार्ग नहीं अंपना सकता। कबीर अपने मार्ग पर विभिन्न धर्मों के आचार-विचार, मत-संस्कारों का समन्वय स्वीकार कर नहीं चलते। वह समस्त बाह्याचरों के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करने वाले व्यक्ति हैं (कबीर)। यहाँ धर्म के समन्वय को द्विवेदी जी ने विभिन्न धार्मिक मतवादों के स्वीकार को माना है, और इस कारण उनके बाह्यचारों तथा कर्मकाण्डों के समन्वय की बात कही है। परन्तु कबीर की समन्वय दृष्टि समस्त धर्म-मतों में निहित व्यापक मानवीय मूल्यों के स्वीकार पर प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से सभी धर्म-मतों के आचारों तथा कर्मकाण्डों का खंडन करते हैं। उनके मन में मनुष्य की परिकल्पना व्यापक मूल्यों के आधार पर है और इस अखंड विश्वास के सहारे साहस के साथ उन्होंने समस्त धार्मिक विधि-विधान को अस्वीकार कर मनुष्य को सहज मूल्यों पर प्रतिष्ठित किया है। यह वह मानव-मिलन की भूमिका है जिसकी प्रतिष्ठा के लिए कवि को जाति, कुल, धर्म-मत, संस्कार, सम्प्रदाय, विश्वास तथा शास्त्र आदि के भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न करना पड़ा। मूल्यों के सांस्कृतिक समन्वय की स्थिति में ही मानव समाज के बीच से अशान्ति, हिंसा, भ्रष्टता और आपाधापी दूर हो सकती है। और कबीर इस समन्वय भावना से प्रेरित होकर खंडन और विरोध के मार्ग से गुज़रे हैं। उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त पाखंड का अनुभव किया है। नाना प्रकार की साधना प्रचलित थी, अनेक तन्त्र-मन्त्र का अभ्यास किया जा रहा था, अनेक सिद्ध, योगी, तीर्थव्रती नाना प्रकार की साधनाओं में संलग्न थे। कबीर ने अनुभव किया कि उनके समय मुनि, पीर, दिगम्बर, योगी, यती, ब्राह्मण तथा संन्यासी सभी माया के प्रपंच में फँसे हुए हैं। उस समय समाज में पौराणिक धर्म का प्रभाव था, दूसरी ओर योगियों की मान्यता थी। पौराणिक परम्परा में वेद-पाठ, तीर्थ-यात्रा, कर्मकाण्ड, अवतारोपासना तथा छुआछूत का प्रचलन था। कबीर ने इन सबका विरोध तथा खंडन किया है। द्विवेदी जी ने इस प्रसंग में उल्लेख किया है कि इस विरोध तथा खंडन के क्रम में कबीर ने इन सबकी गूढ़ व्याख्याओं को समझने अथवा स्वीकारने पर ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने नाथ-पंथियों के योगमार्ग और हिन्दू बाह्याचार को पाखंड मात्र माना है। जैसा कहा गया है, योग-मार्ग के सम्बन्ध में कबीर का ज्ञान तथा अभ्यास माना गया है, यह अवश्य है कि इस मार्ग की अपेक्षा मूल्यपरक प्रेम-साधना मानवीय स्तर पर उन्हें अधिक स्वीकार्य है। परन्तु हिन्दूमत के आचार में निहित तत्व-दृष्टि से वह अपरिचित रहे हैं अथवा उनकी जिज्ञासा तथा निष्ठा नहीं रही है। द्विवेदी जी के इस विचार को स्वीकार

NMDC-065

कर लेने पर भी यह मानना अधिक स्वाभाविक है कि कबीर के सामने पूरा भारतीय समाज था और वह मूल्यों के आधार पर समाज पर विचार करने में संलग्न रहे हैं। वस्तुत: समस्त तत्त्ववाद के आधार के बावजूद यह स्पष्ट था कि उस समय के समाज का विघटन और उसके मूल्यों की विशृंखलता का मूल कारण यह सारा आचार तथा कर्मकाण्ड रहा है। ऐसी स्थिति में कबीर का पण्डित तथा मुल्ला से बार-बार उनके बारे में प्रश्न करना सहज रहा है। उनका प्रश्न है, यह छुआछुत कहाँ से आई, सबका जन्म एक स्थान से और एक ही तत्त्व से होता है, सारा मानव-समाज अनादि कर्म-प्रवाह में बह रहा है और इसके आधार पर ही व्यक्ति पर विचार करना अपेक्षित है। आगे वह पण्डित से पूछते हैं कि इस आवागमन से छुटकारा कैसे मिले, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष यह सारे फल किस दिशा में मिलते हैं? हो सकता है कि पण्डित अपने धर्म-शास्त्र के आधार पर इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर दे सके, परन्तु कबीर का सीधा प्रश्न स्वर्ग-नरक, छुआछूत, जाति-पाँति, तीर्थ-स्थान तथा पूजा-व्रत के व्यवहार पक्ष को लेकर है। इस आधार पर ही सामाजिक जीवन तथा उसके मूल्यगत सन्दर्भों को देखा जा सकता है।

कबीर ने मानवीय धर्म के आधार पर अपनी प्रेम-साधना के मार्ग पर चलने के लिए विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित ऐसे कर्म-काण्डों तथा आचारों का विरोध किया हैं जो पाखंडवत हो गये हैं। सामाजिक अपराधों को करने वाला व्यक्ति तीर्थ-यात्रा करता है, यह उसी प्रकार है जैसे ज्ञान के बिना घाट के बीच डूब जाना। अनेक दर्शनों तथा बहुविध शास्त्रों का अध्ययन करके भी मनुष्य बिना केन्द्रीय भाव-तत्त्व को जाने-समझे विभ्रमित ही होता है। जप-तप, नियम-संयम और पूजा-अर्चा करके भी व्यक्ति जीवन का सही मार्ग नहीं पाता, जिस प्रकार कागज़ पर लिख-लिख कर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है, वह मन के मूल-भाव-तत्त्व को नहीं ग्रहण कर पाता। मनुष्य संसार के अँधेरे कुहासे में भटकता है और जीवन के सत्य को नहीं पाता। इस भटकाव में हिन्दू मूर्ति-पूजा करके और तुर्क हज जाकर जीवन गवाँ देता है। इसी प्रकार अनेक वेश-धारण कर व्यक्ति भटकते हैं और वेद का पाठ कर तथा धन-सम्पदा को संचित कर जीवन व्यर्थ गवाँते हैं। कबीर ऐसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा प्रेम-साधना के लिए, जैसा हम देखेंगे, मूल्यों की भूमिका स्वीकार करते हैं। योगियों की सींगी-मुद्रा-विभूति आदि को निरर्थक मान कर वह आसन पर पवन-साधना को व्यर्थ कहते हैं, वस्तुत: व्यक्ति के लिए जीवन में कपट से मुक्त होना प्रारम्भ से अपेक्षित है। उनका कहना है "जिसका दुरुस रहे ईमान" वही सच्चा धार्मिक हिन्दू या मुसलमान है। आगे कबीर घर और वन को समान मान कर चलते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में व्यक्ति के लिए मन को जीतना और विषयों से निरपेक्ष रहना अपेक्षित है। सच्चे साधक के लिए जटा बना कर भस्म लपेट कर गुफा में निवास करना अपेक्षित नहीं है। वह बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि ब्राह्मणों के द्वारा एकादशी का व्रत करना अथवा काजी के द्वारा रमजान में रोज़ा रहना निरर्थक है। अगर खुदा मसजिद में रहता है, तो यह सारा

NMDC-065

संसार किसका है? इसी प्रकार अगर राम तीर्थ तथा मूर्ति में निवास करता है तो अन्यत्र उसे कहाँ देखा जाए। और यह भी कहना क्या अर्थ रखता है कि पूर्व दिशा में हरि का निवास है और पश्चिम में अल्लाह का। वस्तुत: राम और रहीम हृदय में निवास करते हैं और उनकी वहीं खोज करनी होगी। यह अवश्य है कि कबीर की केन्द्रीय दृष्टि साधनापरक है, परन्तु जैसा हम साधना के प्रसंग में देख चुके हैं उनका आधार मूल्यों की संरचना पर प्रतिष्ठित है। कबीर मन को भी सचेत करते हैं और इस प्रकार कर्म-काण्डों की निरर्थकता के बीच सत्य का संकेत देते हैं। उनके अनुसार जिधर देखता हूँ, मायाविष्ट जीवन में सत्य नहीं पहचाना जाता। चाहे जैसा बल्कल वस्त्र धारण करो, वन में निवास करो, पाषाण की पूजा करो, स्नान-ध्यान करो और बहुत से उपदेश सुनो, बिना सत्य को पहचाने जीवन का मार्ग नहीं मिल सकता। वह स्पष्टत: घोषित करते हैं कि जाति या वर्ण में उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं होता, उसके लिए अच्छे कर्म करना ही अपेक्षित है। इसी प्रकार अनेक साखियों में कबीर धार्मिक पाखंडों को उद्घाटित कर धर्म की केन्द्रीय दृष्टि को निरूपित करते हैं। वह कहते हैं, जब तक सच्चा मूल्य का जीवन बिताया नहीं गया, हिन्दू राम कह कर और मुसलमान खुदा का नाम लेकर निरर्थक जीवन बिताता है।

कबीर के अनुसार धर्म का सच्चा आधार ग्रहण कर व्यक्ति साधारण जीवन में सार्थक होता है, उसके लिए काबा काशी और राम रहीम हो जाता है। यहाँ यह वास्तविक धर्म का समन्वय भाव है। इसी क्रम में कबीर ब्राह्मण को दान देने के महत्त्व को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वह स्वयं जजमानी से अपना पेट पालता है। केवल वेश बनाने से कोई व्यक्ति सत्य को नहीं पा सकता। इस प्रकार समाज में जीविका चलाने के धन्धे चलते हैं। कबीर कर्म पर बल देते हैं, क्योंकि जीवन को ठीक दिशा देने के लिए सत्कर्म अपेक्षित है। संसार के लोग लोक-लज्जा से सत्य का निर्वाह नहीं करते और कंचन को छोड़ कांच को ग्रहण करते हैं अर्थात जीवन के आदर्शों की उपेक्षा करते हैं। कहा गया है कि कबीर वेश के आडम्बर को निरर्थक मानते हैं, इस अंग में अनेक प्रकार से इस दृष्टि को रेखांकित करते हुए स्वीकार किया गया है कि जीवन का विकास मूल्यों के क्रम से होता है। वस्तुत: साधु-जीवन महत्त्वपूर्ण है, जिसमें व्यक्ति गुणों को अपनाकर साधना के पथ पर विकास करता है। फिर लम्बे केश धारण करना या सिर मुड़ाना कोई अर्थ नहीं रखता। बाहर वस्त्रों का आडम्बर करने से क्या लाभ, यदि मन कुप्रवृत्तियों में संलग्न है। विषय-विकारों से भरे हुए मन को मूड़ना अपेक्षित है, केशों ने क्या बिगाड़ा है, जो उन्हें बार-बार मूड़ा जाता है। इसी प्रकार धर्म-साधना के बाह्य रूप का खंडन करते हुए कबीर कहते हैं कि " अगर पाहन के पुतले को कर्तार मान कर पूजा की जाती है, तो इस भरोसे पर रहने वाला व्यक्ति कालीधार (मझधार) में डूबता है।" कभी वह व्यंग्य भी करते हैं, "मुल्ला मीनार पर चढ़ कर बाँग देता है क्या अल्लाह बहरा है जो तू बाँग देकर उसे पुकारता है? वह तो हृदय

NMDC-065

के अन्दर ही है।" इसी प्रकार "चंचल चित तथा चोर मन लेकर तीर्थ जाने वाले व्यक्ति का एक भी पाप नहीं कटता, बल्कि उसके मन पर दस और लद जाते हैं। इस संसार में वस्तुत: तीर्थ-व्रत की विषरूपी बेल छाई हुई है, इस कारण इस हलाहल का पान करने के बजाय उसे मूल से निकाल देना उचित है। इन सारे आचारों को वह सेमर के फूल के समान मानता है, जिनसे आशा लगाने पर निराशा ही हाथ आती है। हम देखते हैं, कबीर के प्रखर व्यक्तित्व को इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है, क्योंकि कर्म-काण्ड तथा विभिन्न आचारों की निरर्थकता के माध्यम से वह मानवीय जीवन में मूल्यों को स्वीकार करते हैं। इस आधार पर अपनी साधना को निरूपित-प्रतिष्ठित करते हैं।

कबीर ने सांसारिक जीवन के व्यापक क्षेत्र को दृष्टि में रख कर मानवीय मूल्यों का निरूपण किया है। साथ ही अपने समाज के जीवन पर भी निरन्तर विचार किया है, और उसकी असमानताओं, असंगतियों तथा अन्यायपूर्ण व्यवहारों की कटु आलोचना की है। उनकी दृष्टि में जाति-पाँति का भेद-भाव सामाजिक मूल्य-दृष्टि से निरर्थक है, क्योंकि अन्तत: जीवन का चरण्-लक्ष्य परम-तत्त्व की खोज है। यह सब सांसारिक भेद-भाव है, वस्तुत: सभी प्राणी उस परम-तत्त्व रूप हैं। उनके अनुसार जीवन के लिए मानवीय मूल्यों का ही महत्त्व है, लोक-वेद तथा कुल की मर्यादा परम्परा पालन के स्तर पर जीवन के लिए बाधक ही है। इस जीवन में व्यक्ति अनेक सांसारिक आकर्षणों में फँसा रहता है, सारा प्रताप चार दिवस का रहता है। इस संसार में न कोई धन लाया है और न यहाँ से ले जाएगा। माया-मोह के कारण लोग झूठ ही "मेरा घर" कहते हैं। व्यक्ति इस मोह में फँसा हुआ संग्रह करता है। कबीर इस सांसारिकता के क्षण-भंगुर रूप पर ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं, "चारी दिन अपनी नौबति चले बजाई।" इस संसार के मायापरक बन्धन को छोड़ कर आत्मा अकेले ही प्रवास करती है, और तब उसके साथ कोई नहीं होता। कबीर के अनुसार मूल्यों का जीवन ही महत्त्वपूर्ण तथा श्रेष्ठ है, समाज में शाक्त ब्राह्मण की अपेक्षा चांडाल कुल में उत्पन्न वैष्णव अधिक श्रेष्ठ है। मूल्यों के स्तर पर ही कबीर वैष्णव को राम के समान स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार साधु-पुरुष अपने आचरण में पूजनीय है, क्योंकि उसके आदर्श पर ही हरि की सेवा का मार्ग ग्रहण करना सम्भव होता है। साधु की संगति निष्फल नहीं होती, क्योंकि उससे व्यक्ति अपने जीवन को शुद्ध कर उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित होता है। आगे कबीर सांसारिक जीवन के बारे में ध्यान आकर्षित करते हैं कि इसमें जन्म लेकर व्यक्ति सुख नहीं पाता, वह डाल-डाल पर विचरता हुआ पात-पात पर दु:ख पाता है। भाव है कि इस सांसारिक जीवन में माया-मोह में फँस कर व्यक्ति केवल दु:ख पाता है। उपदेश देने की मुद्रा में कवि कहता है कि जीवन के स्तर पर व्यक्ति गर्व तथा अहंकार के साथ रहता है, पर यह सब नश्वर है। दस दिन के इस जीवन में अपनी "नौबत" बजाने के बाद फिर व्यक्ति को यह नगर, बाजार और गली छोड़नी ही है। यह सब

NMDC-065

ऐश्वर्य-विलास चार दिन का है, अन्ततः सब कुछ मिट्टी में मिलने वाला है; अतः दुर्लभ मानव-जीवन को पाकर उच्च मूल्यों की साधना में लगना श्रेयस्कर है। बार-बार यह अवसर नहीं आने वाला है। साधु की वाणी विचारशील होती है, वह अपने सत्य वचनों से सबका उपकार करता है। इस प्रकार सत्य ही महान तप है और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं। जो व्यक्ति विचारशील नहीं है और अपनी वाणी से दूसरे की आत्मा को चोट पहुँचाता है, वह मनुष्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात साधु पुरुष नहीं है। सत्य-जीवन यापन करने वाले व्यक्ति को ही परम-तत्त्व का अनुभव होता है। इसी दृष्टि से साधु की सेवा को हरि-गुण गान के समकक्ष मानते हैं।

कबीर सांसारिक ऐश्वर्य के प्रति सतर्क करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को इन सबका गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि सर्प जिस प्रकार केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार आज या कल इस सबको छोड़ कर जाना है। संसार का रूपक प्रस्तुत करते हुए मनुष्य के जीवन को कबीर उस हरिणी के समान कल्पित करते हैं जो सरोवर के तट की हरियाली के बीच दुर्बल है, क्योंकि उस एक जीव की ताक में "लाख अहेरी" हैं। इस संसार की दूसरी कल्पना कवि विष के वन में घर के रूप में करता है, जहाँ डालों पर सर्प लटक रहे हैं और जीव डर के मारे रात जागते बिताता है। इसी क्रम में संसार का जीवन चक्की के दो पाट के बीच का माना गया है, जिसमें कोई भी व्यक्ति पूरा नहीं निकल पाता। यहाँ कवि सांसारिक माया-मोह के बन्धनों की व्यंजना करता है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति दूसरों के दोष देखते हैं और उन पर हँसते हैं, पर व्यक्ति को अपने दोषों को देखना चाहिए। कवि के अनुसार इस आत्मालोचन से व्यक्ति को अपने दुर्गुणों का बोध हो सकेगा और वह संत-मार्ग पर अग्रसर होगा। वरन मनुष्य को अपने निन्दक को पास रखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार उसको अपने को समझने तथा मार्ग पाने में सहायता मिलेगी। व्यक्ति को आचरण में आत्मप्रशंसा तथा परनिन्दा दोनों से ही बचना अपेक्षित है। बार-बार कबीर संसार की क्षण-भंगुरता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, पानी के प्रवाह में जीवन कागज़ की नाव है और साथ में पाँच "कुसंगी" (इन्द्रियाँ) हैं। भला कैसे इस प्रकार संसार से पार हुआ जा सकता है। आध्यात्मिक प्रसंग में ब्रह्म-माया की कल्पना का दूसरा सन्दर्भ है, जिस पर विचार किया गया है। सांसारिक जीवन के स्तर पर माया बन्धन तथा मोह का प्रतीक है। इस पापिनी के फंदे में पड़ कर मनुष्य अपने जीवन के मूल्यों को भूल जाता है और कनक-कामिनी से आकर्षित हो सत्मार्ग से विचलित हो जाता है। कवि ने इसी कारण उसको " रुई लपेटी आगि" कहा है। जो व्यक्ति इस सांसारिक जीवन को निरपेक्ष भाव से जीने में समर्थ होते हैं, वे ही मूल्यों के मार्ग पर अग्रसर हो पाते हैं। इस सांसारिक जीवन की कल्पना कवि ने आशा के पाश में उलझी हुई बाढ़ पर चढ़ती हुई लता के रूप में की है और कहा है, इस आशा-पाश में लता (व्यक्ति) टूट जाती है किन्तु उसके बन्धन नहीं छूटते। कबीर स्वीकार

NMDC-065

करते हैं कि व्यक्ति को इस संसार में निरपेक्ष भाव से जीवन बिताना अपेक्षित है। इस स्तर पर वह धन का उपयोग कर सकता है तथा अपनी इच्छाओं को पूरा भी कर सकता है। यहाँ सहज आत्म संयम के जीवन की मूल्य-दृष्टि स्वीकार की गई है।

कबीरदास के मानवीय जीवन को साधना के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए एक ओर व्यक्ति को दुर्गुणों तथा कुप्रवृत्तियों से मुक्त होने के लिए आगाह किया है, तो दूसरी ओर मूल्यों की भूमिका पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया है। व्यक्ति काम-क्रोध-मल पर आचरण करता हुआ जीवन में उच्च भूमिका की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, भले ही स्नान तथा तीर्थ आदि का निर्वाह करे। कबीर ने इन समस्त कुप्रवृत्तियों के माध्यम से गढ़ का रूपक-विधान किया है। इसमें काम के पल्ले हैं, पाप-पुण्य के द्वार हैं और दुःख-सुख दरबानी करते हैं। इस दुर्ग में रहने वाले राजा के साथ क्रोध प्रधान है और लोभ सेनापति। जिनके सनाह स्वाद हैं, ममता टोप है और कुबुद्धि चढ़ी हुई कमान है। इस शरीर रूपी गढ़ में तृष्णा ही मानो तीर है, इस गढ़ को प्राप्त करना कठिन हो गया है। सांसारिक जीवन की कुप्रवृत्तियों के इस रूपक-विधान में कवि ने अन्ततः प्रेम, ज्ञान तथा सन्तोष आदि के आधार पर मुक्त होने की कल्पना की है। मनुष्य को काम-क्रोध-लोभ-मोह से मुक्त होकर ही हरि-भक्ति के मार्ग का परिचय मिलता है। इस जीवन के स्तर पर व्यक्ति के मान-अभिमान को छोड़ना होता है तथा साथ ही स्तुति-निन्दा से मुक्त रहना होता है। कबीर ने अपने जीवन को प्रभु के मार्ग पर प्रतिष्ठित करने के लिए निरन्तर अपने आराध्य से विनय की है और उनकी करुणा की कामना की है। उनके अनुसार प्रभु की कृपा से मनुष्य में काम-क्रोध-अंहकार नहीं व्यापता और माया सें वह छुटकारा पाता है। जीवन के इस मार्ग पर साधक पर-निन्दा, पर-धन तथा पर-दारा में आसक्त नहीं होता। मद-मत्सर निरन्तर उससे दूर रहते हैं। मूल्यों के जीवन की ओर अग्रसर होने के लिए व्यक्ति को तृष्णा, काम-क्रोध-मद-मत्सर से मुक्त होना होता है। कबीर ने मदिरा बनाने के रूपक-विधान में इन कुप्रवृत्तियों को गुरु के शब्द-रूपी गुड़ के रस में काट कर मिलाने की कल्पना की है। इसी प्रकार ज्ञान की आँधी के रूपक में कवि कल्पना करता है कि "भ्रम की टाटी माया के बन्धन में रह कर उड़ जाती है। और दुविधा की थूनी और मोह का बलेड़ा गिर-टूट जाते हैं। तृष्णा की छानी नीचे भूमि पर पड़ी है और दुर्मति का भाँड़ा फूट-बिखर जाता है।" यहाँ मनुष्य के जीवन की समस्त कुप्रवृत्तियों के समाप्त होने के बाद ही संत-मार्ग के प्रकाशित होने की कल्पना की गई है। इस प्रकार के समस्त दुर्गुणों तथा हीन वृत्तियों से मुक्त होकर मानवीय जीवन की मूल्यपरक भूमिका पर अग्रसर होने की कल्पना अनेक रूपकों में की गई है। संसार में मनुष्य अहंकारवश टेढ़े-टेढ़े चलता है, पर इन वासनाओं के जीवन से मुक्त होकर ही व्यक्ति मानवीय जीवन के सत्य को पा सकता है, अन्यथा वह गर्व कर अपने को नष्ट करता है। व्यक्ति भूल जाता है, कि यह लोभ का जीवन नीचे गिराने वाला है। मनुष्य भूल जाता है कि उसे सीमित

NMDC-065

मानव-जीवन मिला है। इस जीवन को माया के आकर्षण तथा भ्रम में गँवाना उचित नहीं है। यह धन-यौवन का गर्व क्या करना, यह सब कागज के समान गल-नष्ट हो जाने वाला है। जब तक व्यक्ति अपने अहंकार, लोभ, काम, क्रोध आदि का त्याग नहीं करता, जप-तप-व्रत-पूजा से जीवन का प्रयोजन नहीं सिद्ध होने वाला है। अहम भाव से कर्म करने वाले व्यक्ति के हृदय में वास्तविक भाव (मूल्य) व्यंजित नहीं होते। वस्तुत: जीवन के इस मूल्यपरक मार्ग पर सहज-भाव से चल कर ही मनुष्य अपने आराध्य को पाता है। सांसारिक लोभ की लहर में तो मनुष्य बिना पानी के ही डूब जाता है। इस लहर में पड़ कर क्या राजा और क्या योगी सभी भटक जाते हैं। मनुष्य का मन बनिये के समान अपनी कुबुद्धि नहीं छोड़ता और क्रूरतापूर्वक कपट का पासंग डाल कर फूला-फूला घूमता है।

कबीर कहते हैं कि सांसारिक जीवन में जीव इन्द्रियों से प्रेरित होकर भटकता है। इन्द्रियाँ रूपी "पाँच महा-हरामी" कुटुम्बियों के साथ मनुष्य अपने जीवन के अमृत में विष घोलता है अर्थात इन्द्रियों के वश में होकर व्यक्ति विषाक्त संसार में लीन रहता है। व्यक्ति का बावला मन काम से प्रेरित होकर तन-धन का गर्व करता है। ऐसा व्यक्ति अनेक तीर्थों में स्नान करता है और अनेक देवताओं की पूजा करता है। लेकिन जो व्यक्ति सहज जीवन के पथ से मूल्यों की भूमिकाओं की ओर अग्रसर होता है उसे काम-क्रोध-लोभ-मोह को हाँक देकर दूर करना पड़ता है। कबीर के अनुसार सत्गुरु की प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान के आधार पर व्यक्ति इन कुप्रवृतियों से मुक्त होता है और साधना के मार्ग में क्रमश: काम-क्रोध-मद-लोभ जल कर नष्ट होते हैं, सांसारिक तृष्णाएँ बुझ जाती हैं और भ्रम-अध-व्याधि दूर हो जाते हैं, कबीर ने हिंसा-वृति को भी इस भूमिका पर हीन-कर्म माना है। जीव-हत्या को धर्म के अन्तर्गत मानने वालों की कटु आलोचना की गई हैं और उनको कसाई कह कर सम्बोधित किया गया है। मदपान उनके अनुसार अधम काम है। कबीर ने सत्य मार्ग से विचलित होकर झूठ को ग्रहण करने वालों की संगत को अस्वीकार किया है, इसी प्रकार विषय-वासनाओं में चित्त लगाने वाले के लिए साधना के मार्ग को अवरुद्ध माना है। कबीर के अनुसार ऐसे जीव, जो हृदय में सचेत नहीं हैं, जिनका हृदय कठोर है, ऊसर में पड़े बीज के समान सत्संग से उन्हें कोई लाभ नहीं होता। चन्दन इसी प्रकार बाँस को अपनी गन्ध नहीं दे पाता। कबीर ने सांसारिक जीवन में कुप्रवृतियों से प्रेरित मनुष्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं, और इस स्तर पर बार-बार सचेत भी किया है। यह मनुष्य की काया कजली वन है, जिसमें मन कुंजर के समान मदमाता घूमता है। ज्ञान का अंकुश उसके लिए अपेक्षित है, जिसका उपयोग विरला संत ही करता है। कबीर मन को यत्नपूर्वक नियन्त्रित करने की बात कहते हैं, क्योंकि इस प्रकार व्यक्ति अपने पर अधिकार प्राप्त करता है और उच्चतर भूमिकाओं की ओर प्रेरित होता है। उनका कहना है कि यह शरीर मन्दिर है, मन ध्वजा है जो विषय-वासनाओं की लहरों में फहराता है और मन चंचल होकर वश में

NMD-065

नहीं रह जाता। इस प्रकार मनुष्य का सब कुछ नष्ट हो जाता है। वस्तुत: संत कबीर का सकाम भाव के प्रति कठोर दृष्टिकोण साधक के रूप में ग्रहण करना चाहिए दूसरे स्तर पर इस सकाम भाव को इन मध्ययुगीन साधकों ने नारी से सम्बद्ध कर देखा है, अत: यह ग्रहण करना चाहिए कि इन प्रसंगों में नारी शब्द का प्रयोग काम भावना के साथ किया गया है। अन्यथा सम्बन्धों की परिकल्पना में नारी शब्द का प्रयोग काम भावना के साथ किया गया है। कबीर के काव्य में सामान्यत: सम्बन्धों के स्तर पर चरित्रों की परिकल्पना नहीं की गई है। इस कारण नारी को व्यापक काम-भावना के रूप में ही ग्रहण किया गया है। इसी दृष्टि में कबीर का कहना है, कि जब तक सकाम भाव में स्थित हैं, नर-नारी सब नरक हैं। नारी के प्रेम से बुद्धि-विवेक सबका हरण होता है, वह तीनों गुणों को नष्ट करने वाली है। जो नर उसके पास है, वह भक्ति-मुक्ति और ज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी सन्दर्भ में कवि कनक और कामनी को ऐश्वर्य-विलास रूप में विष का फल कहता है, जिसके देखने से ही विष चढ़ जाता है और खाने पर मरण निश्चय है। स्पष्टत: यहाँ संसार की आसक्ति का वर्णन है, जिसकी अग्नि की ज्वाला में समस्त जीवन नष्ट हो रहा है। इसी दृष्टि से कबीर मन को जीतने की बात निरन्तर कहते हैं और स्वीकार करते हैं कि अहम भाव से व्यक्ति ज्ञान के मूल्य को गँवा देता है; अत: व्यक्ति के लिए इस समस्त सांसारिक माया-जाल से तटस्त होकर सहज जीवन-यापन करना अपेक्षित है।

प्राय: कबीर को विद्रोही कवि कहा जाता है, जैसा उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन में देखा गया है, यह माना जा सकता है। परन्तु इस स्तर पर उनकी मूल्य-दृष्टि खंडन-मंडन पर आधारित है, यह सत्य नहीं है। उनके सामने साधना का एक ऐसा मार्ग है, जिसके लिए व्यक्ति को सांसारिक जीवन में कुप्रवृत्तियों, दुर्गुण तथा मूल्य-विरोधी कर्मों से मुक्त होना होगा। इस प्रक्रिया के साथ मानवीय सद्गुणों तथा मूल्यों को अपनाना आवश्यक है। जैसा हम साधना के प्रसंग में देख चुके हैं कि कबीर योगपरक तथा अन्य गुह्य साधनाओं को स्वीकार नहीं करते, जिनमें व्यक्ति के लिए सामाजिक मूल्यों के आचरण की अपेक्षा नहीं है। कबीर ने निरन्तर बल दिया है कि व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर सहज जीवन व्यतीत करते हुए व्यापक मानवीय मूल्यों के आधार पर अपने साधना-मार्ग पर अग्रसर होना है। इसी कारण उन्होंने जैसा हमने देखा है, सांसारिक जीवन में कुप्रवृत्तियों-दुर्गुणों तथा पाखंडों का विरोध तथा निषेध किया है। साथ ही साधना-मार्ग के लिए व्यापक मानवीय मूल्यों का अनुसरण अपेक्षित माना है। सतगुरु की महत्ता प्रतिपादित करते हुए, उन्होंने स्वीकार किया है कि उरकी प्रेरणा से विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता व्यक्ति में आती है, जिसके बिना वह धैर्य तथा गम्भीरता के साथ जीवन के पथ पर साधना की सही दिशा नहीं पाता। वस्तुत: ज्ञान प्राप्त किए बिना व्यक्ति अपने मन के अहंकार आदि से मुक्त नहीं हो पाता। इसके साथ प्रेमसहित सत्य तथा सन्तोष को ग्रहण कर,

NMDC-065

साधु संगति में जीवन के पथ पर अग्रसर होना सम्भव है। कवि ने सुन्दर भाव-व्यंजना के साथ यह निरन्तर स्पष्ट किया है कि दया तथा धर्म, ज्ञान तथा सेवा के मार्ग से ही व्यक्ति प्रभु की सेवा के पथ पर अग्रसर हो सकता है। आगे वह धर्म के साथ शील गुण के महत्त्व को प्रतिपादित करता है, यह भक्ति के लिए अपेक्षित है। मानवीय दया को भी स्मरण-भजन के साथ स्वीकार किया गया है। हम देख सकते हैं कि इस प्रकार के मूल्य सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही अर्थवान हैं और कबीर जब बार-बार इनको स्वीकारते हैं, तो उनका विश्वास ही व्यक्ति होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि कवि सहज और स्वाभाविक जीवन में मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित मानता है, इस स्तर पर मूल्यों को अपनाने के लिए किसी कठोर साधना की अपेक्षा नहीं है। वह एक मीठे फल वाले तरुवर का रूपक प्रस्तुत करते हैं और अनेक प्रकार के कठिन प्रयत्नों से भी उसके मीठे फल को अप्राप्य मानते हैं, क्योंकि उस पर चढ़ने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। परन्तु वह यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान की डोरी को शील-सत्य की खूँटियों पर बाँध कर गुरु की प्रेरणा से उस फल को पाना सरल है। अनेक स्थलों पर सत्संग के मूल्य को चन्दन और पारस पत्थर के रूप में कल्पित किया गया है, जिनके संसर्ग से साधारण वृक्ष चन्दन और लोहा कंचन हो जाता है। इसी प्रकार गंगा के जल के समान भी उसे कहा गया है, जिसमें मिल कर सारे जल गंगोदक हो जाते हैं। धर्म के स्तर पर कबीर साम्प्रदायिकता को स्वीकार नहीं करते; मुख्यत: मूल्यों की उनकी दृष्टि में वही धार्मिक है जो व्यापक मानवीय मूल्यों का आचरण करता है। इसी प्रकार मन को विकारों से मुक्त करना अपेक्षित है, वन-गमन निरर्थक है। जीवन की उच्चता के लिए घर और वह समान है।

कबीर ने निरन्तर इस बात पर बल दिया है, कि विभिन्न धर्म-मतों में प्रचलित कर्मकाण्डों तथा पूजा-पाठ आदि धर्म की मूल्य-दृष्टि के पोषक नहीं हैं, प्राय: विरोध में ही आते हैं। जिस प्रकार प्रेम की साधना को कबीर ने महत्त्व दिया है, उसके आधार में प्रेम का जीवन ही है। उनके अनुसार जिस व्यक्ति के व्यक्तिव में प्रेम रस व्याप्त नहीं है, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। उन्होंने संत के मिलने को रस रूप में महत्त्व दिया है कि उसके संसर्ग से व्यक्ति के जीवन में दुर्मति का अन्धकार दूर होता है और मूल्यों का प्रकाश फैलता है। मूल्य के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का वह सन्त, साधु, निर्वैर, सत्य-निष्ठ, निष्काम, अहिंसक तथा नि:स्वार्थ रूप में व्यंजित करते हैं। निश्चय ही ये सारे मानवीय गुण व्यक्ति को उच्च मूल्यों की भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं। निष्पक्ष भाव से व्यक्ति समता के स्तर पर शीतलता का अनुभव करता है, और दूसरी ओर इस भूमिका से साधना-पथ पर अग्रसर होता है। कबीर निरन्तर मनुष्य का ध्यान आकर्षित करते हैं कि इस जीवन में व्यक्ति मूल्यों को उसी प्रकार ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है, जिस प्रकार समुद्र की लहर से हंस मोती चुन पाता है, जबकि बगुला को परख नहीं है। इस जीवन में गुणों को परखने वाले ही उनके ग्राहक होते हैं, अन्यथा अनजान व्यक्ति

उन्हें कौड़ी के रूप में समझता है। यह इसी प्रकार है, जैसे चन्दन की परख न पाने वाला व्यक्ति उसे पलाश समझ कर चूल्हे में झोंकता है। कबीर हरिजन के रूप में निर्मल तथा समशील व्यक्ति की कल्पना करते हैं। इसी क्रम में कबीर ने काबा तथा काशी, राम तथा रहीम को एक रूप कह कर धर्म की मूल-दृष्टि को रेखांकित किया है। उन्होंने वैष्णव के चरित्र को शाक्त की अपेक्षा सराहा है, क्योंकि उसका आचरण मूल्यनिष्ठ है और इसी प्रकार ब्राह्मण को सारे कर्मकाण्डों के बावजूद अस्वीकार किया गया है। उन्होंने निरन्तर आचरण में सत्य पर बल दिया है और उसको धर्म-रूप माना है। शास्त्रों के अध्ययन को भी वह निरर्थक मानते हैं, यदि व्यक्ति के मन में पर-पीड़ा का भाव न उत्पन्न हो। मूर्ख के हृदय में चेत नहीं होता, जैसे ऊसर में बीज नहीं जमता, जबकि चन्दन के समीप नीम भी चन्दन की गन्ध ग्रहण करता है। यह अवश्य है कि जो ग्रहणशील नहीं है उसको संगत से लाभ नहीं होता, जैसे चन्दन के समीप बाँस उसकी गन्ध नहीं ग्रहण कर पाता और पानी के प्रेम का भाव हरा वृक्ष ही पाता है, सूखा काठ नहीं। स्मरण रखना है, कि ज्ञानी वही है जो नि:संग भाव से अपने जीवन में इन्द्रियों को वश में करके कर्म-मार्ग पर चलता है। परन्तु अहम भाव से प्रेरित ज्ञानी अपना मूल्य गवाँ देता है, उसकी अपेक्षा दुर्गुणों तथा असद मार्ग से डरने वाला साधारण सांसारिक व्यक्ति भला होता है। इस प्रकार अन्तत: कबीर सांसारिक जीवन के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति को ही सच्चा मानते हैं और साधना-मार्ग के लिए योग्य मानते हैं जो अपने सहज जीवन में मूल्यों को अपनाता है, सन्तोष के साथ भाव-स्तर पर जीवन व्यतीत करता है। उसकी कथनी-करनी में अन्तर नहीं होता और वह निरन्तर सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

NMDC-065

7. 'पद्मावत' की कहानी : कहानी का अर्थ'

रमानंद श्रीवास्तव

'पदमावत' अपने-आप में एक मार्मिक प्रेम कहानी है – महाकाव्य के ढाँचे में कही गई प्रेम कहानी – जिसमें कल्पना और इतिहास का रोचक संगठन है। कहानी का पूर्वार्द्ध कल्पना पर आधारित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक यथार्थ पर। पहले इस प्रेमकहानी को प्रेमकहानी के रूप में देखना ही उचित है जो इस प्रकार है:

सभी द्वीपों में अलग, अद्वितीय सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन और रानी चम्पावती के यहाँ पद्मावती ने जन्म लिया। लगा कि वह सूर्य की किरणों से रची गई थी। जब वह बड़ी होने लगी, उसके विवाह के लिए वर पक्ष की ओर से प्रस्ताव आने लगे। फर अपने गर्व में राजा गन्धर्वसेन उन्हें नकारात्मक उत्तर देकर लौटा देते। बारह वर्ष की आयु में पद्मावती वयस्क समझी जाने लगी। उसे सात खण्डों वाला धवलगृह स्वतन्त्र रूप से रहने के लिए मिला। खेल-विनोद के लिए सखियाँ मिलीं। ज्ञान चर्चा के लिए अत्यन्त गुणी और पण्डित स्वभाव वाला तोता मिला – हीरामन। एक दिन पद्मावती ने हीरामन से अपनी काम-विकलता और अपने विवाह के प्रति पिता की उदासीनता की चर्चा की। तोते ने कहा–विधाता का लेख तो अमिट है पर मुझे आज्ञा दो, कि तुम्हारे योग्य वर खोज सकूँ। किसी दुर्जन ने यह संवाद राजा तक पहुँचा दिया। राजा ने तोते को मार डालने के लिए आदेश दिया। पद्मावती ने अपने अनुनय विनय से तोते को बचा लिया। तोता ज्ञानता था कि इस बार तो वह बच गया पर आगे उसका जीवन सुरक्षित नहीं। एक दिन जब पद्मावती सखियों के साथ सरोवर-स्नान के लिए गई थी, हीरामन उड़ निकला। जहाँ वह पहुँचा वह ढाक का जंगल था। पक्षियों से उसे सहज सम्मान मिला। उधर पद्मावती ने आकर देखा, तोता पिंजरे को सूना छोड़कर चला गया था। वह बहुत रोई। सखियों से उसने तोते की खोज के लिए निवेदन किया। सखियों ने समझाया – अब वह स्वतन्त्र हो गया है – इस बन्धन में क्यों आएगा। उधर जंगल में आए हुए बहेलिए ने तोते को पकड़ लिया और बाजार में उसे बेचने के लिए ले गया। चित्तौड़ के एक व्यापारी के साथ एक साधारण ब्राह्मण भी कुछ रुपये लेकर लाभ की आशा में सिंहल की हाट में आया था। सब व्यापारियों ने कुछ न कुछ खरीदारी की और घर लौटने की तैयारी करने लगे। ब्राह्मण की गाँठ में पूँजी इतनी कम थी कि वह चिन्ता में सोचता ही रह गया कि क्या खरीदे। तभी वह बहेलिया तोते को बेचने आ पहुँचा। उसका रंग सुनहला था और उसमें एक अद्भुत सम्मोहन भी था। ब्राह्मण ने तोते को सीधे सम्बोधित कर उसके गुणों के बारे में जिज्ञासा की, तोते ने कहा – "जब मैं गुणी था, तब मुक्त था। मैं बिकने आ गया हूँ अब मेरे गुण कहाँ।" पर ब्राह्मण ने जान लिया कि वह गुणी और पण्डित है। उसने तोते को खरीद लिया और उसे चित्तौड़ ले आया:

NMDC-065

बाम्हन सुआ बेसाहा, सुनि मति बेद गरंथ।
मिला आइ कै साथिन्ह, भा चितउर के पंथ।।

चित्तौड़ में उस समय राजा चित्रसेन की मृत्यु हो चुकी थी। उसका पुत्र रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। तोते की प्रशंसा सुन उसने उसे लाख रुपये देकर खरीद लिया। एक दिन जब रत्नसेन शिकार पर निकला था, उसकी रूपगर्विता पटरानी नागमती ने तोते से प्रश्न किया – "मुझ जैसी सुन्दरी क्या कोई दूसरी भी इस दुनिया में है।" हीरामन ने हँसकर सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन किया और कहा – उनमें और तुममें दिन और अँधेरी रात का अन्तर है:

का पूछहु सिंघल कै नारी।
दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी।।
गढी सो सोने सौंधै भरी सो रूपै भाग।
सुनति रूखि भइ रानी, हिये लोन अस लाग।।

वह पद्मावती – सुगन्धित सोने से गढ़ी गई है – रूप और भाग्य उसमें सहज व्याप्त है। नागमती के लिए वह वर्णन असह्य था। वह डर गई कि यदि यही बात कहीं वह राजा से कह दे तो रूप के प्रलोभन से योगी होकर चल देगा। उसने अपनी धाय से उसे मार डालने के लिए कहा। धाय ने भावी परिणाम के भय से हीरामन को बस छिपा लिया। जब रत्नसेन ने आकर देखा – तोता नहीं है – वह क्रोध से भर उठा। अन्त में हीरामन सामने लाया गया और उसने सारा वृत्तान्त कहते हुए पद्मावती के अपार रूप का वर्णन किया – उस रूप का – जो अपनी उपमा आप ही है – का सिंगार ओहि बरनौ राजा। ओहिक सिंगार ओहि पै छाजा। यह वर्णन सुनकर रत्नसेन मूर्च्छित हो गया। जब चेतना लौटी, वह पद्मावती की खोज में योगी होकर निकल पड़ा। हीरामन ही उसे सिंहलद्वीप का रास्ता दिखा रहा था। रत्नसेन ने माँ और पत्नी के विलाप पर ध्यान न दिया। उसकी आसक्ति एक ही दिशा की ओर खिंची हुई थी।

जेहि के हिये पेम-रंग जामा । का तेहि भूख नींद बिसरामा।।
बन अँधियार रैनि अँधियारी । भादों बिरह भएउ अति भारी।।
किंगरी हाथ गहे बैरागी । पाँच तन्तु धुन ओही लागी।।
नैन लाग तेहि मारग, पद्मावति जेहि दीप। जैस सेवतिहि सेवै, वन चातक, जल सीप।।

इस यात्रा में उसके साथ सोलह हजार कुँवर भी योगी होकर चले। एक महीने तक लगातार चलते हुए वे कलिंग में समुद्र तट पर पहुँचे। वहाँ के राजा ने सिंहलद्वीप जाने के लिए उन्हें जहाज दिया। सात समुद्र पार कर वे सिंहलद्वीप पहुँचे। सातवाँ समुद्र मानसर ही था – जिसके सुन्दर

NMDC-065

रूप को देखकर जो प्रसन्नता हुई, वही कमल की बेल बनकर मन पर छा गई। अँधेरा चला गया था। रात्रि की कालिमा छूट चुकी थी:

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरिन रवि फूटी।।

X X X

भोर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
धुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ।।

हीरामन के निर्देशन से रत्नसेन महादेव के मन्दिर में साथी योगियों के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान करने लगा। हीरामन पद्मावती से मिलने गया तो कहकर गया – कि बसन्त पंचमी के दिन पद्मावती इसी महादेव के मण्डप में बसन्तपूजा के लिए आयेगी। उस समय तुम वह अपार रूप देख सकोगे:

तुम्ह गौनहु ओहि मण्डप, हौ पद्मावति पास।
पूजै आइ बसन्त जब, तब पूजै मन आस।।

हीरामन को इतने समय बाद पाकर पद्मावती बहुत रोई। हीरामन ने अब तक जो घटित हो चुका था, वह सब बताया और फिर रत्नसेन के गुणों तथा उसके प्रेम की पात्रता, दृढ़ता की चर्चा की। पद्मावती उसकी प्रेमविकलता से प्रभावित हुई। उसे लगा कि वही विकलता उसके मन में भी कुछ नए अनुभवों का संसार बना रही थी। उसने कहा – बसन्त पंचमी के दिन मैं पूजा के बहाने मन्दिर में जाऊँगी। हीरामन ने मन्दिर में ध्यानलीन रत्नसेन तक यह सन्देश पहुँचा दिया।

बसन्त पंचमी के दिन पद्मावती सखियों के साथ महादेव के मन्दिर में गई। पूजा करके वह योगियों को देखने के बहाने उस ओर गई जहाँ रत्नसेन ध्यान लीन था। रत्नसेन उसके रूप को देखते ही संज्ञाशून्य हो गया। पद्मावती ने उसे चेतना की स्थिति में लाने के लिए चन्दन का लेप किया जिससे वह और भी प्रगाढ़ नींद में लीन हो गया। पद्मावती ने उसके हृदय पर चन्दन से ये अक्षर लिख दिए – 'हे योगी ! जब मैं तेरे द्वार पर आई तू सो गया। यदि मुझ (चन्द्रमा) पर तेरी (सूर्य की) अनुरक्ति होगी तो तू गढ़ में प्रवेश कर सतमन्जिले महल तक आएगा।'

तब चंदन आखर हिए लिखे। भीख लेइ तुइ जोग न सिखे।।
धरी आइ तब गा तू सोई। कैसे भुगुति परापति होई।।
अब जौं सूर अहौ ससि राता। आएउ चढ़ि सो गगन पुनि साता।।

NMDC-065

रत्नसेन की चेतना लौटी तो न वह बसन्त था, न वह वाटिका थी, न खेल था, न खेलने वाली। वह पश्चात्ताप से विलाप करने लगा और उसने जल मरने का निश्चय किया। उसकी विरहाग्नि सारे संसार को जला सकती है, इस भय से देवताओं ने महादेव-पार्वती को सूचित किया कि वे कुछ करें। महादेव कोढ़ी के वेश में* बैल पर चढ़कर रत्नसेन के पास आये और जलने का कारण पूछा। उधर पार्वती ने उसके सच्चे प्रेम की परीक्षा के लिए यह छल किया। वे रत्नसेन के पास अप्सरा वेश में प्रकट हुईं और बोलीं – 'मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ। मुझे इन्द्र ने तुम्हारे लिए भेजा है। पद्मावती तो गई। अब मैं हूँ।' रत्नसेन ने कहा – मुझे न स्वर्ग चाहिए, न अप्सरा। मुझे पद्मावती के अतिरिक्त कोई कामना नहीं:

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दोसरें सौं भावा न बाता।।
जौं जिउ देइहौं ओहि कै आसा। न जानौं काह होइ कबिलासा।।

तुम्हारा रूप आकर्षक है पर मैं क्या करूँ। मुझे तो दूसरे से प्रयोजन ही नहीं। उसके लिए प्राण दे दूँगा तो न जाने तुम्हारे स्वर्ग में क्या कुछ घटित हो जायेगा। पार्वती ने तब महादेव से कहा– इसका प्रेम सच्चा है। आप इसकी सहायता करें। रत्नसेन ने महादेव के रूप को भी पहचान लिया और उसके चरणों में गिर पड़ा। महादेव ने उसे सिद्ध गुटिका दी और सिंहलद्वीप में प्रवेश का मार्ग बताया। वे फिर अन्तर्धान हो गये।

सिद्धि गुटिका पाकर राजा रत्नसेन ने योगियों के साथ सिंहलगढ़ को घेर लिया। दुर्गरक्षकों ने राजा गंधर्वसेन को उसके दुस्साहस की सूचना दी। राजा ने अपने दूत भेजे, जिन्होंने यह संदेश दिया कि 'तुम्हें जो भीख चाहिए, माँग लो, और जप-तप के लिए अन्यत्र स्थान चुनो। रत्नसेन ने पद्मावती की ही माँग की। दूत क्रुद्ध लौटे। गंधर्वसेन के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने योगियों को मारकर भगा देने का आदेश दिया। मंत्रियों ने योगियों से उलझने की सलाह न दी। इस बीच हीरामन ने रत्नसेन का प्रेमसंदेश पद्मावती तक और पद्मावती का संदेश रत्नसेन तक पहुँचा दिया। इससे रत्नसेन की प्रेमसाधना और पुष्ट हुई। गढ़ के भीतर के अथाह कुण्ड में वह रात में जा धँसा और भीतरी द्वार को, जिसमें वज्र के किवाड़ लगे थे, खोल लिया। पर तभी सबेरा हो गया और रत्नसेन अपने साथियों के साथ घेर लिया गया। राजा गन्धर्वसेन का निश्चय था– योगियों को सूली दे दी जाये। उसके सरदारों ने योगियों पर चढ़ाई की। योगी भी युद्ध के लिए प्रस्तुत थे पर रत्नसेन ने उन्हें यह कह कर रोक लिया कि प्रेम के मार्ग

*शिव द्वारा जायसी की परीक्षा लिए जाने की कहानियां आज भी लोक में प्रचलित हैं। एक कहानी यह है कि जायसी की पत्नी सुबह के कलेवे के लिए एक दिन खेत पर मट्ठा लेकर गई थी। बांटकर कलेवा करना उन्हें प्रिय था। पर उस दिन जो व्यक्ति सामने आया और जायसी का स्नेह निमंत्रण अचानक पा गया वह गलित कण्ठ से पीड़ित था। पर अब तो निमंत्रण दिया जा चुका था। पात्र एक ही था। जायसी ने उसे पीने के लिए कहा। शेष जायसी पीने ही जा रहे थे कि वह गायब हो गया। लोक में उसे शिव ही कहा गया।

NMDC-065

में क्रोध के लिए स्थान नहीं। अन्ततः योगियों सहित रत्नसेन बन्दी बना लिया गया। पद्मावती की विकलता की कोई सीमा नहीं थी पर हीरामन ने रत्नसेन को अब पूर्ण सिद्ध बताकर उसे आश्वस्त किया कि उसका अनिष्ट नहीं हो सकता:

तुम ओहिके घट, वह तुम माहाँ। काल कहाँ पावै वह छाहाँ।।
अस वह जोगी अमर भा परकाया परवेस।
आवै काल, गुरुहि तहँ देखि सो करै अदेस।।

जब रत्नसेन को बाँध कर सूली देने के लिए लाया गया तो उसे देखकर सबने अनुभव किया कि यह कोई राजपुत्र है। वह अपने में डूबा हुआ पद्मावती का नाम रट रहा था। महादेव और पार्वती पुनः भाट-भाटिनी का रूप धारण कर प्रकट हुए। भाट के रूप में महादेव ने राजा गन्धर्वसेन को समझाया कि यह योगी नहीं राजा है – तुम्हारी कन्या के योग्य वर है। इसका राजा के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बस उसके क्रोध में और उत्तेजना आ गई। योगियों का दल जूझने के लिए आगे बढ़ा। हनुमान आदि देवता भी उनकी सहायता के लिए प्रस्तुत थे। भाट ने राजा को समझाने की कोशिश की, कि यह योगी चित्तौड़ का राजा रत्नसेन है। यह पद्मावती के लिए ही योगी हुआ है। तुम्हारा तोता हीरामन ही इसे प्रेरित कर यहाँ ले आया है। हीरामन का नाम सुनते ही गन्धर्वसेन ने स्थिति समझ ली। हीरामन बुलाया गया। उसने भाट की बात का समर्थन किया। रत्नसेन के बन्धन खोल दिये गये। गन्धर्वसेन ने पद्मावती का विवाह रत्नसेन से कर दिया। उसके अन्य योगी साथियों का विवाह भी पद्मिनी कुमारियों से सम्पन्न हुआ। वे कुछ समय तक सिंहलद्वीप में रहे। विवाह का वर्णन अपने-आप में एक प्रसंग है – पद्मावती और रत्नसेन दोनों के रूप के वर्णन में कवि की सतर्कता लक्ष्य की जा सकती है:

पद्मावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रवि जेहि कहँ ससि गढ़ी।।
X X X
सखी देखावहि चमकै बाहू। तू जस चाँद सुरज तोर नाहू।।
X X X
सहसौ कला रूप विधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा।।
X X X
रूपवंत जस दरपन धनि जू जाकर कंत।
चाहिय जैस मनोहर मिला सो मन भावंत।।

('चाँद', 'सूरज' के संकेत दूसरे अर्थ की छाया भी पकड़ते हैं।)

NMDC-065

चित्तौड़ में वियोगिनी नागमती को राजा की प्रतीक्षा करते हुए एक वर्ष हो गया। उसे जीवन में केवल अंधकार दिखाई देता था। उसके विलाप ने पशु-पक्षियों तक को विचलित कर दिया। अंत में कभी आधी रात के समय एक पक्षी ने नागमती के दुःख का कारण पूछा : 'तू फिरि फिरि दाहै सब पाखी। कैहि दुख रैन न लावसि आँखी।।' नागमती का संदेश लेकर वह पक्षी सिंहलद्वीप जा पहुँचा और एक पेड़ पर उसने आश्रय लिया। एक दिन रत्नसेन शिकार खेलता हुआ उसी पेड़ के नीचे आकर रुका। तभी पक्षी ने नागमती का मर्म-संदेश कह सुनाया। रत्नसेन चित्तौड़ की स्मृति से विह्वल हो उठा :

भा उदास जौ सुना संदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू।।
कँवल उदास जो देखा भँवरा। थिर न रहै अब मालति सँवरा।।

कमल के रूप में पद्मावती उदास हुई क्योंकि भ्रमर सरीखे रत्नसेन के मन में मालती जैसी नागमती की याद विकलता पैदा कर रही थी। रत्नसेन ने गन्धर्वसेन से विदा ली। विदा के समय उसे अपार धन द्रव्य की प्राप्ति हुई। वह सोचकर प्रसन्न था कि इतनी समृद्धि के साथ चित्तौड़ लौट रहा है। वह समुद्र तट पर पहुँचा ही था कि स्वंय समुद्र याचक रूप में आ खड़ा हुआ और उसने उसके धन के 40वें भाग की याचना की। राजा रत्नसेन तो प्रलोभन के दबाव में था। उसने असहमति व्यक्त की। रत्नसेन समुद्र की आधी दूरी भी तय नहीं कर पाया था कि भयंकर तूफान आ गया। रत्नसेन के जहाज दिशा भूलकर लंका की ओर बह निकले। वहाँ विभीषण का एक राक्षस मछली मार रहा था उसने छलपूर्वक आश्वासन दिया कि वह रास्ते पर ला देगा। पर ले गया वह सब जहाजों को एक भयंकर समुद्र में – जहाँ से मुक्ति कठिन थी। जहाजों का संतुलन नष्ट हो गया। हाथी, घोड़े, मनुष्य डूबने लगे। तब समुद्र के राजपक्षी ने आकर रक्षा की। वह राक्षस को चंगुल में दबाकर उड़ गया। पर जहाज तब तक खण्ड-खण्ड हो चुके थे। जहाज के एक तख्ते पर राजा बह चला और दूसरे पर प्रतिकूल दिशा में रानी बह चली :

बोहित टूक-टूक सब भए। एहु न जाना कहँ चलि गए।।
भए राजा रानी दुइ पाटा। दूनौ बहे चले दुइ बाटा।।
काया जीउ मिलाइ कै, मारि किइ दुइ खंड। तन रोवै धरती परा, जीउ चला बरम्हंड।।

पद्मावती मूर्च्छा में ही वहाँ पहुँची जहाँ समुद्र की कन्या लक्ष्मी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। लक्ष्मी ने उसे इस स्थिति में पाया तो अपने घर ले गयी। उसके उपचार से पद्मावती चेतना की स्थिति में आई तो रत्नसेन के लिए विलाप करने लगी। लक्ष्मी ने अपने पिता समुद्र

NMDC-065

से रत्नसेन का पता लगाने के लिए कहा। राजा एक ऐसे निर्जन स्थान में पहुँचा जहाँ केवल मूँगों के टीले थे। वह कटार से अपना गला काटने ही जा रहा था कि समुद्र ब्राह्मण रूप में आ पहुँचा। उसने देखा कि राजा प्रलोभन के जाल से मुक्त है। तब उसने आश्वासन दिया कि वह पद्मावती तक पहुँच सकेगा। जब राजा समुद्र के साथ घाट तक पहुँचा तो इस बार लक्ष्मी ने रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा ली। वह पद्मावती का रूप धारण कर रत्नसेन के सम्मुख थी पर रत्नसेन ने मुँह फेर लिया। तब लक्ष्मी उसे पद्मावती से मिलाने ले गई। अब वे वहाँ सहज़ हो चुके थे। उन्होंने समुद्र का आतिथ्य स्वीकार किया। लक्ष्मी ने पद्मावती को विदा के समय जो पान का बीड़ा दिया उसमें रत्न और हीरे थे। समुद्र ने अमृत, हंस, सोनहा पक्षी, शार्दूल (सिंह) और सोना बनाने का पारस पत्थर – ये पाँच रत्न भेंट किये। समुद्र की ओर से भेजे गये पथ प्रदर्शकों ने उन्हें निर्बाध रूप से जगन्नाथपुरी पहुँचा दिया। सेना के साथ राजा चित्तौड़ पहुँचा और वहाँ दोनों रानियों (नागमती, पद्मावती) के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। नागमती से नागसेन, पद्मावती से कमलसेन- ये दो पुत्र राजा को हुए।

चित्तौड़ की राजसभा में राघव चेतन नाम का पण्डित इसलिए विशेष चर्चित था कि उसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन राजा ने पण्डितों से दूज की तिथि के बारे में जिज्ञासा की। राघव ने कह दिया 'आज'। अन्य पण्डितों ने कहा – 'आज नहीं, कल'। राघव चेतन ने यक्षिणी के प्रभाव से उसी दिन दूज का चंद्रमा दिखा दिया पर जब अगले दिन पुन: दूज की तिथि के लक्षण देखे गये तो पण्डितों ने राजा का ध्यान राघव चेतन के छल की ओर आकृष्ट किया। राघव चेतन का भेद खुल गया और उसे देश से निर्वासन का दंड दिया गया। पद्मावती को जब इस घटना का पता चला तो वह भयभीत हुई कि ऐसे पण्डित का असंतुष्ट या कुपित होना राज्य के लिए हितकर न होगा। उसने सूर्यग्रहण के बहाने बुलाकर उसे अपने हाथ का एक अमूल्य कंगन दान के रूप में दिया जिसके जोड़े का कंगन कहीं प्राप्त न था। पर जब पद्मावती गवाक्ष से कंगन दे रही थी, उसकी झलक पाकर ही राघव चेतन अचेत हो गया:

पद्मावती जो झरोखे आई। निहकलंक ससि दीन्ह दिखाई।।
ततखन राघव दीन्ह असीसा। भएउ चकोर चंदमुख दीसा।।
X X X
कंकन एक कर काढ़ि पवारा। काढ़त हार टूट और मारा।।
X X X
जानहु टूटि बीजु भुई परी। उठा चौंधि राघव चित हरी।।

परा आइ भुई कंकन, जगत भएउ उजियार। राघव बिजुरी मारा, बिसँभर किछु न सँभार।।

NMDC-065

चेतना की स्थिति में उसने निश्चय किया कि वह दिल्ली के बादशाह तक यह सौन्दर्य-संवाद पहुँचाएगा। वह जरूर ही पद्मावती की प्राप्ति की कामना से चित्तौड़ पर आक्रमण करेगा और इस प्रकार राजा से बदला लिया जा सकेगा :

कँवल बखानौ जाइ तहँ जहँ अलि अलाउद्दीन।
सुनि कै चढ़ै भानु होइ, रतन जो होइ मलीन।।

राघव चेतन सीधे दिल्ली पहुँचा और अलाउद्दीन के समक्ष उसने पद्मावती के अद्वितीय सौन्दर्य का वर्णन किया। 'सबै चितेरे चित्र के हारे/ ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे/'– ऐसे अद्वितीय सौदर्य का परिचय पाकर अलाउद्दीन की वासना जगी। उसने राघव चेतन का आदर-सत्कार किया और सरजा नामक एक दूत को चित्तौड़ भेजा। रत्नसेन को सम्बोधित पत्र में सीधे लिखा गया था– 'पद्मावती को दिल्ली भेज दो'। रत्नसेन ने क्रोधावेश में दूत को लौटा दिया। अलाउद्दीन ने बड़ी तैयारी से चित्तौड़ पर आक्रमण किया। आठ वर्ष तक वह गढ़ को घेरे ही रहा, पर गढ़ न टूट सका :

आठ बरिस गढ़ छेंका रहा। धनि सुलतान कि राजा महा।।
आइ साह अँबरावँ जो लाए। फरै झरै पै गढ़ नहिं पाए।।

उधर गढ़ घिर जाने पर राजपूतों की स्त्रियाँ चिता सजाकर रखती थीं कि वे पुरुषों की पराजय के बाद शत्रु के हाथ न पड़े। जौहर होने पर पद्मावती की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। तभी दिल्ली से हरेव लोगों के आक्रमण की सूचना मिली। अलाउद्दीन को लगा कि इस प्रकार तो दिल्ली ही मुझ से छिन जायेगी। उसने अब रण-नीति बदल दी। छलपूर्वक पुनः दूत से कहला दिया – 'बादशाह का पद्मावती के लिए कोई आग्रह नहीं है। तुम अपने राज्य का भोग करो– साथ ही चँदेरी भी तुम्हारी है। समुद्र से जो पाँच रत्न तुमने प्राप्त किये हैं, उन्हें देकर अधीनता स्वीकार कर लो'। राजा रत्नसेन को इस प्रस्ताव में कोई अन्यथा-गंध नहीं मिली। उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अलाउद्दीन ने सन्देश भेजा कि वह अगले दिन गढ़ देखने आ रहा है।

बादशाह के लिए राजसी भोज का आयोजन किया गया। सरजा और राघव चेतन के साथ बादशाह आया। गोरा और बादल –इन विश्वासपात्र सरदारों ने राजा को सतर्क किया कि अलाउद्दीन के इस आगमन की कोई दूषित प्रेरणा भी हो सकती है। पर रत्नसेन ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। कई दिनों तक बादशाह ने रत्नसेन का आतिथ्य स्वीकार किया और इसी क्रम में एक दिन वह पद्मावती के महल की ओर चला गया। वहाँ एक से एक रूपवती स्त्रियाँ स्वागत की मुद्रा में खड़ी थीं। बादशाह ने राघव चेतन से, जो छाया की भाँति साथ लगा था, प्रश्न किया– इनमें पद्मावती कौन है। राघव ने कहा– 'ये तो उसकी दासियाँ हैं। इनसे

NMDC-065

उसकी क्या समानता हो सकती है। बादशाह एक दिन वहीं महल के सामने बैठकर रत्नसेन के साथ शतरंज खेलने लगा। वहाँ उसने एक दर्पण भी इस आशय से रख लिया कि यदि पद्मावती गवाक्ष पर आती है तो उसकी छाया-आकृति दर्पण में दिखाई दे जायगी। इस बीच कुतूहलवश पद्मावती गवाक्ष पर आई और दर्पण में उसकी छाया देखकर बादशाह अचेत हो गया

बिहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साह दरपन महँ देखी।।
होतहिं दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना।।
रुख माँगत रुख तो सहुँ भएऊ। भा शह मात खेल मिटि गएऊ।।
राजा भेद न जानै झाँपा। भा बिसँभार, पवन बिनु काँपा।।

राघव चेतन ने बहाना बना लिया कि बादशाह को सुपारी लग गई है।

बादशाह ने राघव चेतन से उस देखे हुए रूप-रहस्य का वर्णन किया और राघव चेतन ने इस बात की पुष्टि की कि वही पद्मावती थी। सहज होकर बादशाह ने राजा से विदा माँगी। राजा उसके साथ-साथ गया। हर फाटक पर बादशाह राजा को कुछ न कुछ देता जा रहा था। छठे फाटक पर माण्डवगढ़ तथा सातवें पर चँदेरी दी। सातवाँ फाटक पार करते हुए राजा रत्नसेन को बन्दी बना लिया गया और वह दिल्ली की कैद में तरह-तरह की यातनाएँ झेलता रहा। बादशाह की एक ही शर्त थी – पद्मावती को देकर छुटकारा सम्भव है। रत्नसेन इस पर कैसे सहमत हो सकता था। उसे अन्धकूप में डाल दिया गया।

चित्तौड़ में सभी व्याकुल थे। नागमती पद्मावती विलाप कर रही थीं। कुंभलनेर का राव देवपाल रत्नसेन से शत्रुता मानता था। वह परम ईर्ष्यालु था। उसने पद्मावती के अपहरण की योजना बनाई और यह काम एक बूढ़ी दूती के हवाले किया। दूती पद्मावती से मिली और उसने अपना परिचय ही छलपूर्वक दिया – कहा कि 'मैं तुम्हारे बचपन की धाय हूँ'। इस पर वे गले मिलकर रोती रहीं। फिर दूती ने पद्मावती से कहना शुरू किया – 'रत्नसेन तो गया। अपना यौवन क्यों उजाड़ती हो। कुभलनेर के राव देवपाल के पास चलो'। अब पद्मावती को इस दुष्चक्र का ज्ञान हो गया और उसने दूती को प्रताड़ित कर भगा दिया। पद्मावती रत्नसेन को मुक्त करने के लिए अनेक प्रकार के यत्न – दान-पुण्य करने लगी। यह संवाद जानकर अलाउद्दीन ने भी पुन: छल किया और एक युवती दूती को जोगिन के वेश में भेजा। उसने अपनी यात्राओं के अनुभव बताकर कहा कि वह रत्नसेन को सुलतान के बन्दी गृह में देख आई है– उसे कठिन यातनाएँ दी जा रही हैं। पद्मावती उसके साथ दिल्ली जाने-जाने को हुई कि अपने प्रिय को छुड़ा सके। पर सखियों ने रोक कर सलाह दी – 'गोरा बादल के पास जाकर उनकी सहायता प्राप्त करो'।

NMDC-065

रानी पद्मावती गोरा बादल के घर गई। पद्मावती के दुख से वे स्वयं आकुल हो उठे। उन्होंने भी छल के विरुद्ध छल की ही युक्ति लगाने की बात सोची। गोरा बादल ने सोलह सौ पालकियाँ सजाई। प्रत्येक पालकी में एक-एक सशस्त्र सैनिक को बिठाया। सबसे मूल्यवान पालकी में एक लुहार बैठा। इस प्रकार वे यह प्रचारित करके चले कि पद्मावती दिल्ली जा रही है। उसके साथ सोलह सौ सखियाँ हैं। दिल्ली पहुँच कर गोरा बंदीगृह में पहुँचा और वहाँ के रक्षक अधिकारी को दस लाख रुपये भेंट देकर प्रार्थना की– 'बादशाह से जाकर कहो कि रानी पद्मावती सखियों के साथ आ गई हैं। उसने अनुरोध किया है कि चित्तौड़ के भण्डार और गढ़ की चाभी उसके पास है। यदि एक घड़ी के लिए वह राजा से मिल सके तो चाभी उसे सौंप कर महल में आ जाय।' इस पर बादशाह ने रक्षक भेजे पर दस लाख की अन्यथा भेंट पाकर उन्होंने पालकियों को देखा ही नहीं। पद्मावती को राजा से मिलने की आज्ञा प्राप्त हो गई। पालकी राजा के पास तक गई। उसमें से निकलकर लुहार ने बन्धन काट दिए। राजा सशस्त्र घोड़े पर जा बैठा। अन्य पालकियों में से भी सशस्त्र सैनिक निकले। गोरा बादल ने तलवारें खींच लीं और वे विजय की मनःस्थिति में राजा को लेकर चित्तौड़ की ओर चल पड़े :

गोरा बादल खाँड काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े।।
तीख तुरंग गगन सिर लागा। केहुँ जुगुति करि टेकी बागा।।
जो जिए ऊपर खड्ग सँभारा। मरनहार सो सहसन्ह मारा।।
भई पुकार साह सौं, ससि औ नखत सो नाहि।
छरके गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं।।

सूचना मिलते ही बादशाह ने बड़ी फौज लेकर पीछा किया। तब हज़ार सैनिकों को लेकर गोरा बादशाह की सेना के प्रतिरोध के लिए डट गया और बादल शेष सैनिकों साथ चित्तौड़ की ओर चला। गोरा ने बहुत समय तक प्रतिरोध किया पर अन्त में वह अपने सहयोगियों सहित मारा गया। बादल रत्नसेन सहित चित्तौड़ पहुँच चुका था।

चित्तौड़ पहुँच कर रत्नसेन ने देवपाल की कुटिल योजना के बारे में सुना। वह क्रोध से भर उठा। उसने सोचा, जब तक शाही सेना चित्तौड़ आती है, वह कुंभलनेर जाकर देवपाल को बाँध लाएगा। वह सेना लेकर कुंभलनेर पहुँचा। देवपाल ने उसे सीधे द्वन्द्व युद्ध के लिए चुनौती दी। रत्नसेन ने चुनौती स्वीकार की। देवपाल ने रत्नसेन को विष बुझी साँग मारी जो नाभि को भेदकर पीठ की ओर जा निकली। देवपाल का धड़ भी रत्नसेन के प्रहार से अलग हो गया। रत्नसेन ने उसका सिर काटकर बाँध लिया और चित्तौड़ की ओर चला। मार्ग में ही उसकी दशा बिगड़ गयी। उसने चित्तौड़गढ़ की रक्षा का भार बादल पर सौंप दिया। यह रत्नसेन

NMDC-065

के जीवन का अन्त था। शव चित्तौड़ ले जाया गया। राजा के शव के साथ नागमती पद्मावती दोनों रानियाँ सती हो गईं। तभी बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ को घेर लिया और अन्तत चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का प्रभुत्व स्थापित हो गया:

जौहर भइ सब इस्तरी पुरुष भए संग्राम।
बादसाह गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।।

यह 'पद्मावत' की सीधी कहानी है पर इस कहानी में रूपकात्मक प्रतीक-योजना इस प्रकार घुली-मिली है कि कहानी का एक ही अर्थ जायसी के पाठकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। जिस तर्क से पात्रों के व्यक्तित्व का विधान किया गया है, उसमें ही दूसरे अर्थ की सम्भावना सक्रिय होती है। कहानी जहाँ समाप्त होती हैं वहाँ एक उपसंहार भी है – हालांकि अध्येताओं में इसकी प्रामाणिकता विवादास्पद बनी हुई है :

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँधा सोइ, न एहि चिता बंधा।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारेउ।।

हिन्दू परिवेश की प्रेम कथा और लोकभाषा के माध्यम का लाभ उठाकर कही गई इस महाकाव्योचित कहानी में पद्मावती ईश्वर की अद्वितीय सौन्दर्य-सत्ता का प्रतीक है, रत्नसेन अपनी गहरी प्रेम-व्याकुलता में जीवात्मा के लिए प्रतीक है, नागमती रत्नसेन और पद्मावती के सम्बन्ध में पहले बाधा ही बनी हुई है – इस आशय से वह माया (दुनिया धंधा) के लिए प्रतीक है। अलाउद्दीन भी माया का ही दूसरा रूप है और राघव चेतन शैतान का प्रतीक है। इस गूढ़ संकेत-प्रधान कहानी को जायसी इतने मार्मिक लगाव से कहते हैं कि कहानी का लौकिक अर्थ कहीं धुँधला नहीं पड़ता। प्रेम कहानी प्रेम कहानी के रूप में भी उतनी ही हृदयस्पर्शी है, जितनी रूपक-वस्तु के रूप में गहरे अर्थ से समृद्ध। दूसरी दृष्टि से, यह केवल प्रेम कहानी नहीं है, प्रेम और संघर्ष की मिली जुली कहानी है। इस प्रकार यह कहानी पण्डितों के ही लिए नहीं, सामान्य जन के लिए भी है।

NMDC-065

8. जायसी का वियोग पक्ष

रामचंद्र शुक्ल

जायसी का विरह-वर्णन कहीं कहीं अत्यंत अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया हैं, उसमें गांभीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्द-संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं; बाहर-बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड मात्र नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तों को भूनकर पापड़ बना डालने वाले, बोतल का गुलाबजल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप-जोख पर नहीं जो प्राय: ऊहात्मक हुआ करती है। नाप जोखवाली ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है। जैसे, राजा की प्रेम-पत्रिका के इस वर्णन में –

आखर जरहिं, न काहू छूआ। तबदुख देखि चला लेइ सूआ।।

अथवा नागमती के विरह-ताप की इस व्यंजना में–

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहि निपात।।

इस ऊहात्मक पद्धति का दो-चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इन्होंने अत्युक्ति की है और ख़ूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है, परिमाण-निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदना का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है। अत्युक्ति या अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा में सिद्ध और साध्य का भेद होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान साध्य (संभावना या संवेदना के रूप में) होता है और अत्युक्ति या अतिशयोक्ति में सिद्ध। "धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है" यह वाक्य मात्रा का आधिक्य मात्र सूचित करता है। मात्रा के आधिक्य का निरूपण ऊहा द्वारा कुछ चक्कर के साथ भी हो सकता है, जैसा कि बिहारी ने प्राय: किया है। पर यह पद्धति काव्य के लिये सर्वत्र उपयुक्त नहीं। लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर कुछ कवियों ने ऊहा का जो विस्तार किया है वह अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा हो गया है। वह "कुल का दीपक है'' इस बात को लेकर यदि कोई कहे कि "उसके घर तेल के खर्च की बिल्कुल बचत होती है'' तो इस उक्ति में कवित्व की कुछ भी सरसता न पाई जायगी। बिहारी का "पत्रा ही तिथि पाइए'' वाला दोहा इसी प्रकार का है। अस्तु, "धूप ऐसी है कि रखते रखते

NMDC-065

पानी खौल जाता है'' यह कथन ऊहा द्वारा मात्रा-निरूपण के रूप में हुआ। यही बात यदि इस प्रकार कहा जाय कि "धूप क्या है, मानों चारों ओर आग बरस रही है'' तो यह संवेदना के रूप में कहा जाना होगा। पहले कथन में ताप की मात्रा का आधिक्य व्यंग्य है, दूसरे में उस ताप से उत्पन्न हृदय की वेदना। एक में वस्तु व्यंग्य है, दूसरे में संवेदना, पहला वाक्य बाह्य वृत्त का व्यंजक है और दूसरा आभ्यंतर अनुभूति का। मतलब यह कि जायसी ने यह कम कहा है कि विरह-ताप इतनी मात्रा का है, यह अधिक कहा है कि ताप हृदय में ऐसा जान पड़ता है; जैसे -

(क) जानहुँ अगिनि के उठहिं पहारा ।औ अब लागहिं अंग अँगारा।।
(ख) जरत बजागिनि करु, पिउ, छाहाँ ।आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ।।
लागिउँ जरै, जरै जस भारू ।फिरि फिरि भूँजेसि तजिउन बारू।।

"फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू"। भाड़ की तपती बालू के बीच पड़ा हुआ अनाज का दाना जैसे बार बार भूने जाने पर उछल उछल पड़ता है पर उस बालू से बाहर नहीं जाता, उसी प्रकार इस प्रेमजन्य संताप के अतिरेक से मेरा जी हट हटकर भी उस संताप के सहने की बुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का ध्यान आते ही चित्त ताप से विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार बार उसी का ध्यान करता रहता है। प्रेम-दशा चाहे घोर यंत्रणामय हो जाय पर हृदय उस दशा से अलग होना नहीं चाहता। यहाँ इसी विलक्षण स्थिति का चित्रण है। यहाँ हम कवि को वेदना के स्वरूप- विश्लेषण में प्रवृत्त पाते हैं, ताप की मात्रा नापने में नहीं। मात्रा की नाप तो बाहर बाहर से भी हो सकती है, पर प्रेमवेदना के आभ्यंतर स्वरूप की पहचान प्रेमवेदनापूर्ण हृदय में ही हो सकती है। जायसी का ऐसा की हृदय था। विरह-ताप का वर्णन कवि ने अधिकतम् सादृश्य-संबंध-मूलक गौणी लक्षण द्वारा किया है। आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिए ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार का देखा जाता है –

(1) ऊहा की आधार-भूत वस्तु असत्य अर्थात कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध है।

(2) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य का स्वत: संभवी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

(3) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गई।

इनमें से प्रथम प्रकार के उदाहरण वे हैं जिन्हें बिहारी ने विरह-ताप के वर्णन में दिए हैं – जैसे, पड़ोसियों को जाड़े की रात में भी बेचैन करने वाला, या बोतल में भरे गुलाबजल को सुखा डालने

NMDC-065

वाला ताप, दूसरे प्रकार का उदाहरण एक स्थल पर जायसी ने बहुत अच्छा दिया है, पर वह विरह-ताप के वर्णन में नहीं है, काल की दीर्घता के वर्णन में है। आठ वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा। इस बात को एक बार तो कवि ने साधारण इतिवृत्त के रूप में कहा, पर उससे वह गोचर प्रत्यक्षीकण न हो सका जिसका प्रयत्न काव्य करता है। आठ वर्ष के दीर्घत्व के अनुमान के लिए फिर उसने यह दृश्य आधार सामने रखा –

आइ साह अमराव जो लाए। फरे, झरे पै गढ़ नहिं पाए।।

सच पूछिए तो वस्तु-व्यंजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का इसी रूप में अवलंबन सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसमें अनुमान का आधार सत्य या स्वत: संभवी हैं। जायसी अनुमान या ऊहा के आधार के लिए ऐसी वस्तु सामने लाए हैं जिसका स्वरूप प्राकृतिक है और जिससे सामान्यत: सब लोग परिचित होते हैं। इसी प्रकार एक गीत में एक वियोगिनी नायिका कहती हैं कि 'मेरा प्रिय दरवाजे पर जो नीम का पेड़ लगा गया था बढ़कर अब फूल रहा है, पर प्रिय न लौटा।' आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति से कितना भोलापन बरस रहा है !

विरह-ताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए जहाँ कहीं जायसी ने ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का अवलंबन किया है वहाँ अधिकतर तीसरे प्रकार का विधान ही देखने में आता है जिसमें ऊहा की आधारभूत वंस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वत: संभवी होता है पर उसके हेतु की कुछ और ही कल्पना की जाती है। इस प्रकार का विधान भीं प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमें हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है। हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसको अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती। इस युक्ति से कवि विरह - ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण काफी होगा –

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा।।
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा।।
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं।।
जरै सो धरती ठाबहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ।।

इन चौपाइयों में मेघों का श्याम होना, राहु-केतु का काला (झुलसा सा) होना, सूर्य का तपना, चंद्रमा की कला का खंडित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं। वे विरह-ताप के कारण ऐसे है केवल यह बात कल्पित है।

NMDC-065

ताप के अतिरिक्त विरह के और अंगों का भी विन्यास जायसी ने इसी हृदय-हारिणी और व्यापकत्व-विधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यतर जगत् का प्रतिबिंब सा दिखाते हुए किया है। काम हेतूत्प्रेक्षा से लिया गया है। प्रेम-योगी रत्नसेन के विरह-व्यथित हृदय का भाव हम सूर्य. चंद्र, वन के पेड़, पक्षी, पत्थर, चट्टान सबमें देखते चलते हैं।।

रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे।।
नैनहिं चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा।।
सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता।।
भा बसंत, राती बनसंपती। औ राते सब जोगी जती।।
भूति जो भीति भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू।।
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते मेहि छाया।।
ईगुर भा पहार जौ भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा।।

इसी प्रकार नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है –

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुँघची बन बोई।।
जहँ जहँ ठाढि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघचि कै रासी।।
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गूँजि करै, "पिउ पीऊ।।"
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू-बूड़ि उठे होइ राते।।
राते बिंब भीति तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ।।

विरह-वर्णन में भक्तवर सूरदासजी ने भी गोपियों के हृदय के रंग में बाह्य प्रकृति को रंगा है। एक स्थान पर तो गोपियों ने उन उन पदार्थों को कोसा है जो उस रंग से कोरे दिखाई पड़े हैं–

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात भर रोती फिरती हैं। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य-दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते है और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुख सुनाने से भी जी हलका होगा। सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा! उसकी पटरानी, जो कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी, वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह

NMDC-065

रही है, उनके सामने अपना हृदय खोल रही है। हृदय की इस उदार और व्यापक दशा का कवियों ने केवल प्रेम-दशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मारने के लिये शत्रु का पीछा करता हुआ क्रोधातुर मनुष्य पेड़ों और पक्षियों से यह पूछता हुआ कहीं नहीं कहा गया है कि "भाई! किधर गया?" बाल्मीकि, कालिदास आदि से लेकर जायसी, सूर, तुलसी आदि भाषा-कवियों तक सबने इस दशा का सन्निवेश विप्रलभ (या कहीं कहीं करुण) में ही किया है। बाल्मीकि के राम सीता-हरण होने पर वन वन पूछते फिरते हैं -

"हे कदब! तुम्हारे फूलों से अधिक प्रीति रखने वाली मेरी प्रिया को यदि जानते हो तो बताओ हे बिल्व वृक्ष! यदि तुमने उस पीत-वस्त्र-धारिणी को देखा हो तो बताओ। हे मृग! उस मृगनयनी को तुम जानते हो?" इसी प्रकार तुलसी के राम भी वन के पशु-पक्षियों से पूछते हैं --

हे खग, मृग, हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी ?

कालिदास का यक्ष भी चेतनाचेतन-भेद इसी प्रेमदशा के ही भीतर भूला है। इससे यह सिद्ध है कि कवि परंपरा के बीच यह एक मान्य परिपाटी है कि इस प्रकार की दशा का वर्णन प्रेम-दशा के भीतर ही हो।

इस संबंध में मामूली तौर पर तो इतना की कहना काफी समझा जाता है कि 'उन्माद' की व्यंजना के लिए इस प्रकार का आचरण दिखाया जाता है। 'उन्माद' ही सही, पर एक खास ढर्रे का है। इसका आविर्भाव प्रेम-ताप से पिघल कर फैले हुए हृदय में ही होता है। संबंध का मूल प्रेम है, अत: प्रेम-दशा के भीतर ही मनुष्य का हृदय उस संबंध का आभास पाता है जो पशु, पक्षी, द्रुम, लता आदि के साथ अनादि काल से चला आ रहा है।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है। उसके विलाप से घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई है --

फिरि फिरि, रोब,कोई नहिं डोला। आधी रात बिहंगम बोला।।
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।।

और कवियों ने पशु-पक्षियों को संबोधन भर करने का उल्लेख करके बात और आगे नहीं बढ़ाई है जिससे ऊपर से देखने वालों का ध्यान 'उन्माद' की दशा ही तक रह जाता है। पर जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना की है, उसी प्रकार पक्षियों हृदय में सहानुभूति के संचार की भी उन्होंने सामान्य हृदय-तत्त्व की सृष्टि-व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सबको एक जीवन-सूत्र में बद्ध देखा है। राम के प्रश्न का खग, मृग और मधुकर कुछ जवाब नहीं देते। राजा पुरुरवा, कोकिल, हंस इत्यादि

NMDC-065

को पुकारता ही फिरता है, पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता (विक्रमोर्वशी अंक 4)। पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है। वह उसके दुःख का कारण पूछता है। नागमती उस पक्षी से कहती है –

चारिउ चक्र उजार भए, कोई न सँदेसा टेक।
कहौं बिरह-दुख आपन, बैठि सुनहु दँड एक।।

इस पर वह पक्षी संदेशा ले जाने को तैयार हो जाता है।

पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो संदेशा कहा है वह अत्यंत मर्मस्पर्शी है। उसमें मान, गर्व आदि से रहित, सुख-भोग की लालसा से अलग, अत्यंत नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है –

पदमवित सौं कहेहु, बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिए दुंद दुख पूरा।।
हमहुँ बिआही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ, जानु पर-जीऊ।।
मोहि भोग सौं काज न, बारी। सौंह दिस्टि कै चाहनहारी।।

मनुष्य के आश्रित, मनुष्य के पाले हुए, पेड़-पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुःख से दुखी दिखाई देते हैं, यह दृश्य बड़े कौशल और बड़ी सहृदयता से जायसी ने दिखाया है। नागमती की विरह दशा में उसके बाग-बगीचों से उदासी बरस रही थी। पेड़ पौधे सब मुरझाए पड़े थे। उनकी सुध कौन लेता है? पर राजा रत्नसेन के चित्तौड़ लौटते ही –

पलुटी नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलवारी।।
जाबत पंखि रहे सब दहै। सबै पंखि बोले गहगहे।।

जब पेड़ पौधे सूख रहे थे तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोग-दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों तक दिखाई पड़ता था। कालिदास ने पाले हुए मृग और पौधों के प्रति शंकुतला का स्नेह दिखाकर इसी व्यापक और विशद भाव की व्यंजना की है।

विप्रलंभ शृंगार ही 'पदमावत' में प्रधान है। विरह-दशा के वर्णन में जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ कोई अरुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है। कृशता, ताप, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने शृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है; केवल उसके स्वरूप में कुछ अंतर दिखा दिया है। जो पद्मिनी स्वभावतः पद्मिनी के समान विकसित रहा करती थी वह सूखकर मुरझाई हुई लगती है –

NMDC-065

कँबल सूख, पखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानी।।

इस रूप में प्रदर्शित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और दया का पूरा अवसर रहता है। पाठक उसकी दशा व्यंजित करने वाली वस्तु की ओर कुछ देर दृष्टि गड़ाकर देख सकते हैं। मुरझाया फूल भी फूल ही है। अतीत सौंदर्य के स्मरण से भाव और उद्दीप्त होता है। पर उसके स्थान पर यदि चीरकर हृदय का खून नसें और हड्डियाँ आदि दिखाई जाय जो दया होते हुए भी इन वस्तुओं की ओर दृष्टि जमाते न बनेगा।

विरह दशा के भीतर "निवलंबता" की अनुभूति रह रहकर विरही को होती है। देखिए कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है –

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार।।

'लागै केहि के डार' मुहावरा भी बहुत अच्छा आया है।

'पदमावत' में यद्यपि हिंदू जीवन के परिचायक भावों की ही प्रधानता है, पर बीच बीच में फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के भी छींटे कहीं कहीं मिलते हैं। विदेशीय प्रभाव के कारण वियोग-दशा के वर्णन में कहीं कहीं वीभत्स चित्र सामने आ जाते हैं ; जैसे 'कबाबे सीख" वाला यह भाव –

बिरह – सरागन्हि भूँजै माँसू । गिरि गिर परै रकत कै आँसू।
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा । रकत कै आँसु माँसु सब रोवा।।
खिन एक बार माँसु अस भूँजा । खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूँजा

वियोग में इस प्रकार के बीभत्स दृश्य का समावेश जायसी ने जो किया है वह तो किया ही है, संयोग के प्रसंग में भी वे एक स्थान पर ऐसा ही बीभत्स चित्र सामने लाए हैं। बादल जब अपनी नवागत वधू की ओर से दृष्टि फेर लेता है, तब वह सोचती है कि क्या मेरे कटाक्ष तो उसके हृदय को बेधकर पीठ की ओर नहीं जा निकले हैं। यदि ऐसा है तो तूबी लगाकर मैं उसे खींच लूँ, और जब वह पीड़ा से चौंककर मुझे पकड़े तो गहरे रस से उसे धो डालूँ –

मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू । हुलसा पीठि कढ़ावौं सालू।।
कुच –तुँबी अब पीठि गड़ोवौं । गहे जो हुकि, गाढ़ रस धोवौं।।

कटाक्ष या नेत्रों को 'अनियारे' 'नुकीले' तक कह देना तो ठीक है, पर ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक पद्धति पर इस कल्पना को और आगे बढ़ाकर शरीर पर सचमुच घाव आदि दिखाने लगना काव्य की सीमा के बाहर जाना है जैसा कि एक कविजी ने किया है –

NMDC-065

काजर दे नहिं, एरी सुहागिनि ! आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए। कटाक्ष मन में चुभते हैं, न कि शरीर पर प्रत्यक्ष घाव करते हैं।

विरह-जन्य कृशता के वर्णन में भी जायसी ने कवि प्रथानुसार पूरी अत्युक्ति की है, पर उस अत्युक्ति में भी गंभीरता बनी हुई है, वह खेलवाड़ या मजाक नहीं होने पाई है। बिहारी की नायिका इतनी क्षीण हो गई है कि जब साँस खींचती है तब उसके झोंके से चार कदम पीछे हट जाती है और जब साँस निकालती है तब उसके साथ चार क़दम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की सी दशा उसकी रहती है। इसी प्रकार उर्दू के एक शायर साहब ने आशिक को जूँ या खटमल का बच्चा बना डाला –

इंतहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वो कहने लगे, बिस्तर को झाड़ा चाहिए।।

पर जायसी का यह वर्णन सुन हृदय द्रवीभूत होता है, हँसी नहीं आती –

दहि कोइला भइ कंत-सनेहा। तोला माँसु रही नहिं देहा।
रकत न रहा, बिरह तन जरा। रती रती होई नैनन्ह ढरा।।
- - - - - - - - - - - - - - -
हाड़ भए सब किंगरी, नसै भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठे, कहौं बिथा केहि भाँति।।

इसी नागमती के विरह-वर्णन के अंतर्गत यह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिंदू दांपत्य-जीवन का अत्यंत मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारो ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्यभावना तथा विषय के अनुसार भाषा अत्यंत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इन कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान जाने पर भी इसके सौंदर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है। इस बारह-मासे में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है जिसमें आनंदप्रद वस्तुओं का दुःखप्रद होना दिखाया जाता है, जैसा कि मंडन कवि ने कहा है –

जेइ जेइ सुखद, दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछरत जदुपत्ती।

प्रेम में सुख और दुःख दोनों की अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ़ जाती है उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी। संयोग की अवस्था में जो प्रेम सृष्टि की सब वस्तुओं से आनंद का

NMDC-065

संग्रह करता है वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से आनंद का संग्रह करता है। इसी दु:खद रूप में प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य का अनुभव मनुष्य – मात्र राजा से लेकर रंक तक – करते हैं। अत: इस बारहमासे में मुख्यत: दो बातें देखने को हैं –

(1) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन।
(2) दु:ख के नाना रूपों और कारणों की उद्‌भावना।।

प्रथम के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत कवियों का सा संश्लिष्ट विशद चित्रण उद्दीपन की दृष्टि से किए हुए ऋतु -वर्णन में नहीं हुआ करता; केवल वस्तुओं और व्यापारों की अलग-अलग झलक भर दिखाकर प्रेमी के हृदय की अवस्था की व्यंजना हुआ करती है। परिचित प्राकृतिक दृश्यों को साहचर्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है। इस प्रकार बहुत ही सुंदर संकेत – बहुत ही मनोहर झलक – इस बारहमासे में हम पाते हैं कुछ उदाहरण लीजिए –

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा। साजा बिरह, दुंद दल बाजा।।
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पांति देखाए।।
खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान-बरसहिं चहुँ ओरा।।

– – – – – – – – – – – – – – – – – –

बाट असूझ अथाह गँभीरी। जिउ बाउर भा फिरे भँभीरी।।
जग जल बूड़ जहां लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी।।
जेठ जरै जग चलै लुवारा। उठहिं बंवडर परहिं अँगारा।।
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी।।

अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायसी ने इस बात में दिया है कि रानी नागमती विरह-दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-वाक्य छोटे बड़े सबके हृदय को समान रूप में स्पर्श करते हैं। यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं। पर जायसी ने स्त्री-जाति की या कम से कम हिंदू गृहिणी-मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलंभ शृंगार के अत्यंत समुज्जवल रूप का विकास दिखाया है। देखिए, चौमासे

NMDC-065

में स्वामी के न रहने से घर की जो दशा होती है किस प्रकार गृहिणी के विरह का उद्दीपन करती है –

पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।।

इसी प्रकार शरीर का रूपक देकर बरसात आने पर साधारण गृहस्थों की चिंता और आयोजना की झलक दिखाई गई है –

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। मोहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी।।
जन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी।।
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न बाव, कहौं का रोई।।
सांठि नाठि, जग बात को पूछा ? बिन जिउ फिरे मूँज-तनु छूछा।।
भई दुहेली टेक - बिहूनी। थाँभ नाहिं, उठि सकै न थूनी।।
बरसै मेह चुवहिं नैनाहा।। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा।।
कोरौ कहाँ, ठाह नव साजा।। तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा।।

यह आशिक-माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है; यह हिंदू-गृहिणी की विरहवाणी है। इसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।

यद्यपि इस बारहमासे में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की रूढ़ि के अनुसार अलग अलग झलक भर दिखाई गई है, उनका संश्लिष्ट चित्रण नहीं है; पर एक आध जगह कवि का अपना निरीक्षण भी बहुत सूक्ष्म और सुंदर है जिसका उल्लेख वस्तु-वर्णन के अंतर्गत किया जायगा।

अब दु:ख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना लीजिए। जायसी के विराहोद्गार अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। जायसी को हम विप्रलंभ शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता और जो गंभीरता इनके वचनों में है, वह अत्यंत दुर्लभ है नागमती सब जीव-जंतुओं पशु-पक्षियों में सहानुभूति की भावना करती हुई कहती है -

पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग।
सो धन विरहे जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग।।

इस सहानुभूति की संभावना रानी के हृदय में होती कैसे है? यह समझकर होती है कि भौंरा और कौवा दोनों उसी विरहाग्नि के धुएँ से काले हो गए हैं जिसमें मैं जल रहीं हूँ। सम-दु:ख- भोगियों में परस्पर सहानुभूति का उदय अत्यंत स्वाभाविक है। 'संदेहड़ा' शब्द में 'ड़ा' का प्रयोग भी बहुत ही उपयुक्त है। ऐसा शब्द उस दशा में मुंह से निकलता है जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता

NMDC-065

आदि में से कोई भाव लिए हुए होता है। "हे भौंरा ! हे काग ! '' से एक एक को अलग अलग संबोधन करना सूचित होता है। आवेगा की दशा में यँही उचित है। "हे भौंरा औ काग'' कहने में यह बात न होती।

दु:ख और आह्लाद की दशा में एक बड़ा भारी भेद है। जब हृदय दु:ख में मग्न रहता है तब सुखद और दु:खद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दु:ख का संग्रह करता है। पर आनंद की दशा का पोषण केवल सामान्य या आनंददायक वस्तुओं से ही होता है, दु:खप्रद वस्तुओं से नहीं। विरह-दशा दु:ख-दशा है। इसमें कष्टदायक वस्तुएं तो और भी कष्टदायक हो ही जाती हैं, जैसे –

(क) कापै दिया जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ।।
पहल पहल तन रूई झाँपै। हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै।।

(ख) चारिहु पवन झकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी।।
उठै आगि औ आवै आँधी । नैन न सूझ, मरौं दुख-बाँधी।

सुखदायक वस्तुएँ भी दु:ख को बढ़ाती है, जैसे –

कातिक सरद-चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी।।
चौदह कर चाँद परगासा । जनहुँ जरै सब धरति अकासा।।
तन, मन, सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चंदमयहु मोहि राहू।।

कहीं संयोग-सुख या आनंदोत्सव देखकर अपने पक्ष में उसके अभाव की भावना से विरह की आग और भी भड़कती है-

(क) अबहूँ निठुर आउ एहि बारा। परब देवारी ,होइ संसारा।।
सखि झूमुक गावै अँग मोरी । हौं झुरावँ, बिछुरी मोरि जोरी।।

(ख) करहिं बनसपति हिए हिलासू । मो कह भा जग दून उदासू।।
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहि तन दीन्हि जस होरी।।

नागमती देखती हैं कि बहुतों के बिछुड़े हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं। इस वैषम्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है किसी वस्तु के अभाव से दुखी मनुष्य के हृदय की यह एक अत्यंत स्वाभाविक वृत्ति है। पपीहे का प्रिय पयोवर आ गया, सीप के मुँह में स्वाति की बूँद पड़ गई, पर नागमती का प्रिय न आया।

NMDC-065

चित्रा मित्र मीन कर आवा । पपिहा पीउ पुकारत पावा।।
स्वाति बूँद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे।।
सरवर सँवरि हंस चलि आए । सारस कुरलहिं खँजन देखाए।।

विरह का दु:ख ऐसा नहीं कि चारों ओर जो वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं उनसे कुछ जी बहले। उनसे तो और भी अपनी दशा की ओर विरही का ध्यान जाता है, और भी उस दशा का दु:सह स्वरूप स्पष्ट होता है – चाहे वे उसकी दु:ख-दशा से भिन्न दशा में दिखाई पड़ें, चाहे कुछ सादृश्य लिए हुए। भिन्न भाव में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं के नमूने तो ऊपर के उदाहरणों में आ गए हैं। अब भिन्न-भिन्न ऋतुओं की नाना वस्तुओं और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार सादृश्य-भावना द्वारा अपनी दशा की व्यंजना का सुलभ सावन बनाया करते हैं, यह भी देखिए –

बरसै मेघा झकोरि झकोरि। मोह दुइ नैन चुवै जस ओरी।।
पुरबा लाग, भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी।।

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला । हरियरि भूमि, कुकुभी चोला।।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देह झकझोरा।।

तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देह झकझोरा।।

विरहणी की इस सादृश्य-भावना का वर्णन कवि-परंपरा सिद्ध है। सूरदास का 'निसि-दिन बरसत नैन हमारे' यह पद प्रसिद्ध है। और कवियों ने भी ऋतु-सुलभ वस्तुओं और व्यापारों के साथ विरहिणी के तन और मन की दशा का सादृश्य-वर्णन किया है। यह सादृश्य-कथन अत्यंत स्वाभाविक होता है, क्योंकि इसमें उपमान ऊहा द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है, और प्रस्तुत रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है। वैशाख में विरहिणी एक ओर सूखते तालों की दरारों को देखती है, दूसरी ओर विदीर्ण होते हुए अपने हृदय को। बरसात में वह एक ओर तो टपकती हुई ओलती देखती है, दूसरी और अपनें आँसुओं की धारा। एक ओर सूखे 'आक जवास' को देखती है, दूसरी ओर अपने शरीर को। शिशिर में एक ओर सूखकर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है, दूसरी ओर अपनी पीली पड़ी देह को। अत: उक्त उपमाएँ 'दूर की सूझ' नहीं हैं। उनमें सादृश्य बहुत सोचा विचारा हुआ नहीं है, उसका उदय विरह-विह्वल अंत:करण में बिना प्रयास हुआ है दो उपस्थित वस्तुओं में सादृश्य की ऐसा स्वाभाविक भावना संस्कृत-कवियों ने बहुत अच्छी की है। कालिदास का यह श्लोक ही लीजिए –

NMDC-065

स पाटलायां गवि तस्थिवासं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धतुमय्यां लोध्रदुमं सानुमतः प्रफुल्ल्म् ।।

इस बारहमासे में हृदय के वेग की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से होने पर भी भाव अत्यंत उत्कर्ष-दशा को पहुँचे हुए दिखाए गए हैं। देखिए, अभिलाषा का यहाँ कैसा उत्कर्ष है –

रात दिवस बस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कंत अब तोरे।

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कतं धरै जहँ पाव।।

NMDC-065

9. पद्मावत का विश्लेषण

विजयदेव नारायण साही

पद्मावत को देखते समय हम रतनसेन का आत्यन्तिक प्रेम और सिंघल द्वीप पहुँच कर पद्मावती को प्राप्त करना, केवल इतनी ही कहानी न देखें, बल्कि समूची कथा को देखें। इस पर जायसी ने प्रबन्ध के आरम्भ में भी जोर दिया है और अन्त में भी। आरम्भ में जायसी ने कथा का सार इन शब्दों में बताया है :

सन नौ से सैतालिस अहै । कथा अरंभ बैन कबि कहै।।
सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी।।
अलाउदी ढिल्ली सुलतानू । राघौ चेतन कीन्ह बखानु।।
सुना साहि गढ़ छेंका आई । हिन्दू तुरुकहिं भई लराई।।
आदि अंत जसि कथ्था अहैं। लिखि भाषा चौपाई कहै।।

इस वर्णन में वस्तुत: कथा के आरंभिक अंश को केवल एक चौपाई में कह दिया गया है कि सिंघल द्वीप में एक पद्मिनी रानी हुई। रतनसेन उसे चित्तौड़ लाया। कथा के उत्तरार्द्ध के लिए तीन चौपाइयों का प्रयोग किया गया है और अलाउद्दीन के साथ राघव चेतन को भी महत्व दिया गया। किस प्रकार हिन्दुओं और तुर्कों में लड़ाई हुई, यह कवि की कथा का महत्वपूर्ण अभिप्राय है। फिर जोर देकर कहा गया है कि आदि से अन्त तक जितनी कथा है, वह समूची कथा कहना कवि का उद्देश्य है।

ग्रन्थ के अन्त में जायसी ने फिर कहा है :

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा । सुना सो पेम पीर गा पावा।।
जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई।।
औ मन जानि कबित अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।।
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा।।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू।।
कहँ सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी।।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू।।

केइँ न जगत जस बेंचा केइँ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल।।

इस उपसंहार में जायसी ने कई बातें कही हैं। इस कड़वक की पहली तीन चौपाइयों में प्रेम और

NMDC-065

पीर का उल्लेख हैं। इन चौपाइयों में प्रेम की अनुभूति पाठक, लेखक तथा पात्रों, तीनों में संचरित होती हुई व्यंजित की गयी है। लेकिन प्रेम के अतिरिक्त उपसंहार का अन्तिम आग्रह यश पर है। यह यश ही है जो पुरुष को धन्य बनाता है और फूल के मर जाने के बाद सुगन्ध की तरह अमर रहता है। इस यश को न कोई बेच सकता है, न खरीद सकता है। प्रेम-पीर से कुछ अधिक जोर यश पर देकर जायसी ने कथा की महत्वपूर्ण प्रकृति को रेखांकित किया हैं। प्रेम और यश के बीच में जायसी ने फिर कथासार दिया है। एक तरफ़ रतनसेन राजा हैं और उनके साथ हीरामन तोता है। कथा की दूसरा भुजा पर अलाउद्दीन सुलतान है और उसके साथ राघव चेतन है। जिस तरह हीरामन रतनसेन से पद्मिनी का बखान करता है, उसी तरह राघव चेतन अलाउद्दीन से बखान करता है। कथा की इन दोनों भुजाओं के बीच में सुरूप पद्मावती रांनी अवस्थित है। साथ ही, जायसी का यह भी कथन है कि उन्होंने इस कथा को जोड़कर सुनाया।

जायसी के कथा-प्रवेश और उपसंहार की इन रूपरेखाओं से हमें काव्य के विषय में कवि के चार संकेत मिलते हैं। पहला संकेत यह है कि पद्मावत की कथा आदि से अन्त तक जुड़ी हुई है। पूरी कथा एक इकाई है, उसे खण्डित करके देखने पर हम उसका वास्तविक आस्वादन नहीं कर सकेंगे, कथा के असली अर्थ को नहीं पहचान सकेंगे। यों भी आलोचक और व्याख्याकार का यह कर्तव्य होता है कि वह काव्य-कृति को संपूर्ण इकाई के रूप में आदि से अन्त तक ध्यान में रखे। और जब कवि बार-बार इस पर जोर दे रहा हो, तब तो यह कर्तव्य और भी जरूरी हो जाता है। फिर भी आश्चर्य की बात है कि पद्मावत को लोगों ने खण्डित करके ही देखा। जिन्हें तसव्वुफ़ चाहिए था, उन्होंने उत्तरार्द्ध को भुला दिया। अपनी दृष्टि सिंघल लोक पर जमा दी। जिन्हें चित्तौड़ की वीरगाथा का रोमांच चाहिए था, उनके लिए सिघंल लोक लम्बी और अनावश्यक भूमिका मात्र रह गया। उन्होंने पद्मावत को इतिहास मात्र ही समझा। क्या जायसी को अपनी कृति के दो टुकड़े हो जाने का पूर्वाभास था जो उन्होंने चेतावनी देने की जरूरत समझी? जो भी हो, आज तो हम जायसी की चेतावनी को जरूर ध्यान में रखें।

दूसरा संकेत जायसी ने यह दिया है कि कथा की बनावट में दो भुजाओं वाला एक सन्तुलन है। इस सन्तुलन के सहारे कथा पूर्णता को प्राप्त करती है, एक इकाई बनती है।

तीसरा संकेत यह है कि कथा के भावात्मक अर्थ में केवल प्रेम की पीर ही नहीं है, युद्ध भी है। पद्मावत केवल प्रेम की कहानी नहीं है, प्रेम और युद्ध की मिली-जुली कहानी है। आश्चर्य की बात यह है कि इस संकेत के बावजूद भी 'प्रेमाख्यानक काव्य' जैसा एक नाम गढ़ लिया गया और उसे पद्मावत के ऊपर चिपका दिया गया। जायसी के अनुसार कथा का युद्ध सिर्फ रतनसेन और अलाउद्दीन के बीच का युद्ध नहीं है, वह हिन्दुओं और तुर्कों के बीच की लड़ाई है। यह

NMDC-065

युद्ध वैसा भी नहीं है कि मुख्य प्रेमाख्यान के बीच नायक के पराक्रम के लिए एक मंजिल भर हो, जैसा मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' में लोरिक के साथ होता है। पद्मावत का युद्ध कथा का विशिष्ट और महत्वपूर्ण अंग है जो जायसी के कथ्य को ही एक नया संस्कार देता है।

चौथा संकेत यह है कि यश और कीर्ति वाला पुरुष धन्य है। वही शेष रहता है।

यह आवश्यक नहीं है कि कृति का विश्लेषण करने के लिए, या उसका आस्वादन करने के लिए हम कृतिकार के दिए हुए संकेतों को मान लें, या ज्यों का त्यों मान लें। लेकिन कृतिकार के संकेतों को, और खास कर जब यह जायसी-जैसा कृतिकार हो, पूरा सम्मान देना हमारा प्रथम कर्तव्य है। जब तक बहुत गम्भीर दृष्टिकोण या अन्तर्विरोध न उपस्थित हो, कृतिकार के दिए हुए संकेतों की उपेक्षा करना खतरनाक है।

कथा के दो बोलते हुए अर्द्धांश आलोचकों से छिपे नहीं रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले ही कहा कि पद्मावत की कथा दो भागों में स्वभावत: विभाजित है। पहला हिस्सा उनके अनुसार कल्पित है और दूसरा हिस्सा इतिहास पर आधारित है। दोनों हिस्सों के प्रकृति के निरूपण के लिए कल्पना-बनाम-इतिहास, इस प्रकार की शब्दावली कहाँ तक ठीक है, यह विचारणीय है। स्वयं शुक्ल जी ने इस विभाजन को रेखांकित करने के बाद अपने निबन्ध का सारा विश्लेषण प्रथमार्द्ध पर ही केन्द्रित कर दिया। दूसरे हिस्से को उन्होंने अपनी सूक्ष्म आलोचक-दृष्टि का विषय नहीं बनाया – और न उन्होंने इस प्रश्न को ही उठाना आवश्यक समझा कि दोनों हिस्से में कोई आन्तरिक सम्बन्ध बनता है या नहीं; या अगर कोई गहरा सम्बन्ध नहीं बनता तो पद्मावत वस्तुत: एक काव्य रह जाता है, या दो काव्यों का एक जुट है जिन्हें यांत्रिक ढंग से एकसाथ नत्थी कर दिया गया है। यह प्रश्न बना रहता है कि दोनों हिस्सों के बीच शिल्पगत एकता या उससे भी आगे अर्थगत एकता किस प्रकार घटित होती है? सम्भवत: शुक्ल जी ने सोचा हो कि इतिहास का ब्यौरा मात्र होने के कारण जब उत्तरार्द्ध में जायसी की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है, तो उसके विश्लेषण से कुछ मिलने वाला नहीं है।

पद्मावत की बनावट के सिलसिले में एक निरर्थरक चर्चा इस प्रकार की भी चली कि पद्मावत मसनवी शैली का प्रबन्ध-काव्य है। इस चर्चा से कोई आलोचनात्मक दृष्टि मिलने की आशा करना भ्रम हैं। पहले तो फारसी या उर्दू में मसनवी नाम की कोई प्रबन्ध-काव्य की शैली नहीं है। मसनवी का अर्थ कुल इतना ही है कि कविता में दो-दो मिसरों वाले परस्पर तुकों से जुड़े हुए छन्द हैं। "शाहनामा' भी मसनवी है, 'यूसुफ-जुलेखा' भी मसनवी है और उर्दू की 'गुलजार-नसीम' भी मसनवी है। जोश मलीहाबादी या अली सरदार जाफरी की भी बहुत-सी

NMDC-065

कविताएँ मसनवी हैं। 'रामचरितमानस' भी मसनवी है। फिर भी लोगों ने अपनी तरफ़ से मसनवी के लक्षण भी गिनाए। इन लक्षणों में ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, खलीफाओं की प्रशंसा और शाहे-वक्त की गुणगान – यही सब उल्लेख्य हो गए। स्पष्टत: ये आरंभिक अंश कथा के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना चिट्ठी के ऊपर लिखा हुआ श्रीगणेशयनम: । इससे अधिक न हो। फिर, जैसा डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने दिखाया है, ईश्वर-वन्दना, देवस्तुति य राजप्रशंसा संस्कृत तथा अन्य भारतीय काव्यों में भी मिल जाती है। इसमें मसनवी की कोई अलग विशेषता नहीं है। यह भी कहा गया है, कि भारतीय प्रबन्ध-काव्य संर्गबद्ध होते हैं। पद्मावत एक सर्गहीन प्रबन्ध-काव्य है, अत: इसकी शैली मसनवी शैली हुई। परन्तु ये सभी चर्चाएं सतही है, क्योंकि इनका कोई वास्तविक सम्बन्ध कथा के साथ नहीं बनता।

अत: इस बंजर चर्चा को छोड़कर कथा के दो भागों में स्वाभाविक विभाजन की ओर ध्यान देना अधिक उपयोगी होगा। पूर्वार्द्ध की कथा प्रारम्भ से लेकर रतनसेन के पद्मावती सहित चित्तौड़ लौटने तक की है। उत्तरार्द्ध में उसके बाद से अन्त तक है। दोनों भागों की बुनावट में सतह पर स्पष्ट अन्तर दिखता हैं। पहले भाग का रूप परीकथा, लोककथा या निजन्धरी कथा जैसा है। दूसरे भाग न सिर्फ अलाउद्दीन, दिल्ली, चित्तौड़ जैसे इतिहास-विदित नाम हैं, बल्कि उसकी बुनावट में अतिप्राकृतिक या जादुई घटनाएं नहीं हैं। पहले भाग को मैंने सिंहल लोक जैसा नाम दिया है। इस लोक की क्या तात्त्विक विशेषता है, इसका विश्लेषण करना होगा। लेकिन पहले हम उत्तरार्द्ध की परीक्षा करें जिसे शुक्ल जी ने इतिहास-वृत्त कहा है और उसकी तुलना में प्रथमार्द्ध को कल्पना पर आधारित बताया है।

शुक्ल जी ने टॉड की 'राजस्थान-गाथा' को आधार मानकर उत्तारार्द्ध की घटनाओं को इतिहास-वृत्त माना था। टॉड की राजस्थान-गाथाएँ इतिहास नहीं हैं।

इतिहासकार अब लगभग सहमत हैं कि चित्तौड़ की पद्मिनी और गोरा बादल आदि की पूरी कथा इतिहास से जायसी ने नहीं ली – अधिक संभावना यही है कि इतिहासकारों ने जायसी से ली। जायसी के पहले के फ़ारसी वृत्तान्त-लेखकों, जैसे अमीर खुसरों, जियाउद्दीन बरनी और इसाकी आदि ने अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण और चित्तौड़-विजय का वृत्तान्त तो दिया है, परन्तु पद्मिनी का कोई उल्लेख नहीं किया है। अकबर-कालीन फ़रिश्ता ने अवश्य पद्मिनी की कथा और गोरा बादल की चतुराई से अलाउद्दीन की क़ैद से छुटकारे की कथा लिखी है। परन्तु फरिश्ता जायसी के बाद का लेखक है और स्पष्टत: कथा की रूपरेखा उसे सीधे जायसी से या सुनी-सुनाई शक्ल में मिली। राजस्थान में लोकगाथाओं के रूप में जो गोरा-बादल या पद्मिनी की ख्यातें मिलती हैं, वे भी जायसी के पहले की नहीं हैं। इन सभी बातों पर इतिहासकार प्रोफेसर कानूनगो

NMDC-065

ने अपने 'लीजेण्ड ऑफ पद्मिनी' नामक लिखित व्याख्यान में अच्छी तरह विचार किया और इसी नतीजे पर पहुँचे कि गोरा बादल आदि का समस्त वृत्त जायसी ने स्वयं कल्पित किया। इस कथा को इतिहास मानना भूल होगी।

उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर दशरथ शर्मा ने डॉ. कानूनगो से असहमति व्यक्त करते हुए रतनसिंह की ऐतिहासिकता स्थापित करते हुए कुम्भलगढ़ में उत्कीर्ण शिलालेख का उल्लेख किया। यह शिलालेख राणा कुम्भ का है। इसका समय सन 1460 है। स्पष्टत: यह जायसी से पहले का है। लेकिन इस शिलालेख से इतना ही ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के पहले चित्तौड़ के शासक अमरसिंह थे। आक्रमण के समय उनके पुत्र रत्नसिह थे। आक्रमण के समय दुर्ग की वास्तविक रक्षा लक्ष्मसिंह अथवा लखमसी शिशैदिया सरदार ने की जिसके सात बेटे युद्ध में काम आए। इस शिलालेख में न सिर्फ पद्मिनी, गोरा बादल आदि का कोई जिक्र नहीं है, बल्कि रत्नसिह के बारे में भी कोई अच्छी धारणा नहीं बनती। सम्बद्ध श्लोक इस प्रकार है :

स (अर्थात समरसिंह) रत्नसिंह तनयं नियुज्य
स्व चित्रकूटा चल रक्षणाय ।

महेश पूजा हत कल्मषौघः
इलापतिस्स्वर्ग पतिर्वभूव।।

खुम्माण वंशं खलु लक्ष्मसिंह'
स्तस्मिन्गते दुर्गवरम् ररक्ष ।
कुलस्थितिम् कापुरुषैविर्मुक्ताम्
न जातु धीरा पुरुषास्त्यजन्ति।।

इस श्लोक का आशय यह है कि 'समरसिंह ने अपने पुत्र रत्नसिंह को चित्रकूट, अर्थात चित्तौड़गढ़ की रक्षा के लिए नियुक्त करके, महेश-पूजा द्वारा पुण्यवान होकर, स्वर्ग के अधिपति का पद प्राप्त किया। इस रत्नसिंह के जाने के बाद खुम्माण वंश के लक्ष्मसिंह ने उस श्रेष्ठ दुर्ग की रक्षा की। निश्चय ही कापुरुषों द्वारा छोड़ी हुई अपने कुल की स्थिति को धीर पुरुष कभी नहीं त्यागते।''

इस श्लोक में दो बातें विचारणीय हैं। पहले तो रत्नसिंह के लिए 'तस्मिनगते' जैसा लगभग उपेक्षासूचक शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'तस्मिन्गते' से दोनों अर्थ निकलते हैं – रत्नसिंह दुर्ग छोड़कर चला गया या मर गया। अमीर खुसरो ने अपने वृत्तान्त में राजा का नाम तो नहीं दिया, परन्तु यह अवश्य कहा है कि राजा फाटक खोलकर दौड़ता हुआ आया और उसने अलाउद्दीन के सामने

NMDC-065

आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु श्लोक का अर्थ यदि मर जाना भी हो तो 'तस्मिन्गते' इस मृत्यु के लिए निरादर का ही सूचक है क्योंकि उसी सन्दर्भ में समरसिंह को स्वर्गपति होने का दर्जा दिया गया है और आलेख में आगे चलकर लक्ष्मसिंह और उनके पुत्रों के बलिदान का बड़ा विरुद गाया गया है। उद्धृत श्लोक में कुलस्थिति की मर्यादा को न निभा सकने वाले कापुरुषों के उल्लेख से क्या व्यंजित होता है? अगर इस उल्लेख में कोई भी व्यंजना है, तो वह रतनसेन के कलंक की ही व्यंजना है, क्योंकि धीर पुरुषों का संकेत स्पष्टत: खुम्माण-वंशीय लक्ष्मसिंह के ही प्रति है। कुम्भलगढ़-आलेख का रत्नसिंह जायसी के रत्नसिंह से चरित्र और यश, दोनों में ही बहुत भिन्न हैं। यह सही है कि जायसी के रत्नसिंह ने भी युद्ध में पराक्रम दिखाने का कोई व्यक्तिगत उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। कारागार से निकलकर भी उसे रक्षा के लिए एक बादल चाहिए जो उसे सकुशल चित्तौड़ पहुँचा दे। पहली बार जब जायसी का रत्नसिंह कुम्भलनेर के देवपाल से व्यक्तिगत युद्ध करता है तो मारा भी जाता है। परन्तु जायसी का रत्नसिंह कायर नहीं है, न विपत्तियों के सम्मुख समर्पण करता है। इस चारित्रिक दृढ़ता के कारण ही जायसी उसे सत या साका बाँधने वाले, यश और कीर्ति बनाने वाले, अवसर आने पर सब कुछ दाँव पर लगाने वाले के रूप में चित्रित करते हैं। हम मान सकते हैं कि जायसी का प्रयोजन उस रत्नसिंह से नहीं था जिसका संकेत कुम्भलगढ़-आलेख में है या जिसका पीतल के समान पीला पड़ा हुआ चेहरा अमीर खुसरों ने प्रस्तुत किया था। जायसी ने इतिहास से रत्नसिंह का नाम ले लिया ओर शेष सारी बातें उन्होंने अपनी कल्पना से जोड़ीं।

पद्मिनी और गोरा बादल की कथा को जायसी के पहले आती हुई लोककथा के रूप में डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने माना है। परन्तु उन्होंने इस अनुमान के लिए आधार नहीं प्रस्तुत किया। इतिहासकार डॉ. दशरथ शर्मा ने इस सम्बन्ध में नारायणदास एवं रतनरंग द्वारा रचित छिताई-वार्ता' का साक्ष्य दिया है। छिताई-वार्ता' में भी अलाउद्दीन है जो छिताई को हराने के लिए देवगिरि के किले पर घेरा डालता है। उस समय अलाउद्दीन द्वारा कहा हुआ निम्नलिखित छंद आता है :

यों बोलै दिल्ली को धनी। मैं चीतोर सुनी पद्मिनी।।
बाँध्यो रतनसेन मैं जाई। लैगो बादल ताहि छुड़ाई।।

डॉ. दशरथ शर्मा ने मान लिया है कि छिताई-वार्ता' जायसी के पहले की लिखी है। यह बात अपने आप में संन्दिग्ध है। अधिक संभावना इसी बात की है कि पूरी कृति या कम से कम यह छन्द, जायसी के बाद का हो। जायसी ने पद्मावत में छिताई-कथा का जिक्र किया है। वस्तुत: छिताई या राजा रामदेव की लड़की छितियापल्ली को अलाउद्दीन द्वारा ले जाए जाने का वृत्तान्त फारसी इतिहासकारों में भी मिलता है। अमीर खुसरों ने भी छिताई, दुल्तरे-रामदेव का जिक्र किया

NMDC-065

है। कथा, कुछ ऐतिहासिक, कुछ अनुश्रुत, जायसी को ज्ञात रही होगी, किन्तु इससे 'छिताई-वार्ता' नामक पुस्तक जायसी के पूर्व प्रमाणित नहीं होती। फिर 'छिताई-वार्ता' दो बार लिखी गयी – एक बार संक्षेप में नारायणदास द्वारा और दूसरी बारी बढ़ाकर रतनरंग द्वारा। रतनरंग जायसी के बाद ही ठहरते हैं। यह छंद रतनरंग का भी हो सकता है। डॉ माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई-वार्ता' की भूमिका में ग्रन्थ के सम्मान्य संपादक श्री रुद्र काशिकेय ने बहुत सशक्त तर्कों से यह दिखाया है कि 'छिताई-वार्ता' वस्तुत: जायसी के बाद लिखी गयी। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण देवगिरि के बाद हुआ है। अत: ऐतिहासिक यथार्थ की बहुत चिन्ता 'छिताई-वार्ता' के लेखक या लेखकों को नहीं थी।

इतिहास-सम्बन्धी इस विवेचन के बाद केवल इस अनुमान की चर्चा करना शेष रह जाता है कि यद्यपि इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी जायसी के पूर्व कोई-न-कोई लोककथा चित्तौड़ की रानी और अलाउद्दीन के सम्बन्ध में रही होगी जिससे जायसी ने पद्मावत के उत्तरार्द्ध की कथा ली। कुछ आलोचक इस अनुमान पर जिद करते हैं। इस साक्ष्यहीन अनुमान का आधार केवल यही हो सकता है कि अपनी ओर से वे जायसी की सृजनात्मक प्रतिभा को इतना बड़ा श्रेय देने का तैयार नहीं हो पाते कि सचमुच इस मलिक मुहम्मद नाम के साधारण आदमी ने समूची कथा स्वयं गढ़ डाली; विशेषत: ऐसी कथा जिसने लोकमानस और प्रबुद्ध जनों को भी इतनी जोर से पकड़ा कि पद्मावती-अलाउद्दीन की कथा काव्य-कृति से बाहर इतिहास का अंश बन गयी। इस तरह की जिद में तर्कसम्मत विचार कम और पूर्वग्रह ही अधिक दिखता है। इतिहास ने काव्य-कृतियों को इतनी बार जन्म दिया कि यह मानने में विद्वानों को हिचक होती है कि सचमुच एक काव्य-कृति ऐसी है जिसने अक्षरश: इतिहास को जन्म दिया। लेकिन संसार के साहित्य में, कम ही सही, ऐसी कृतियाँ अवश्य हुई हैं जिन्होंने इस प्रकार इतिहास का, विशेषत: जातीय इतिहास का निर्माण किया। पद्मावत की यह क्षमता और उसका यह विशिष्ट प्रभाव, पद्मावत के सम्पूर्ण अर्थपुंज का महत्त्वपूर्ण अंश है।

परन्तु यदि हम मान भी लें कि कोई संक्षिप्त और रूपहीन कथा जायसी के सामने उपस्थित थी और उसका उपयोग जायसी ने किया, तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उत्तर कथा में भी जायसी की कल्पना को उतनी ही छूट थी जितनी पूर्व कथा में। अत: उत्तर कथा में इतिहास का शिकंजा जायसी के लिए न नियामक था, न बाधक।

जायसी के कुछ शोधकर्ताओं के इधर इतिहास से पद्मावत की उत्तर कथा का सम्बन्ध खोजने के लिए एक नयी दृष्टि अपनाई है। इस दृष्टि के अनुसार पद्मावत के ऐतिहासिक वृत्त का स्रोत वस्तुत: जायसी के चारों ओर बिखरे हुए संघर्षों और युद्धों में है। दिल्ली के बादशाहों द्वारा छोटे

NMDC-065

राजाओं की पत्नियों, बेटियों या बहनों को अपने हरम के लिए माँगना या छीन लेना मध्ययुग में एक आम बात थी। इसी प्रकार जौहर और सतीदाह की भी कई घटनाएँ मिलती हैं। युद्ध के समय व्यक्तिगत शौर्य की गाथाएँ भी प्रचुर हैं और इसी के साथ छल, छद्म, सत और साका भी उस काल की राजनीति और युद्धनीति की सामान्य परिस्थितियाँ थीं और सबसे बढ़कर सुलतानों और शाहंशाहों की साम्राज्य-विस्तार की नीति को इस्लाम-बनाम-कुफ़्र की नारेबाजी से जोड़ना भी बादशाहों, मुल्लाओं, सूफ़ियों, राजाओं और पण्डितों के लिए स्वार्थ और परमार्थ दोनों को सिद्ध करने का आसान तरीका था। जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता-संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नई पूर्वग्रहहीन आँखों से देखा – और उन्होंने उस विराट ट्रैजेडी और साथ ही इस सारे अभिमान की व्यर्थता को देखा जो उनके समाज को मथ रही थी। अन्त में अलाउद्दीन के बारे में जायसी का कथन है :

छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाय पिरिथिमी झूठी।।

पद्मावत की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रैजेडी नहीं है – जिन शर्तों पर जायसी का समाज उलट-पुलट रहा है, उनके चलते समूची पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की ट्रैजेडी है।

जायसी का युग, अर्थात भारतीय इतिहास की सोलहवीं शताब्दी कई अर्थों में उथल-पुथल का युग है। राजनीतिक दृष्टि से मुहम्मद गोरी के बाद दिल्ली-सुल्तानों की तीन शताब्दियाँ शेरशाह सूरी के रूप में अपनी अन्तिम चकाचौंध दिखलाकर समाप्त हो रही थीं। नए हमलावर बाबर के साथ मुगल शाहंशाहों की नयी बुनियाद पड़ रही थी। इन तीन शताब्दियों में दिल्ली के चारों ओर नये सामन्ती रिश्ते बने और बिगड़े। भारतीय मुसलमानों, नव मुसलमानों और हमलावर मुसलमानों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्षों के कारण तरह-तरह की दृष्टियाँ टकरा रही थीं। हिन्दुओं और मुसलमानों के सामन्ती सम्बन्धों में एक तरफ तो साथ रहने की विवशता के कारण निकटता की शक्तियाँ काम कर रही थीं, दूसरी तरफ कट्टर साम्प्रदायिक विचारधाराएँ भी थीं जो हठ कर के कुफ़्र, और इस्लाम के बीच किसी मेल-जोल के पैदा होने से रोकना चाहती थीं। बाबर का मुकाबला इब्राहीम लोदी ने अलग किया और राणा सांगा ने अलग। इसके विपरीत, शेरशाह सूरी ने सब को साथ लेकर हुमायूँ को हराया। इस प्रकार इस्लाम में एक ओर कट्टर पुनरुत्थानवादियों, महदियों और मुजाहिदों के आन्दोलन उस खड़े होते हैं। दूसरी ओर अबुल फ़जल और फैजी जैसे उदार चिन्तक भी सामने आते हैं जो कट्टरता के पाश को ढीला करना आवश्यक समझते हैं। जायसी का युग इस्लामी सामन्तवाद की जबर्दस्त रस्साकसी का युग है। संक्षेप में, हिन्दू और मुसलमान दो संस्कृतियों की टक्कर के बाद

NMDC-065

सचमुच एक संस्कृति, एक भारतीय हृदय, एक समाज बन सकेगा या नहीं, यह प्रमथित करने वाला प्रश्न सोलहवीं शताब्दी के सामने है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों लड़ते-लड़ते थक गये थे। लेकिन विचारों और सत्ता के धरातल पर समन्वय का कोई आसान रास्ता फिर भी नहीं दिखाई पड़ता।

मध्ययुग में कई तरह से संघर्ष दिखलाई पड़ते हैं। हिन्दू-तुर्क-संघर्ष उसका एक अंश है। लेकिन मुसलमानों और मुसलमानों के बीच का सत्ता-संघर्ष कम जानलेवा नहीं है। डॉ. लोहिया के शब्दों में 'मामला देसी-परदेसी का है। सबसे पहले अरब या और कहीं के मुसलमान आए। वह परदेसी थे। उन्होंने यहाँ का राज खतम किया, फिर वह धीरे-धीरे सौ-पचास बरस में देसी बने। लेकिन जब वह देसी बन गये, तो फिर एक लहर परदेसियों की आई जिसने इन देसी मुसलमानों को उसी तरह कत्ल किया जिस तरह से कि हिन्दुओं को। फिर वह परदेसी भी सौ-पचास बरस में देसी बन गए और फिर दूसरी लहर आई .....''

इस लहर पर लहर, उतार-चढ़ाव, देसी-परदेसी का निरन्तर मुठभेड़, शहरी संवदेनशीलता और सतही संकीर्णता की खींचतान सांस्कृतिक तथा सामाजिक समन्वय बनाम पुनरुत्थान एवं शुद्धतावादी आन्दोलनों की कशमकश और इन सब के ऊपर हिन्दू-तुर्क सत्ता संघर्ष के नाम पर धार्मिक उन्माद के किलकिला समुद्र के बीच तलवार की धार की तरह सँवरे उस निर्मल भाव की तलाश कर रहे थे जहाँ यह सारा संघर्ष अप्रासंगिक हो जाता है। उसी निर्मल भाव का नाम उन्होंने प्रेम दिया। अल्लाह के प्रति गहरे प्रेम की जानकारी उन्हें सूफ़ियों, सन्तों और पैगम्बरों के प्राप्त हो चुकी थी। लेकिन उनकी बौद्धिक चुनौती इस प्रेम को इतिहास के चक्के पर चढ़ाने की थी। इसी प्रेम की कसौटी पर उन्होंने अपने युग को कसा और उनकी अनुभूति में वह गहरी विषाद-दृष्टि उत्पन्न हुई जिसमें एक तरफ आदमी बैकुंठी भी हो जाता है, दूसरी तरफ़ एक मुट्ठी खाक भी रह जाता है। पद्मावत की ट्रैजेडी इन दोनों अवस्थाओं के एक साथ प्रज्वलित हो जाने की ट्रैजेडी हैं। जितना प्रेम है, उतना ही युद्ध है; जितना मन के भीतर दिपता हुआ सिंहल लोक है, उतना ही टूटे हुए दुर्गो की धूल उड़ाती हुई वीरानगी है; जितनी अपने हाथ से सिर उतार कर जमीन पर रख देने की तड़प है, उतना ही वैभव का प्रदर्शन है; सत है, साका है। इसमें से कौन-सा सच है, कौन-सा झूठ? कौन कथन विलास है, कौन यथार्थ ?

पद्मावत की कथा के विश्लेषण के लिए और विषाद-दृष्टि से उत्पन्न आवश्यक शिल्प-विधि के अनुशीलन के लिए हम जायसी की कथा के दोनों हिस्सों को आमने-सामने रखें तो जायसी की महान और नैसर्गिक प्रतिभा का साक्षात्कार हम कर सकेंगे। जैसा हमने देखा, कल्पना दोनों ही भागों में समानत: काम करती है, परन्तु दोनों भागों में कल्पना द्वारा प्रसूत लोकों की प्रकृति भिन्न है। जिसे शुक्ल जी ने इतिहास का वृत्तान्त कहा है, वह वस्तुत: इतिहास नहीं है।

NMDC-065

आधुनिक अर्थों में वह पूर्णत: यथार्थवादी भी नहीं है। इसलिए हम उसे इतिहास या यथार्थ न कहकर थोड़ा अधिक लचीला नाम देंगे। कथा का उत्तरार्द्ध एक 'इतिहास-लोक' निर्मित करता है। यह 'इतिहास-लोक' पूर्वार्द्ध के लोक से भिन्न है जिसे हमने यूटोपिया, अलोक या सुविधा के लिए सिंहल लोक जैसा नाम दिया है। इस इतिहास-लोक की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसकी घटनाएँ आसपास के सत्ता-संघर्ष के सामान्यीकृत नमूने हैं। दिल्ली और शेष भारतीय समाज के बीच की खाई और उस खाई को निरन्तर युद्धों से पाटने की चेष्टा इस इतिहास-लोक को एक आतककारी मुद्रा प्रदान करती है। मूलत: इस इतिहास-लोक में आन्तरिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। यही इसकी प्रधान विशेषता है। सारे सम्बन्ध, सभी उपादान, सारे मूल्य यहाँ बाहर से ही देखे जाते हैं। संस्कृति, मिथक, जादुई स्वप्न, लोकाचार, जीवन-पद्धतियाँ, पावन-अपावन की कोटियाँ, नैतिक वर्जनाएँ, यहाँ तक कि ईश्वर भी – ये तमाम विश्वास और आचार-विचार, जो हर सामन्ती समाज को निरन्तर युद्धों के बीच भी आन्तरिकता प्रदान करते रहते हैं, इस समाज में केवल अपरिचय, अजनबीपन और अलगाव पैदा करते रहते है। इस इतिहास-लोक में एक नहीं, दो सामन्ती समाज हैं। तलवार ही इन दोनों सामन्ती समाजों को एक रखती है। ऐसी दशा में नैतिकता का स्रोत केवल सत्ता ही निरंकुशता है। वह स्वयं किसी नैतिकता से बँधी नहीं है। प्रचण्डता और कोमलता, पाशविकता और प्रदीप्त सौन्दर्य, घोर आत्मलीनता और परकाया-प्रवेश– इन सभी द्वन्द्वों की सीमारेखा मिट जाती है और यह अवधारणा बराबर उलटती रहती है। इतिहास-लोक की इस आधारभूत आन्तरिकताहीनता से शेष सभी गुणों-अवगुणों का निस्सरण होता है, चाहे वह अलाउद्दीन इस छल से भरा हुआ प्रतापी ऐश्वर्य हो, या कुचों की तूँबी से बादल को युद्ध पर जाने से रोकने वाली नव वधू की अकुलाहट हो, या अँतड़िया कों गले में डालकर लड़ने वाले गोरा का पराक्रम हो, या नागमती के लिए रतनसेन द्वारा दिया हुआ जंगली आदेश हो कि या तो तोते का प्राण वापस लाओ या उसी के साथ सती हो जाओ। जिस सत और सतीभव की तड़पती हुई छवि रतनसेन सूली खण्ड में और विषाद और उत्सर्जन से भरी हुई छवि कथा के अन्त में पद्मावती और नागमती के सती होने में प्रस्तुत की गयी है,उसी अवधारणा का यह कैसा विचित्र प्रयोग है ! और वह भी रतनसेन के मुँह से।

सतह पर इतिहास-लोक अपनी बाहरी दुनिया में पर्याप्त है और सिंहल लोक अपनी आन्तरिकता में स्वत: संपूर्ण है। लेकिन तत्त्वत: वे अलग नहीं रह सकते। वे एक-दूसरे को बराबर बेधते रहते हैं और एक गहरी ट्रैजेडी को जन्म देते हैं। अगर हम आज की दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करें तो जायसी अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी है और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी। निश्चय ही यह एक जोखम-भरी दृष्टि है। लेकिन जायसी इस जोखम को उठाने के लिए तैयार हैं – क्योंकि वे कवि हैं, दार्शनिक नहीं।

NMDC-065

सत्य के दो नितान्त विभिन्न स्तरों पर, बिल्कुल भिन्न आयामों में कथा को फैलाने का जिम्मा लेकर जायसी ने बहुत बड़ा जोखम उठाया। सबसे बड़ा और पहला जोखम तो यही था कि काव्य-प्रबन्ध की एकतानता नष्ट हो जाती। इस तरह का जोड़ न पहले मसनवियों में बैठाया गया था और न बाद में 'रामचरितमानस' अथवा सूरदास के गीतों में। दाऊद, कुतबन, मंझन आदि किसी ने यह साहस नहीं किया था। हम कह चुके हैं कि एक हद तक इस नये प्रयोग की सजा जायसी को भुगतनी पड़ी। किसी ने पूर्वार्द्ध को याद रखा और पद्मावत को सूफ़ी ग्रन्थ बना दिया, किसी ने उत्तरार्द्ध को याद रखा और पद्मावत को इतिहास की पोथी मान लिया। लेकिन इन व्यतिरेकों के बावजूद पद्मावत एक सुगठित और एकतान संरचना का काव्य है। पूरा काव्य अन्ततः केन्द्रित, सम्पूर्ण और अखण्डित बौद्धिक सघनता का प्रभाव छोड़ता है जो ट्रैजेडी-जैसा होते हुए भी यूनानी अर्थ में ट्रैजेडी नहीं है और जिसे मैंने जायसी की विषाद-दृष्टि कहा है। इस चमत्कार के पीछे शिल्प का कौन-सा कौशल है ?

जायसी ने अपनी कल्पना में जिस मनोलोक का आविष्कार किया था,वह नया नहीं था। उस मनोलोक की छवि उसने पहले के शायर, कवि, सूफ़ी, संत, संन्यासी, वेंदान्ती, योगी, सभी बराबर देखते आ रहे थे। जायसी ने इन सबकी शब्दावली उधार ले ली। उनका उद्देश्य इस मनोलोक की एकनिष्ठ साधना का नहीं था। वस्तुतः वह जगमगाता हुआ मनोलोक उन्हें कवि की सहज प्रतिभा के द्वारा अनायास ही प्राप्त था। न उन्हें अलग से कुण्डलिनी जागृत करने की जरूरत थी, न तरीक़त के बसेरों को रेंगते हुए पार करने की मजबूरी थी। इसीलिए उन्होंने किसी एक मार्ग की शब्दावली नहीं चुनी। उन्हें साधना की नहीं, प्रातिभ आन्तरिकता की तलाश थी। लेकिन इस आन्तरिकता की छवियों को पहचानने के बाद जायसी ने जो नई बात की, वह यह थी कि इस सारे सिंहल-लोक को उन्होंने बरबस इतिहास के बीचो-बीच लाकर खड़ा कर दिया। यह दुःसाहस न पहले मौलाना रूम ने किया था, न जामी ने न अमीर खुसरो ने। अमीर खुसरो की तसवीर तो और भी त्रासद है। एक तरफ़ तो पिघलती हुई वाणी वाला गजल कहने वाला सूफ़ी खुसरो है जो सचमुच अपने समय का तूतीये-हिन्द है। दूसरी तरफ़ ग्याहर दरबारों में अपना काम निकालने वाला इतिहासकार खुसरो है जिसकी चाटुकारिता और कट्टरता देखकर हम दंग रह जाते हैं। इन दो खुसराओं में, लगता है, कभी भेंट नहीं होती। 'चन्दायन' में मुल्ला दाऊद ने भी यह दुःसाहस नहीं किया। संत कबीर ने अपनी सहज समाधि से बाहर निकल कर इधर-उधर झाँका जरूर, लेकिन उनकी हिम्मत भी पड़ोस के मुल्ला और पंडित से आगे बढ़ने की नहीं हुई। उनकी कविता में यह दुनिया कसौटी पर कसी ही नहीं जाती जहाँ दिल्ली है, चित्तौड़ है, कुम्भलगढ़ है, कूच करती हुई सेनाएँ है, हरेवों के आक्रमण है और चूर-चूर होते हुए गढ़ है। जायसी के बाद भक्ति की जो कविता सूरदास और तुलसीदास ने लिखी, उसने अपने भीतर के द्वापर और त्रेता में ही मनुष्य-मात्र का सब कुछ समाविष्ट करने की ठान ली।

NMDC-065

आन्तरिक मनोलोक अधिक प्रेरक, अधिक समृद्ध, अधिक नैतिक और देदीप्यमान अवश्य हो गया। यहाँ मेरा उद्देश्य जायसी और सूरदास तथा तुलसीदास की काव्यगत महानताओं की तुलना करने का नहीं है। इस उल्लेख का अभीष्ट केवल इतना ही दिखलाना है कि युग के साक्षात्कार की एक चुनौती, जिसे जायसी ने स्वीकार किया था, की ओर से इन महान कवियों ने मुँह फेर लिया। इसके सामाजिक और सांस्कृतिक कारण थे। आगे चलकर अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के रीति-कवियों ने तो इसी आन्तरिक अलोक को लौकिक बनाने में पूरी क्षमता लगा दी, लेकिन द्वापर की चहारदीवारी उन्होंने नहीं लाँघी। वास्तविकता यह है कि अलोक और लोक, सिंहल द्वीप और इतिहास का जो संधिस्थल जायसी ने देखा, वह फिर किसी कवि ने हिन्दी में नहीं देखा। इसीलिए जायसी अपने ट्रैज़िक विजन अथवा विषाद-दृष्टि में अकेले हैं; उनका न कोई पूर्ववर्ती है, न परवर्ती है।

सिंहल लोक की मूलभूत विशेषता यह है कि वह न केवल देश के आयाम में अलोक है, परन्तु काल में भी वह अलोक है। संसार में भाँति-भाँति के द्वीप हैं, परन्तु सिंहल द्वीप अनोखा है। जायसी कथा को पहले सिंहल द्वीप से ही आरम्भ करते हैं। बहुत सावधानी के साथ एक-एक दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। आरम्भ में ही कहीं दूर से निकट और निकटतर आने की शब्दावली से हमारे इतिहास-लोक और सिंहल द्वीप के सिंहल-लोक में दूरी का आभास होता है :

जबहि दीप निअरावा जाई । जनु कबिलास निअर भा आई।।
घन अँबराउँ लाग चहुँ पासा । उठै पुहुमि हुति लाग अकासा।।
तरिवर सबै मलैगिरि लाए । भै जग छाँह रैनि होई छाए।।
मलै समीर सोहाई छाहाँ । जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।।
ओही छाँह रैनि होई आवै । हरिअर सबै अकास दिखावै।।
पंथिक जौं पहुचैं सहि घामू । दुख बिसरै सुख होई बिसरामू।।
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा । बहुरि न आइ सही यह धूपा।।

अस अँबराउँ सघन घन बरनि न पारौं अंत
फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसंत।।

इस प्रकार 'सिंहल द्वीप-वर्णन' का आरम्भ होता है। पहली तसवीर बाहर से दिखती हुई अमराई की है और पहली चौपाई में द्वीप के निकट पहुँच कर 'कविलास' (जो जायसी के लिए यूटोपिया और स्वर्ग का मिलता-जुलता अर्थ देने वाला शब्द है) की प्रतीति होती है। फिर बारम्बार जेठ की धूप में तपकर आते हुए पथिक के लिए छाया और विश्राम के बिम्बों के द्वारा इस दूरी की अनुभूति को पुष्ट किया गया है। 'अनूप छाँह' सिंहल-लोक है। 'यह धूप' इतिहास-लोक है।

NMDC-065

इस छाँह का साक्षात्कार धूप वाली दुनिया को तिरोहित कर देता है, ऐसी इसकी प्रकृति है। लेकिन जैसा हम देखेंगे, रतनसेन की कथा सही है कि इस अनूप छाँह को पाने के बाद भी इस धूप वाले इतिहास-लोक में वापस आना पड़ा। दोनों लोकों का सम्बन्ध ही इसी प्रकार का है।

धीरे-धीरे, जैसे फ़िल्म का कैमरा एक-एक चित्र को अधिक क्लोज-अप में दिखलाता है, इस अमराई में अलग-अलग पेड़ दिखते हैं, फिर तरह-तरह के पंक्षी, कुआँ-बावड़ी, फिर तरह-तरह के साधू-संन्यासी, मानसरोवर, फिर सिंहल नगर, फिर सिंहल की हाट, फिर सिंहल का गढ़, फिर गढ़ के भीतर की दुनिया फिर राजसभा, फिर रनिवास, फिर चपावती, फिर पद्मिनी और इस पूरे वर्णन में बाहर से आये हुए दर्शक के सामने एक-एक करके चित्र उद्घाटित करने वाली शब्दावली दुहराई गयी है

मानसरोदक देखिअ काहा। भरा समुँद अस अति अवगाहा।।
पुनि जो लागि बहु अंबितबारी। फरीं अनूप होइ रखवारी।।
सिंघल नगर दीख पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा।।
पुनि देखिअ सिंघल कै हाटा। नवौ निद्धि लछिमी अब बाटा।।
पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौ जस लाग अकासा।।
पुनि चलि देखा राज दुआरू। महिं घूँबिअ पाइअ नहिं बारू।।
राज सभा पुनि दीखि बईठी। इंद्रसभा जनु परि गइ डीठी।।

यह देखो, फिर यह देखो, फिर यह देखो.....

इस प्रकार वर्णन तब तक चलता है जब तक हम अन्त:पुर में पहुँचकर पद्मिनी के जन्म की कथा नहीं सुनने लगते। हर चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जैसे हम दीवारों पर बनाई हुई चित्रावली या उत्कीर्ण मूर्तियाँ देख रहे हों। जहाँ थोड़ी-बहुत गति है, जैसे बाजार आदि के वर्णन में, वहाँ भी गति का आभास उतना ही है जितना कुशल चित्रकार के निश्चल चित्रों में चित्र-कौशल के कारण उत्पन्न होता है -- कालप्रवाह की गति की भाँति नहीं, बल्कि काल-हीनता में ही स्थित एक उदग्र गतिमयता की भाँति।

इस प्रकार का चित्रमय व्यवहार न चित्तौड़ के साथ किया गया है, न आगे चलकर दिल्ली के साथ। वस्तुत: चित्तौड़ का उल्लेख इस तरह शुरू होता है जैसे उसके परिचय की आवश्यकता न हो। 'चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोट चित्र जेइँ साजा'। इसी तरह दिल्ली भी सहसा बिना परिचय के कथा में आ जाती है। इस प्रकार यह आधारभूत बनावट तैयार होती है कि चित्तौड़ और दिल्ली हमारे परिचित लोक के अंग है। वे उसी कालप्रवाह या इतिहास-लोक में है जिसमें कवि, उसकी कविता और उसका कविता का पाठक उपस्थित है। इसके विपरीत,

NMDC-065

सिंहल-लोक हमारे सामान्य देश-काल से दूर है, अ-लोक है। दीवार पर खिंचे हुए चित्र की भाँति हमारे देखते ही वह स्थिर वर्तमान की भाँति उपस्थित होता है। यह स्थिरीभूत कालहीन स्वत: सम्पूर्ण गतिमयता सिंहल-लोक का पहला लक्षण है जिससे हमारा सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। जायसी की काव्य-क्षमता इसमें है कि सहज उद्भावना के साथ यह लक्षण हम तक पूरी तरह संप्रेषित हो जाता है।

पूर्वार्द्ध की कथा में, जिसका विस्तार रतनसेन के चित्तौड़ में पद्मिनी के साथ वापस होने तक है, घटनाओं का अभाव हो – ऐसा नहीं है। जहाँ घटनाएँ होंगी, वहाँ कालप्रवाह भी होगा। परन्तु घटनाओं के इस क्रम में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो घटनाओं की गति अत्यन्त मन्द है। कथा के दूसरे हिस्से में, जिसकी धुरी चित्तौड़ और दिल्ली के बीच है, घटनाओं की गति बहुत तेज़ है। यहाँ तक कि अलाउद्दीन के घेरे के छह बरस कब गुजर जाते हैं, पता नहीं चलता। और, अन्त में तो गति इतनी तेज हो गयी है कि अलाउद्दीन द्वारा अन्तिम आक्रमण, बादल का आकर जूझ जाना, स्त्री-पुरुषों का जौहर और गढ़ का ध्वस्त हो जाना – यह सब एक ही कड़वक में समाप्त हो जाता है, जैसे सहसा काल के चक्र को तेजी से घुमा दिया गया हो और अन्त में एक जबर्दस्त झनझनाहट के साथ सारा चक्र चकनाचूर हो गया हो।

पूर्वार्द्ध की कथा में अतिप्राकृतिक घटनाएँ या स्थितियाँ जुड़ी हुई है। वातावरण परीकथाओं या निजन्धरी कथाओं जैसा बन जाता है। हीरामन तोता है जो मनुष्यवत बोलता और व्यवहार करता है। सात समुद्र हैं जिनकी न सिर्फ अपनी-अपनी अलग प्रकृति है, बल्कि जिनकी लहरें मानवीय उद्देश्यों या आवेगों से जुड़ी हुई हैं। वृक्ष, फल, फूल हैं जिन पर मौसम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गढ़ में नीर-क्षीर की दो नदियाँ है जिनका पानी पीने से बुढ़ापा नहीं आता। एक सोने का कल्पवृक्ष भी है। उसका फल खाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एक मानसरोवर है जो पद्मावती के पैरों को छूकर पानी में डूबा हुआ हार स्वयं नीचे से निकाल कर जल पर तैरा देता है। राक्षस है जो जहाजों को गलत रास्ते ले जाता है, महिरावण की हड्डियों का पहाड़ है, समुद्र का देवता है जो रतनसेन और पद्मिनी को अलग करता है, फिर मिला देता है। और फिर साक्षात महादेव और पार्वती भी हैं जो घटनाक्रम में दखल देते हैं। यह अतिप्राकृतिक विस्तार पूर्वकथा में चित्तौड़ तक है जहाँ नागमती का विरह-संदेश विहगम ले जाता है और चिड़ियों की आपसी बातचीत सुनकर रतनसेन नागमती की विरह-दशा समझ लेता है। परन्तु यह सारा जादू-भरा या अद्भुत घटनाक्रम 'अलिफ-लैला' या 'चन्दायन' या 'मृगावती' की जादुई घटनाओं की तरह मात्र कौतूहल या आश्चर्य के धागे से बँधा हुआ नहीं है। समूचे पूर्वार्द्ध में इन घटना-तरंगों का उठना-गिरना वस्तुत: एक विश्वव्यापी नैतिक और भावात्मक सामंजस्य का अंग है जो मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति को एक ही संगीत से अनुप्राणित करता है। पद्मावती बेशक

NMDC-065

इस विश्वव्यापी संगती की टेक है। इसी अर्थ में पद्मावती का रूप पारस-रूप है। उसकी छवि एक साथ धरती पर जगमगाते कणों से लेकर सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों तक समान रूप से तरंगित होती है। यह इस कारण नहीं है कि जायसी का उद्देश्य पद्मावती की परमसत्ता या दिव्य आत्मभाव का प्रतीक या प्रतिबिम्ब बनाना था, क्योंकि कथाप्रवाह में हमें पद्मावती के इस रूप का दर्शन नहीं होता, बल्कि समूचा सिंहल-लोक चेतना के उसी स्तर पर अवस्थित है जहाँ चेतना और प्रकृति, आन्तरिक उद्वेलन और बाह्य जगत, नैतिक मर्यादा और प्राकृतिक घटनाक्रम के बीच खाई नहीं रह जाती। जो तरंगें भीतर उठती हैं, वही तरंगें बाहर भी उठती हैं। इसलिए परीकथाओं का अभिप्राय हीरामन तोता इस अंश में पण्डित, संदेशवाहक, गुरु और बहेलिये द्वारा पकड़े जाने वाले सामान्य पक्षी की भूमिका एकसाथ निभाता है। मानसरोवर लहरें उठाता है, पद्मावती के पैरों को छूकर शान्त हो जाता है और खेल में सहभागी बन जाता है। नागमती की विरह-वेदना, पेड़-पौधे, जंगल, पशु-पक्षी, सबको इस तरह लपेटती है कि चित्तौड़ का क़िला भी आंखों से ओझल हो जाता है। चेतना की उस तीव्र अवस्था में चिड़िया संदेश लेकर रतनसेन तक जाती है। इसी प्रकार नैतिक संकीर्णता की मन:स्थिति में जब रतनसेन अपने नए प्राप्त वैभव का एक हिस्सा समुद्र को देने से हिचकता है, तो वही समुद्र जिसे पार करते हुए उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी, लौटते समय उसके सारे जहाजों को डुबो देता है। अलग-अलग ऋतुओं में खिलने वाले पेड़ एकसाथ खिलते हैं, क्योंकि प्राकृतिक नियम यहाँ आन्तरिक उल्लास के अनुरूप अपनी अनिवार्य स्वायत्तता को त्याग चुके हैं। इन पेड़ों पर बहुत सारे पक्षी हैं, उनकी भाषाएं अलग-अलग हैं। परन्तु उसी विचार-सामंजस्य के अंतर्गत ये सारे पक्षी अपनी-अपनी भाषा में उसी एक ईश्वर का नाम लेते हैं। और, कुरान या जायसी के शब्दों में पाढ़ित भी उन आयतों का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिसमें कहा गया है कि हर चीज उसी अल्लाह की तसबीह करती है। "और उसकी पाकी को तो सातों आसमान और जमीन की चीजें बयान कर रही है जो आसमान और जमीन पर हों। कोई ऐसी चीज नहीं जो इसकी हम्द के साथ उसकी तसबीह न कर रही हो"।

बाजार में जहाँ सिंहल-दीपी महाजन बैठे हैं, कोई माल बेचता है, कोई ख़रीदता है। कोई लाभ लेकर चलता है और कोई मूल भी गवाँ बैठता है। मेला लगा हुआ है। धर्म और पुराण के बखान के साथ तरह-तरह के खेल-तमाशे भी हो रहे हैं। इसमें इन्द्रजाल करने वाले, जादूगर, धूर्त-पाखण्डी, चोर-जेबकतरे सभी हैं जो मौका पाकर हाथ साफ कर देते हैं। परन्तु यह सारी मुनाफ़ाखोरी और दिवालियापन, यह सारा धर्मपंथ और ठगविद्या एक विलक्षण समरसता से ओतप्रोत है। जैसे समुद्र में ऊँची-नीचे लहरें उठ रहीं हैं, परन्तु वे समुद्र की प्रभूतता को ही

NMDC-065

रेखांकित करती है, समुद्र की एकतानता को खण्डित नहीं करतीं। यहाँ तक कि वेश्याओं का एक सिंगार-हाट भी है। वहाँ सौन्दर्य का ऐसा आकर्षण है कि आदमी एक कदम भी वहाँ से नहीं हटता। कितने खिलाड़ी वहाँ सब कुछ खो देते हैं। फिर कोई नही पूछता। हाथ झाड़कर चलना ही शेष रह जाता है :

चेटक लाइ हरहि मन जौ लहि गय है फेंट।
साँठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचानि न भेंट।।

यहाँ भी कविता के भावयंत्र पर जायसी का अद्‌भुत अनुशासन बना हुआ है। यह विलक्षण उतार-चढ़ाव, बाजार की दिलरुबाई और बेवफाई भी लहरें उठाते-गिराते समुद्र की सम्पन्नता, परन्तु सामंजस्य को ही ध्वनित करती है।

संक्षेप में, सिंहल लोक में अवस्थित घटनाक्रम और उससे उद्‌भूत काल-प्रवाह अपनी विविधता के बावजूद इतिहास-लोक का कालप्रवाह नहीं है जो विरोधों, संघर्षों और असामंजस्य को जन्म देता है। वस्तुत: यह कालप्रवाह तात्विक और मानवीय मूल्यवत्ता का प्रवाह है जिसकी जड़ें हमारी आन्तरिकता में है। चेतना और वस्तु, आन्तरिकता और बाह्यता का यह सम्पन्न, परन्तु अटूट सामंजस्य सिंहल-लोक की दूसरी विशेषता है। इसीलिए परीकथाओं, पौराणिक सन्दर्भों, काव्यात्मक अभिप्रायों से निर्मित यह दुनिया उस गहरी मूल्यवत्ता का वाहन बनने में समर्थ है जिसे जायसी ने प्रेम का नाम दिया है जिसके कारण दो मुट्‌ठी धूल-सरीखा मनुष्य बैकुण्ठी हो जाता है। जहाँ की छाँह अनूप है। इस सिंहल-लोक में तत्त्वत: न भूत है, न भविष्य। यह एक सतत वर्तमानता का लोक है।

सिंहल द्वीप को मैंने अलोक कहा है, परन्तु यह आदर्श लोक नहीं है। उसकी विविधता में काले, सफेद सभी रंग है। अगर जायसी का अभीष्ट केवल अपनी आन्तरिक यात्रा का कथात्मक पर्याय तलाश करना होता तो वे बड़ी आसानी से उसे आदर्श लोक बना सकते थे और कथा की पद्‌मिनी और रतनसेन के मिलाप के बाद समाप्त कर देते। या, चित्तौड़ को भी उसी अ-लोक साम्राज्य का एक और राज्य बना सकते थे, जैसा 'चन्दायन', 'मृगावती' या 'मधुमालती' की कथाओं में है। इन कथाओं के सारे नगर, जंगल, नदियाँ, राक्षस, राजकुमार, राजकुमारियाँ, कल्पना के एक ही स्तर पर अवस्थित नहीं हैं। इनमें से कोई भी स्थल एक भिन्न प्रकार के इतिहास-लोक अवस्थित नहीं है। अगर जायसी कथा को यहीं समाप्त कर देते तो भी प्रेम की पीर की अन्तवर्ती यात्रा के दस्तावेज के रूप में पद्‌मावत एक शक्तिशाली ग्रन्थ होता। लेकिन जायसी जिस प्रेम की पीर का अवगाहन कर रहें थे, जो टैजिक विजन उनकी चेतना को मथ रहा था, उसके लिए अकेले सिंहल-लोक की यात्रा काफी नहीं थी। उनकी कल्पना ने सिंहल के मुकाबले में एक दिल्ली

NMDC-065

की रचना की। यह दिल्ली इतिहास-लोक की दिल्ली है, देश और काल से बँधी हुइ दिल्ली है। अलाउद्दीन गंधर्वसेन से कम प्रतापी राजा नहीं है। कुछ अधिक ही है। गंधर्वसेन की प्रतापी सेना दीवार पर चित्रित, आभूषण की तरह जगमगाती सेना है। लेकिन अलाउद्दीन की सेना वस्तुजगत की सेना है जो गाँव उजाड़ती है, दुश्मनों के दाँत खट्टे करती है, गढ़ों को चूर-चूर करती है। यह सेना काव्यात्मक अभिप्रायों की सेना नहीं है, वास्तविक सेना है। परन्तु इस दिल्ली में कोई आन्तरिकता नहीं है। इस दिल्ली का घटनाक्रम सत्ता, शक्तिमत्ता और आतंक का घटनाक्रम हैं। परन्तु यह घटनाक्रम क़िसी वैश्विक सामरस्य से बँधा हुआ घटनाक्रम नहीं है। यह घटनाक्रम भीतर और बाहर को समन्वित नहीं करता, चेतना और वस्तुजगत को बाँधता नहीं, केवल उनमें गहरे विषाद और व्यंग्य से भरी हुई खाई उन्पन्न करता है।

अप्रतिम शक्ति का स्वामी अलाउद्दीन क्या चाहता है? वह पद्मिनी को प्राप्त करना चाहता है। पूरी व्याकुलता से प्राप्त करना चाहता है। उसकी सेना के आगे चित्तौड़ की क्या बिसात है। वह चित्तौड़ जीत लेता है। सब कुछ मिल जाता है। एक पद्मिनी नहीं मिलती। विजय का उत्कर्ष उसकी पराजय का भी क्षण है:

आइ साहि सब सुना अखारा। होइगा राति देवस जो बारा।।
छार उठाह लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथिमी झूँठी।।

शाह ने पहुँच कर उनके वीरतापूर्वक सती हो जाने का हाल सुना। रात-दिन जिसे रोका था, वही हो गया। उसने एक मुट्ठी राख उठाई और 'पृथ्वी झूठी है' कहते हुए हवा में उड़ा दी।

स्वप्नों, आकांक्षाओं, मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौंदती हुई सत्ता की एक आतंककारी दुनिया बाहर है। क्या ये दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर समन्वय प्राप्त कर सकती हैं? जब ये दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे के निकट आती हैं, तो क्या होता है? अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आयामों में पूरी पद्मावत-कथा में पूछने का अभूतपूर्व प्रयास किया। जवाब में उन्होंने देखा–चिता से उड़ती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा। और, जायसी उस चिता की राख को कुरेदते हैं कि इसमें एक धड़कता हुआ हृदय था, उसका क्या हुआ? गालिब के शब्दों में:

जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा।
कुरेदते हो ये क्यों खाक जुस्तजू क्या है?

यह जुस्तजू ही वह प्रश्नचिन्ह है जिसे हम जायसी के ट्रैजिक विजन या विषाद-दृष्टि की भाँति देखते हैं।

NMDC-065

इस प्रश्न को पूरी गहराई और अपने युग के आतंककारी संघर्षों की व्यापक पृष्ठभूमि में रखकर पूछने के लिए जायसी ने पद्मावत के कथानक की बनावट में एक विलक्षण प्रयोग किया जो उनकी महान कल्पना-शक्ति और सृजनात्मक प्रतिभा का परिचायक है। उन्होंने सिंहल-लोक और इतिहास-लोक को दर्पण की भाँति एक-दूसरे के सामने रख दिया। कथा की दोनों भुजाओं में एक समान्तरता स्थापित हो गयी। दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे को प्रतिच्छायित करती है—और उनकी समानता और उनकी विषमता एक साथ अभिव्यंजित होती है।

अतिप्राकृतिक घटनाओं की कथा वहीं समाप्त हो जाती है जब अमृत, हंस, सोनचिड़िया, शार्दूल-भावक और पारस पत्थर लेकर रतनसेन और पद्मिनी जगन्नाथपुरी में वापस आते हैं। आगे की घटनाओं में इन चमत्कारी वस्तुओं का घटनाक्रम में कोई योगदान नहीं होता। जगन्नाथपुरी में पान बीड़े के साथ दिया हुआ मामूली रत्न बाजार में बेचकर ही पद्मिनी ने आगे का काम चलाया। उस रत्न की आभा भी जेब में रखे हुए पैसे के बराबर की हो गयी।

सिद्धान्ततः सिंहल द्वीप शुद्ध अलोक है। दिल्ली शुद्ध इतिहास-लोक है और चित्तौड़ दोमुँहा है। उसका एक मुँह सिंहल द्वीप की ओर है, दूसरा दिल्ली की ओर है। कथा की नायिका पद्मावती तीनों में लकीर की तरह खिंची हुई है। स्वप्न और यथार्थ, आकांक्षा और मुट्ठी-भर राख, जीवन और मृत्यु, इन आदिम विरोधों के बीच दीपित होती हुई भूमिका उसे जायसी ने प्रदान की है। वस्तुतः पद्मावती दो दर्पणों के बीच प्रकाश का वह सेतु है जिसके द्वारा कथा के दोनों भाग परस्पर अनुस्यूत होते हैं। इस सेतु की भूमिका को अच्छी तरह समझने के लिए कथा की दोनों भुजाओं की बनावट को देखना आवश्यक है।

पहले हम कुछ सामान्य छवियों-प्रतिच्छवियों को लें। प्रेम के चरमोत्कर्ष में पद्मिनी के प्रति अपनी अनन्य प्रीति रतनसेन ने इस स्तर पर स्थापित की कि सकल विश्व, यहाँ तक कि देवता और समुद्र भी, उस प्रेम के उद्वेग से आन्दोलित हो गये। चितौड़ पहुँचते ही यह अनन्यता दो बीवियों के बीच सन्तुलन बनाने की व्यावहारिक समस्या में बदल जाती है। पद्मिनी एक अलग महल में उतारी गयी। इस व्यावहारिक समस्या का समाधान निकालने के लिए रतनसेन नागमती और पद्मावत, दोनों से झूठ बोलता है। वह जो सिंहल-लोक में विरह की सलाखों पर जलता हुआ मांस और आँखों से टपकता हुआ रक्त का आँसू था, यहाँ आकर चतुराई और व्यवहार-कुशलता में बदल जाता है।

प्रथमांश में पद्मावती की पहली तसवीर हमें मानसरोदक खण्ड में लड़कियों के खेल में दिखती है। वह दृश्य पद्मावती के पारस-रूप, निरीह उल्लास और भोली उन्मुक्तता की छवि प्रस्तुत करता है। यह लगभग नितान्त आन्तरिक जादू-भरा सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य से भी एक कदम आगे जिसकी तस्वीर हीरामन ने रतनसेन को दी थी—जहाँ नख-शिख पार्थिव और अपार्थिव

NMDC-065

सौन्दर्य का मिला-जुला रूप है। इतिहास-लोक में इसकी प्रतिच्छवि सौत की डाह से जलती हुई, घाघ शब्दावली में गाली बकती और आखिरकार सौत से हाथापाई करने वाली पद्मावती में दिखाई पड़ती है। सौन्दर्य और यौवन उस दृश्य में भी हैं जिसे देखकर देवता भी खड़े-खड़े मर जाते हैं। लेकिन पार्थिवता के आगे आन्तरिकता लगभग तिरोहित है। जादू उतना ही है जितना दिल पर छुरी चला देने के लिए चाहिए।

सिंहल-लोक की कथा में प्राकृतिक और अप्राकृतिक, यथार्थ और जादुई घटनाओं में कोई सीमारेखा नहीं हैं। इन सबकी प्रतिच्छाया के रूप में चित्तौड़ की कथा जादुई चमत्कार के निषेध से आरम्भ होती है। राघव चेतन ने अमावस्या के दिन द्वितीया का चाँद दिखला दिया। विपत्तियों की शुरुआत इसी घटना से होती है। जायसी ने बहुत नाटकीय ढंग से दिखलाया कि अब हम एक दूसरे लोक में पहुँच गये हैं। इस लोक में सिंहल-लोक की शर्तें निरर्थक ही नहीं, पंथ और ग्रंथ के विरुद्ध भी हैं। इतिहास-लोक में चमत्कारवाद का सर्वथा अभाव है, यहाँ तक समुद्र द्वारा दिये हुए चमत्कारी रत्नों का भी कोई उपयोग आगे की घटनाओं में नहीं किया जाता। पहले जो वैश्विक सामरस्य था, अब केवल यक्षिणी सिद्ध करने के अभिचार-जैसा दिखता है।

राघव चेतन हीरामन तोता की दूसरी भुजा है। हीरामन तोता पद्मिनी का बचाव करता है। राघव चेतन भी लगभग उसी शब्दावली में पद्मिनी का नख-शिख वर्णन करता है। लेकिन दोनों के वर्णन में एक तात्विक अन्तर है। हीरामन के सिंहल-लोकीय वर्णन में पद्मिनी एक अद्वितीय व्यक्ति है। अलाउद्दीन के सम्मुख राघव चेतन के वर्णन में पद्मावत केवल पद्मिनी जाति की स्त्री है। व्यक्ति नहीं है, नमूना है। इसका रेखांकित करने के लिए अलाउद्दीन और राघव चेतन की बातचीत में जायसी ने इस पर काफ़ी जोर दिया है।

रतनसेन भी पद्मिनी को प्राप्त करने के गढ़ घेरता है, अलाउद्दीन भी गढ़ घेरता है। लेकिन एक मरने के लिए तैयार होकर चढ़ाई करता है, दूसरा मारने के लिए। अलाउद्दीन छल से पद्मिनी को देखता है और छल से ही रतनसेन को बन्दी करके ले जाता है। लेकिन अपने उद्देश्य को मन में ही रखकर पहले वह रतनसेन से कैसी मीठी बातें करता है। महादेव ने रतनसेन को सिंहल द्वीप में उपदेश दिया था—'परगट लोकाचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता।' महादेव की सलाह रतनसेन ने तो नहीं मानी। वह सीधे मुख्य फाटक पर पहुँच गया। लेकिन इतिहास की प्रतिच्छवि में, लगता है, सिद्ध गुटिका की सीख के अनुसार काम अलाउद्दीन ही करता है। प्रकट में लोकाचार, भीतर-भीतर पूरी तैयारी। छाया-प्रतिछाया की इस बुनावट में सारे अभिप्राय उलटे अर्थ क्यों व्यंजित करने लगते हैं?

लेकिन सबसे गहरा अन्तर तो काल की गति का है। सिंहल-लोकीय काल के विश्लेषण में हमने देखा कि वहाँ कालबोध एक चिरतन स्थिरता और वैश्विक सामरस्य की तरह अनुभूत होता है।

NMDC-065

परन्तु दिल्ली-चित्तौड़ की दुनिया में काल भूत-वर्तमान-भविष्य की सीधी रेखा में दौड़ता है। हर स्थिति, हर घटना भविष्य की ओर भागती है और इस भविष्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं है—न रतनसेन का, न अलाउद्दीन का। द्वितीया तभी आएगी जब उसे आना होगा। वह एक दिन पहले नहीं आ सकती। यदि जादू से लाई जाएगी तो अपराध और विपत्ति का सूत्रपात करेगी। यह वह दुनिया नहीं है जहाँ अँबराई बराबर फूलती है, मानों छहों ऋतुओं में बसन्त ही हो। पद्मिनी जब मानसरोवर में खेलने के लिए जाती है तो जायसी समय का उल्लेख इस प्रकार करते हैं :

एक दिवस कौनेउँ तिथि आइ। मानसरोदक चली अन्हाई।।

इस 'कौनेउँ तिथि' को बाद के पाठान्तरों में 'पूनो तिथि' किया गया। परन्तु कल्पना के जिस स्तर पर जायसी सिंहल द्वीप का वर्णन कर रहे हैं, उसमें सभी तिथियों समान हैं। कोई भी तिथि, किसी भी तिथि-जैसी है। द्वितीया और अमावस्या का जानलेवा भेद उस लोक में है ही नहीं। इसीलिए 'कौनेउँ तिथि' को 'पूनो तिथि' में बदलना कम से कम मुझे आवश्यक नहीं दिखता। और, वही आम के पेड़ों का बिम्ब, जिनका निरन्तर फूलना सदा बसन्त की स्थापना करता है, इतिहास-लोक में आठ बरस व्यतीत हो जाने के निमित्त उपयुक्त हुआ है। चित्तौड़ को अलाउद्दीन आठ बरस घेरा :

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा। धनि सुलतान कि राजा महा।।
आइ साहिं अँबराउ जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए।।

इसी तरह की सूक्ष्म झनकारें विभिन्न स्तरों पर कथा के दोनों भागों में भरी हुई हैं। बिम्ब, कल्पना-चित्र, साधन-साध्य का सम्बन्ध, घटनाक्रम की प्रकृति, ये सारी गूँजें-अनुगूँजें इन दोनों लोकों के अर्थों को प्रतिच्छायित करती हैं और गहरी व्यंजनाएँ उत्पन्न करती हैं। जायसी की काव्य-क्षमता की महानता इसमें है कि उन्हें सीधे हस्तक्षेप करके अभिप्राय को खोलकर कहने और दार्शनिक अथवा सामाजिक स्थापना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वस्तुतः इसी कारण पूरी कथा विचारधारा नहीं, बल्कि एक नैतिक मर्म और उसमें अनुस्यूत बौद्धिक सघनता की प्रतीति होती है।

आठ बरस गुजरने के काल को जिस प्रकार जायसी ने आमों के फलने और झर जाने के बिम्ब से वस्तुपरक बनाया है, उसके समान्तर सिंहल द्वीप से एक अन्य उद्धरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। वह कड़वक जायसी की उत्कृष्ट शिल्पगत संरचनाओं में से है। यहाँ भी विषय समय के बीतने का है। सिंहल द्वीप के गढ़ पर घण्टा बजता है—और समय मन्द गति से बीतता है :

NMDC-065

नवौ पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू।।
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर-पहर सो आपन बारी।।
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी-घरी घरिआर पुकारा।।
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माटी कर भाँड़ा।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे।।
घरी जो भरै घटै तुम्ह आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ।।
पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।।

मुहम्मद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति।।

मैं समझता हूँ कि इस कड़वक को विश्लेषित करने की आवश्यकता नहीं है। हम सतह पर ही देख सकते हैं कि आरम्भ वस्तुपरक गढ़ पर बजने वाले घण्टे से होता है और धीरे-धीरे अत्यंत सधी हुइ कूँची के रंगों से अन्त तक सारा वस्तुपरक दृश्य कपूर की तरह उड़ जाता है। सिर्फ़ एक हल्के विषाद की सुगंध शेष रह जाती है जिसकी प्रतीति हमारे बाहर नहीं, अन्तःकरण मे देर तक होती रहती है। यह विषाद की सुगंध काल की उस गति की सुगंध है जहाँ हमारे भीतर समय और समयहीनता, सान्तता और अनन्तता की रेखाएँ एक-दूसरे को भेद जाती हैं।

क्या यह सब तसव्वुफ़ है? क्या इसको तसव्वुफ की शब्दावली, मजाज और हक़ीकत से समझा जा सकता है? मुझे ऐसा नहीं लगता। यह स्वर, यह विषाद, यह टीसती हुई तड़प एक ऐसे कवि की है जिसे मजाज और हक़ीकत दोनों चाहिए। जो मजाज को हकीकत के सामने पड़े हुए पर्दे की तरह नहीं देखना चाहता, जो मजाज और हक़ीकत को युगनद्ध देखना चाहता है। जिसे बैकुंठी प्रेम की तलाश नहीं है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करने वाले मनुष्य को ही बैकुंठी बना दे।

सिंहल-लोक और इतिहास-लोक को आमने-सामने दर्पण की तरह खड़ा कर देने में दो ख़तरे थे। एक तो यह कि इन दोनों भुजाओं में कोई मेल होता ही नहीं। जैसा मैंने पहले कहा, दोनों खण्ड अलग-अलग काव्य हो जाते, उनमें एकता न स्थापित होती। या, यदि दोनों में कहीं कोई जोड़ पैदा होता तो वह केवल व्यंग्य या कटाक्ष की ध्वनि उत्पन्न करता। या तो सिंहल-लोक इतिहास-लोक की पैरोडी बन जाता, या इतिहास-लोक सिंहल-लोक की। इन दोनों ख़तरों का सामना जायसी ने कैसे किया? कैसे उन्होने दोनों को मिलाया और इस सम्मिलन से सैटायर नहीं, ट्रैजिक विजन को अभिव्यक्त किया?

NMDC-065

जोड़ने वाली मुख्य कड़ी पद्मावती है और एक हद तक रतनसेन। देखने में रतनसेन वह है जो चित्तौड़ से सिंहल द्वीप, फिर वापस चित्तौड़, फिर वहाँ से दिल्ली और फिर वापस चित्तौड़ तक की यात्रा करता है। परन्तु पूरी कथा पर पद्मावती छाई हुई है। जायसी की चित्रण-शैली में रतनसेन अपेक्षाकृत स्थूल या पार्थिव है। जितना ही विरह की सलाखें उसके मांस को भूँजती हैं, उतनी ही उसकी जिद्दी पार्थिवता उसे पूरी तरह निचुड़ जाने से रोकती है। यहाँ तक कि महादेव को पहचान कर, जायसी की शब्दावली में, घबराया हुआ रतनसेन जब डफार छोड़कर महादेव के पैरों पर पड़ जाता है तो हमें उसकी आन्तरिक व्याकुलता के साथ डफार की आवाज ज्यादा जोर से सुनाई पड़ती है। विरह और तीव्र उद्वेग तो पद्मावती को भी है, लेकिन जायसी उसके लिए 'डफारने ' वाली शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। परन्तु पद्मावती स्थूल और सूक्ष्म, पार्थिव और अपार्थिव, दोनों स्तरों पर एकसाथ झंकृत है। वस्तुत: पद्मावती आधा स्वप्न है, आधा यथार्थ। पद्मावती का चित्र रोमांटिक चित्र नहीं है जहाँ यथार्थ उसी समय अपनी आभा को प्राप्त करता है। जब यह पिघलता हुआ अशरीरी हो जाने के क्षण में अटका होता है। लेकिन जायसी ने शास्त्रीय पद्धति के जिस नखशिख-वर्णन और काव्य अभिप्रायों को सहारा लिया है, उसने जहाँ पद्मावती की स्वप्नवत बनाया, वहीं उसको एक वस्तुपरकता भी प्रदान की। पद्मावती कवि का निजी स्वप्न नहीं है, जैसा रोमांटिक और छायावादी कवियों के साथ होता था—पद्मावती एक पूरी संस्कृति का स्वप्न है। इसीलिए यह स्वप्नमयता उसकी पूरी काया के साथ एकात्म हो जाती है, काया को तिरोहित नहीं करती। उसके सौन्दर्य की अपार्थिवता के साथ उसकी यह अपार्थिवता अक्षुण्ण रहती है।

पूरी कथा में हमारे सामने पद्मावती के कई चित्र आते हैं। एक पद्मावती वह है जिसने मानसरोदक के तीर पर अपने बालों को खोलकर लहरा दिया है। वह धीरे-धीरे जल की ओर जाती है और मानसरोवर उछल-उछल कर उसके पैरों को छूने के लिए लहरें ले रहा है। एक पद्मावती वह है जिसके नख-शिख का वर्णन हीरामन करता है। एक पद्मावती वह है जो बाण में प्रथम दर्शन के साथ रतनसेन को बेहोश देखकर उसकी छाती पर लिखती है, 'बुद्धू, एक ही जलवे में टें बोल गया। ऐसे कहीं पद्मावती को पाया जाता है?' वही पद्मावती सुहागरात में रतनसेन को चिढ़ाती है, 'अरे जोगी, तू मुझ राजकुमारी को छूने का साहस लेकर कहाँ से आ गया? दूर हट, तेरे मुँह से तो माँग कर खाये हुए भात की गंध आ रहीं है।' एक पद्मावती वह है जो सुबह माँ के सामने सिकुड़ी, कुम्हलायी, सुहागिन बिटिया बनकर बैठी है और माँ उसके बालों को चूमती है और न्यौछावर फेरती है। एक पद्मावती वह है जो समुद्र के किनारे रतनसेन के लिए बिलख रहीं है। एक पद्मावती वह है जो राघव चेतन को कुपित लेकर जाता देख व्यवहार-बुद्धि से झरोखे से कंगन फेंकती है और जब राघव चेतन उसकी झलक देखकर मूर्छित हो जाता है तो हँसकर खिड़की बन्द कर देती है, 'कम्बख्त, जिसे देखो वही मुझे देखकर मरा

NMDC-065

फिरता है। अब यह गुणी मर गया तो हत्या मुझे ही लगेगी।' यहाँ भी एक प्रतिध्वनि है। रतनसेन को बेहोश छोड़कर जब पद्मावती अपने महल चली गयी तो अपनी सखी से कहती है :

जासौं हौं चख सोइ ठाउँ जिंउ देइ ।
एहिं दुख कबहुँ न निसरौ को हत्या असि लेइ।।

"जिसको मैं आँख भरकर देख लेती हूँ, वह उसी जगह प्राण दे देता है। इसी दुःख से मैं कभी बाहर नहीं निकलती कि कौन इस प्रकार हत्या अपने सिर ले।'' एक पद्मावती वह है जो सौत से लड़ने के लिए पहले तो चतुर कवियों की भाँति श्लेष-भरी गालियाँ देती है और गरदनियाँ देकर गुँथ जाती है। एक पद्मावती वह है जो चंचल लड़की की तरह महल में आये हुए दिल्ली के सुल्तान को देखने का लोभ नहीं छोड़ पाती और अपनी विपत्ति खुद बुलाती है। एक पद्मावती वह है जो गुस्से में भरकर देवपाल की कुटनी के नाक-कान कटवा कर बाहर निकलवा देती है। एक और पद्मावती है जो सधी हुई गरिमा के साथ अवसादग्रस्त राजमहिषी की भाँति रूठे हुए गोरा बादल को मानने जाती है। और एक आख़िरी पद्मावती वह भी है जो रतनसेन की चिंता के चारों और भाँवर देकर रतनसेन को आलिंगन करके चिता पर लेट जाती है। जलकर राख हो जाती है, लेकिन उसके शरीर में एक मरोड़ भी नहीं पैदा होती :

लागीं कंठ आगि दै होरी। छार भई जरि अंग न मोरी।।

सिंहल-लोक की इस अर्द्ध-स्वप्न अर्द्ध-यथार्थ राजकुमारी में ये सारी पद्मावतियाँ सामविष्ट हैं। जायसी की पद्मावती कथा का एक स्थिर पात्र या एकार्थी प्रतीक नहीं है, वह ऊर्जा एक विलक्षण संपुंज है। यह ऊर्जा स्वयं उसे ही ऊर्जस्वित नहीं रखती; जहाँ उसकी एक प्रत्यक्ष या परोक्ष चितवन पहुँचती है, वहीं से ऊर्जा का स्रोत फूट पड़ता है। मानसरोवर की लहरें हों, हीरामन तोता हो, रतनसेन हो, राघव चेतन हो, अलाउद्दीन हो, गोरा बादल हो, चिंता से उठती हुई ज्वालाएँ हो, और अन्त में उसे बूढ़े कवि मलिक मुहम्मद जायसी का सपने देखने वाला मन हो, सबमें उसकी ऊर्जा का समुद्र लहराता है। और, पद्मावती अपनी इस चकाचौंध करने वाली उर्जस्विता को जानती भी है। इसीलिए उसकी उदासी और खिलखिलाहट, उसकी सात्त्विक गम्भीरता और उसका अल्हड़ चुलबुलापन, उसका चुम्बकीय आकर्षण और उसका अडिग सत, उसका सहज विश्वासी मन और अनुभवी राजनीतिज्ञ की भाँति उसकी व्यावहारिक कुशलता, उसकी द्रवित हो जाने वाली आतुरता और उसका निर्बन्ध क्रोध---ये परस्पर-विरोधी लगने वाले भावात्मक उतार-चढ़ाव किसी दार्शनिक अवधारणा या प्रतीक का नहीं, जिन्दगी की उछाल का निर्माण करते है। पद्मावती जिन्दगी का दर्शन, जिन्दगी है। वह जायसी का तसव्वुफ़ नहीं, जायसी की कविता है।

NMDC-065

वैसे तो पद्मावत का कोई पात्र नहीं है जिसको जायसी ने पूर्णत: आत्मसात न कर लिया हो, परन्तु जिस मनोयोग से उन्होंने पद्मावती को रचा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही पद्मावती कथा के दोनों भागों में समान रूप से अवस्थित रहने में सक्षम है। इसीलिए वह पूरी कथा को जोड़ती है। और इस पद्मावती का अन्तिम विसर्जन उस विषाद-दृष्टि को जन्म देता है जो जायसी को पारमार्थिक वैराग्य की तरह नहीं, तिलमिलाऐ व्यंग्य की तरह भी नहीं, एक विराट परन्तु कुरेदते हुए प्रश्नचिन्ह की तरह मथती रही। रतनसेन जब सिंघल पहुँचता है तो अधूरा रहता है; उसका आधा हिस्सा चित्तौड़ में छूट जाता है। नागमती की शक्ल में छूटा हुआ यह आधा हिस्सा उसे सिंघल द्वीप से इस तरह खींचता है कि उसके एकान्तिक प्रेम के पल्लवित वृक्ष की जड़ें दूर-दूर तक उखड़ जाती हैं। और, अलाउद्दीन तो चित्तौड़ तक ही पहुँचता है जब राम और सीता अलोप हो चुकते हैं। सिंघल-लोक भी कोई चीज है, इसकी तो जानकारी भी अलाउद्दीन को नहीं होती। क्या है जो इस पद्मावती को जलाकर छार कर देता है? 'कुरेदते हो ये क्यों ख़ाक जुस्तजू क्या है?'

क्या यह दार्शनिक या पारमार्थिक प्रश्न है? क्या यह नैतिक प्रश्न है? क्या यह सांस्कृतिक प्रश्न है? क्या यह सामाजिक प्रश्न है? क्या यह राजनीतिक प्रश्न है?

मैंने आरम्भ में कहा था कि जायसी ने लिखा चाहे सोलहवीं शताब्दी में हो, लेकिन उन्हें वस्तुत: आविष्कृत इस बीसवीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इस अर्थ में वे बीसवीं शताब्दी के कवि हैं। लेकिन उनकी सृजनशीलता एक गहरे अर्थ में आधुनिक है। उनकी विशेषता इसमें है कि उनके पद्मावत में इन प्रश्नों में विभिन्न स्तरों को नितान्त तिरोभाव हो जाता है। ऐसे युग में जहाँ परमार्थ सम्प्रदाय में, नैतिकता पक्षपात में, संस्कृति सामूहिक अलगावों में, सामाजिकता हिन्दू-तुरुक-संघर्ष में और राजनीति निरंकुशता में निरंतर स्तरीकृत होती रहती है, एक ऐसी विराट सुगन्ध की कल्पना करना जिसमें ये सारे स्तर विलीन हो जाते हों, विषाद से भर जाना तो था, केवल अंशत: समझे जाने के लिए निमंत्रण देना भी था। पद्मावती के जलने के साथ वैभव-संपन्न एक पूरी आन्तरिक दुनिया जल जाती है। अलाउद्दीन जिसे नहीं देखता, जायसी जिसे देख रहे थे।

यह कहना कि हिन्दी के आधुनिक कवि भी इन तमाम स्तरों को तिरोहित करने में सफल हो पाते हैं, कठिन है। लेकिन यह उनकी चिन्ता और सर्जनशीलता की प्रमुख वृत्ति तो है ही।

विभिन्न स्तरों के तिरोहित होने की प्रक्रिया पद्मावत में किस प्रकार घटित होती है? इस प्रश्न को लेकर जब हम पद्मावत को पढ़ते है तो हमें यह प्रक्रिया न सिर्फ कथा के पूरे ढाँचे में, बल्कि सर्वत्र, छोटी-सी-छोटी घटनाओं और उक्तियों में भी अनुस्यूत दिखलाई पड़ती है। और विस्तृत

NMDC-065

विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है, लेकिन एकाध स्थलों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करने का लोभ नहीं संवरण कर सकता।

मैंने पहले कहा कि दिल्ली और सिंहल द्वीप के बीच चित्तौड़ दो मुँहा है। वह उस रतनसेन को जन्म देता है जिसके बारे में एक ही नहीं दो भविष्यवाणियाँ हैं। वह सिद्ध होकर सिंहल द्वीप की पद्मावती ब्याह कर लाएगा और विक्रम की भाँति साका करेगा। भविष्यवाणी का एक मुँह सिंहल-लोक की ओर है, दूसरा इतिहास-लोक की ओर। मन की जिस आग को लेकर रतनसेन पद्मिनी के लिए जोगी बनकर निकलता है, उसका विद्वानों ने बड़े मनोयोग से विश्लेषण किया है। लेकिन जोगी बनकर जाते समय साथ में सोलह हजार राजकुमारों को जाने की जरूरत क्यों पड़ती है? 'चन्दायन' का लोरिक और 'मृगावती' तथा 'मधुमालती' के राजकुमार मंजनूँ और फरहाद अपनी खोज में अकेले ही हैं। रतनसेन के साथ सोलह हजार साथी केवल इसी बात की याद दिलाते हैं कि एकान्त तड़पती हुई यात्रा में भी चित्तौड़ का दोमुँहापन नहीं छूटता। ये राजकुमार कथा के हाशिये पर ही स्थित हैं, अतः चित्तौड़ की केवल याद दिलाते हैं, यात्रा की आन्तरिकता में कोई विघ्न नहीं उपस्थित करते। वे हैं, लेकिन गुणीभूत।

लेकिन यह हल्की रेखा है। आइए, हम प्रकाशवृत्त नागमती पर डालें जो पद्मावती के प्रतिपर्ण की भाँति है। जिस नागमति से हमारा आरम्भ में परिचय होता है, वह केवल पार्थिव है और रंगमंच के हाशियें पर तो नहीं, लेकिन एक कोने में खड़ी है। जब रतनसेन सिंहल द्वीप जाने लगता है तो वह बिलखती है और साथ चलने का आग्रह करती है। रतनसेन उसे डाँट देता है :

तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घरनारी।।

"आखिरकार औरत ही हो न। औरतें बेवकूफ़ होती हैं। और वह पुरुष भी मूर्ख होता है जो घर की औरतों की सलाह पर चलता है।"

इस जोरदार झिड़की से नागमती छोटी होकर नितांत अप्रासंगिकता की गोद में दुबक कर रह जाती है।

इस छोटी-सी झिड़की से जायसी ने प्रतिध्वनि अलंकार के द्वारा बहुत-सी व्यंजनाएँ पैदा की हैं। 'घरनारी' के इस तिरस्कार के बावजूद रतनसेन इतने तामझाम से जा कहाँ रहा है? एक दूसरी औरत को सिंहल द्वीप से 'घरनारी' बनाकर लाने के लिए ही न? और सिंहल पहुँच कर वह पद्मावती को कैसा-कैसा गुरू बनाता है और गिड़गिड़ाता है। पद्मिनी गुरू ऐसी बनती है कि महेश की सलाह पर भी उसको प्राथमिकता मिलती है। पद्मावती चिट्ठी में रतनसेन को लिखती है कि 'आकाश-मार्ग' से, खुले आम जान पर खेलकर, मुझे लेने आओ।' महेश कहते हैं, ' सुरंग

NMDC-065

को तलाश करके आगे बढ़ो।' रतनसेन पहले पद्मावती का कहा करता है। असफल होने पर महेश की युक्ति काम में लाता है। फिर जायसी इस गुरू-चेला की नाथपंथी और सूफ़ीवादी शब्दावली साथ 'कभी पद्मावती गुरू, कभी रतनसेन चेला; कभी रतनसेन गुरू और पद्मावती चेला' कहकर तड़प और एक जान दो कालिब जैसी गहराई देते हैं। पद्मावती से शादी करने के बाद जब वह 'घरनारी' बन जाती है, तो जायसी अपने विनोदी मन पर जब्त न करके एक फ़ब्ती भी जाड़ देते हैं। सुहागरात में सखियाँ जब पद्मावती को लेकर रतनसेन के पास जाती हैं तो ये हजरत अपनी आदत के अनुसार फिर एक बार मूर्छित हो जाते हैं। सखियाँ फ़ब्ती कसती हैं:

जोगी आहि न भोगी होई। खाइ कुरुकुटा गा परि सोई।।
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। नाहिं जाग जोगी भिखमंगा।।
अबहुँ जगावहिं चेला जागू। आवा गुरु पाच उठि लागू।।

बोलहिं सबद सहेली कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ।।

सखियों ने रतनसेन का माथा पकड़ा और कान में मुँह लगाकर जोर से चिल्लायी, "अरे ओ नाथ के चेले उठ। देख तेरे गुरू गोरखनाथ खड़े हैं। उठ कर पाँव लग।'' 'आख़िरी कलाम' में मलिक मुहम्मद जायसी ने ठीक ही कहा था, 'मेहरी के भेस में जब औरत रात को आती है तो नीचे गिराकर पुरुष से कैसा-कैसा साष्टांग दण्डवत करवाती है।'

इस 'घरनारी' की और भी प्रतिध्वनियाँ इतिहास-लोक में उपस्थित होती है। सिंहल-लोक्रीय अर्द्धांश में हम यह मानकर चलते हैं कि पद्मावती अलग चीज है, नागमती अलग चीज। दोनों दो दुनियाओं के पात्र हैं। उनमें समकक्षता का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। बल्कि जायसी ने नागमती के पूछने पर हीरामन के उत्तर द्वारा और बाद में रतनसेन की फटकार द्वारा इस अ-समकक्षता को पहले रेखांकित किया है। जब पद्मावती 'घरनारी' बन जाती है और इतिहास-लोक में आती है तो चित्तौड़ पहुँचते ही दोनों की समकक्षता शुरू हो जाती है, और जो समुद्र तक पद्मावती थी, चित्तौड़ आकर एक और 'बीवी' बन जाती है। और रतनसेन के सामने बिल्कुल व्यावहारिक समस्या खड़ी होती है कि इन दोनों का जोड़ कैसे बैठाया जाय। वह पद्मावती को अलग महल में उतारता है और फिर प्रेम और सत का वह अमर पुजारी दोनों बीवियों से अलग-अलग सफ़ेद झूठ बोलता है। दोनों से चुपके से कहता है, 'असली तुम्हीं हो, दूसरी वाली तो यों ही है।' लगता है कि औरतें गम्भीरता से ली जाने वाली चीजें ही नहीं हैं। यहाँ परिस्थितिजन्य सैटायर या व्यंग्य हो जाने की पूरी संभावना थी। यह जायसी की शैली की

NMDC-065

विशेषता है कि यह स्थल बोलता हुआ सैटायर न बनकर 'घरनारियों' के उपालम्भ तक ही सीमित रह जाता है। अधिक से अधिक वे परिचित नायिकाएँ हो जाती हैं जिनकी छवि को स्थिर करके बाद में रीतिकवियों ने पोथे रँगे। कथाप्रवाह की गम्भीरता, शास्त्रीयता की झलक देकर, पुनः स्थापित कर दी जाती है। सफ़ेद झूठ बोलने के बाद की जिरहों में रतनसेन को उत्तर देने की जरूरत नहीं पड़ती।

रतनसेन को साफ बचा लेने के बाद भी जायसी मामले को यहीं नहीं छोड़ना चाहते। समकक्षता एक बिल्कुल दूसरे ढंग से स्थापित की जाती है। सौतिया-डाह में दोनों भिड़ जाती हैं। और उस वर्णन में दोनों के अंग-प्रत्यंग बिल्कुल एक तराजू पर तौल दिये जाते हैं। आत्मिक स्तर, यौवन और सौन्दर्य सब एक जैसे हो जाते हैं। नागमती और पद्मावती में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों इसी इतिहास-लोक की घरनारियाँ हैं। उड़ती हुई बात राजा के कानों तक पहुँची। उसने आकर दोनों नारियों को शान्त किया। क्या समझाया? तुम दोनों साथ रहो। लड़ती क्यों हो? दोनों ही मेरी घरनारियाँ हो। छोटे-बड़े का क्या सवाल? रतनसेन का कहा हुआ पहला वाक्य यहा प्रतिध्वनि की तरह आभासित होता है, "आखिर औरते ही हो न ! औरतों को अक्ल नहीं होती।"

इस प्रसंग को गहराई और समाधान देने के लिए जायसी फिर योगमार्ग की शब्दावली का प्रयोग करते हैं, ताकि आन्तरिकता बनी रहे और हल्के विनोद के बावजूद सैटायर न प्रकट होने पावे। पाठक के भावयंत्र पर पूरा अनुशासन बनाये रखने के लिए उनके पास सबसे बड़ा सामर्थ्य उनकी शैली की विविधता और शब्द-भण्डार का अजस्र प्रवाह है। इस पूरे प्रसंग को फिर वे हठयोगी साधना के अतिरिक्त अर्थों से जोड़ देते हैं और नागमती-पद्मावती की समकक्षता का समाधान योगमार्ग की दोनों जलती हुई इड़ा-पिंगला नाड़ियों का हो जाता है जो क्रौंच द्वार से सुषुम्ना में पहुँच कर शान्ति प्राप्त करती है, जैसा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी टीका में दर्शाया है।

लेकिन श्लेष और उक्ति-कौशल पर आधारित यह समाधान अन्तिम नहीं हो पाता। वस्तुतः अन्तिम वह है भी नहीं। तनाव बना रहता है। फिर नागमती कथा से अनुपस्थित हो जाती है। कथा के अन्त में रतनसेन की चिता के सामने वह पद्मावती के साथ फिर अचानक प्रकट होती है। इस बार दोनों साथ-साथ चिता को भाँवरे देती हैं, साथ-साथ सारे क्रिया-कर्म करती हैं, साथ ही साथ एक ही शब्दावली में अपने सतीत्व की सौगन्ध खाती हैं और साथ ही साथ जल मरती हैं। आखिरी समाधान सहमरण ही है। ताकि हमको समस्या की आरम्भिक स्थिति भूल न जाय, इसलिए इस क्षण में भी जायसी याद दिलाते हैं कि मरने तक सौतिया-डाह बना रहा;

NMDC-065

नागमती पदुमावति रानी। दुवौ महासत सती बखानी।।
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा सिन्ह डीठी।।
बैठौ कोइ राज औ पाटा। अन्त सबै बैठिहि एहि खाटा।।
चंदन अगर काढ़ि सर साजा। औ गति देइ चले लै राजा।।
बाजन बाजहिं होई अकूता। दुऔ कत लै चाहहिं सूता।।
एक जो बाजा भएहु बियाहु। अब दोसरें होइ ओर निबाहू।।
जियत जो जरहि कंत की आसा। मुँए रहसि बैठहि एक पासा।।

आजु सूर दिन अँथवा आजु रैनि ससि बूड़ि।
आजु नाँचि जिय दीजिअ आजु आगि हम जूड़ि।।

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिर भाँवरि दीन्हा।।
एक भँवर भै जो रे बियाहीं। अब दोसरि दै गोहन जाहीं।।
लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ी दुवो कंत कँठ लाई।।
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाई। मुए कंठ नहिं छाँड़हिं साँई।।
औ जौ गाँठि कंत तुम्ह जोरी। आदि अन्त दिन्हि जाइ न छोरी।।
एहि जग काहजो आथि निआथी। हम तुम्ह, नाँह दुहूँ साथी।।
लागीं कँठ आगि दै होरी। छार भई जरि अंग न मोरी।।

रातीं पिय के नेह गइँ सरग भएउ रतनार।
जो रे उबा सो अँथवा रहा न कोई संसार।।

समकक्षता अपने चरम और अन्तिम रूप में स्थापित हो जाती है। अब फिर आप उस फटकार की याद करें, "औरत ही हो न? औरतों के अक्ल नहीं होती।" घरनारी को कितनी गंभीरता से लिया जाना जरूरी है? या, हम चाहें तो इस स्थल पर जायसी के ही अनभिव्यक्त प्रश्न को पूछ सकते हैं : 'समाज, इतिहास-लोक को ही कितनी गंभीरता से लिया जाना जरूरी है जिसका अन्तिम समाधान मृत्यु में ही निकलता है?'

अगर जायसी नागमती की तसवीरें इतनी ही देते, तो भी उसकी भूमिका पद्मावती के उस प्रतिपर्ण की भाँति होती जो पद्मावती को सिंहल-लोक से इतिहास-लोक में लाकर अपने समकक्ष बैठा दे और इस प्रकार एक अनुबन्ध बनाये। लेकिन, जायसी की प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कल्पना ने नागमती की एक और तसवीर हमारे सामने रखी है जिसने कथा में एक बिल्कुल ही दूसरे प्रकार की गहराई उत्पन्न कर दी है। वह कल्पना है नागमती का विरह-वर्णन।

NMDC-065

जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय रचना है, इसमें कोई संदेह नहीं। उस विरह-वर्णन के आन्तरिक संवेगों की तरलता और तीव्रता का विश्लेषण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भावग्राही आलोचक बुद्धि ने जिस प्रकार किया है, उसमें कुछ जोड़ने का प्रयास करना व्यर्थ है। यह नागमती का विरह-वर्णन ही था जिसके कारण शुक्ल जी ने जायसी को गुमनामी से उठाकर हिन्दी की त्रिवेणी में बिठा दिया। मैं बहुत विनम्रतापूर्वक शुक्ल जी के इस मूल्यांकन में अपनी आवाज भी मिलाना चाहता हूँ।

परन्तु नागमती का विरह-वर्णन भावों का तीव्र और संगीतात्मक सम्प्रेषण मात्र ही नहीं है। वह हमारे आस्वादन में कुछ और अनुभूतियाँ भी जोड़ता है। पूरा विरह-वर्णन, बारहमासे की शक्ल में, नागमती की वाणी के द्वारा रूप ग्रहण करता है। नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियाँ शुरू की कुछ पंक्तियों में झीनी-सी दिखलाई पड़ती हैं। अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज, सिर्फ आवाज से होने लगता है। धीरे-धीरे झीनी पार्थिवता भी केंचुल की तरह छूट जाती है। सारी पार्थिवता तिरोहित होने लगती है। सखियाँ पिघल कर तिरोहित हो जाती हैं। चित्तौड़ का किला, राजमहल सब तिरोहित हो जाता है, यहाँ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है। वीरानों, जंगलों, वनखण्डियों, पहाड़ियों, गाँवों, खेतों में टीसती हुई एक साफ़, लेकिन अशरीरी आवाज़ शेष रह जाती है। यह आवाज पूरे देश के, गुजरते हुए समय के मर्म में निरन्तर तैरती रहती है। देश और काल, दोनों आवश्यक आवरण की तरह छूट कर गिर जाते है—मर्म, केवल मर्म रह जाता है। किसकी आवाज़ है यह? नागमती की? इस आवाज में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड़ जाती है। शनैःशनै यह अन्तर्वर्ती आवाज पूरे चित्तौड़ की, और उससे भी आगे बढ़कर उस पूरे इतिहास-लोक की आवाज हो जाती है जिसे छोड़कर रतनसेन चला गया है।

अब हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि दिल्ली और सिंहल द्वीप के बीच का चित्तौड़ किस अर्थ में दोमुँहा है। चित्तौड़ भी पिघल सकता है और शुद्ध आन्तरिकता की कटार की तरह सिंहल-लोक के मर्म के समकक्ष हो जाने में समर्थ है। तब नागमती को हीरामन के जवाब में एक विहंगम मिलता है जो इस जलती हुई आवाज को लेकर सिंहल द्वीप जाता है।

इस संदेश का असर रतनसेन पर जायसी ने फिर इस तरह दिखाया है कि दर्पण-न्याय से तरह-तरह की प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ठीक ही है कि यह सन्देश उसे उस समय मिलता है जब षट्ऋतु-वर्णन के बाद हम उसे सिंहल-लोक में पूरी तरह समाविष्ट देख चुकते हैं। राजा गन्धर्वसेन उससे कह चुके हैं, 'चित्तौड़ बहुत दूर है। वहाँ वापस आकर क्या करोगे? यहीं बस आओ।' रतनसेन घरजमाई बनकर बस गया। अचानक यह सन्देश आता है। उस सन्देश में चित्तौड़ नगर का नाम है जो सूना हो गया है। रतनसेन की माँ का नाम है जो

NMDC-065

रो-रोकर अंधी हो गयी है और उसके मर्म में नागमती है जिसके विरह की झार से धरती-आकाश जल रहे हैं।

रतनसेन पक्षी को बुलाता है, लेकिन वह उसका विश्वास नहीं करता। वह डरता है, यह आदमी कपटी है, मुझे बन्दी बना लेगा। संदेश कहकर पक्षी उड़ चला। सारे सिंहल-लोक में आग लगा गया।

कहि सो सँदेश बिहंगम चला। आगि लाइ सगरिउ सिंघला।।

सिंघल-लोक में आग में किस प्रकार लगती है? रतनसेन पर इसका प्रभाव बड़ा विचित्र पड़ता है। वैश्विक सामरस्य का जो विशाल वृक्ष उसने रक्त के आँसू बहाकर, सूली पर चढ़कर और ऐकान्तिक संकल्प के द्वारा जमाया था; सहसा इतनी जोर से चरमराता है कि उसकी जड़ें दूर-दूर तक उखड़ जाती हैं और यह जड़ से उखड़ा हुआ आदमी—प्रेम और सत का मरजिया गोताख़ोर—ठीक इसके बाद सिंहल द्वीप में राजा गंधर्वसेन से सफ़ेद झूठ बोलता है, 'चित्तौड़ से चिट्ठी लेकर कबूतर आया है। वहाँ मेरी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर मेरे भाई लोग मेरे सिंहासन को हथिया लेना चाहते हैं। भाइयों से बड़ा जानलेवा शत्रु दूसरा नहीं होता। कृपया मुझे चित्तौड़ जाने की इजाजत दीजिये।'' इस वक्तव्य का एक-एक वाक्य झूठा है। पद्मावती को तो छोड़िये, सचमुच यह रतनसेन नागमती के भी योग्य है या नहीं?

विश्लेषण में एक-एक करके गिनाने से पूरा संश्लिष्ट चित्र टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। यह कुछ मेरी अक्षमता है, कुछ शायद आलोचनात्मक विश्लेषण की पद्धति की दी दरिद्रता है। यही कह सकता हूँ कि इस पूरे चित्र को जायसी के पद्मावत में ही पढ़ें। जैसा जायसी दिखाते हैं, उसका मैं संकेत मात्र ही दे सकता हूँ। बार-बार दूर वनखण्ड से आकर मैं इस जायसी-रूपी कमल की बास लेता हूँ। हर बार एक नई सुगंध मिलती है।

नागमती पद्मावती का प्रतिपर्ण हैं—लेकिन कितना शक्तिशाली प्रतिपर्ण है? उसकी भूमिका मुख्यत: पद्मावती को इतिहास-लोक में लाकर बिठाने की है, कुछ इस तरह के इतिहास-लोक पिछले और कुछ इस तरह की पद्मावती की तरलता कम हो। इससे सैटायर नहीं उभरता और सत्य के एक साथ कई स्तरों पर प्रतिध्वनित होने की गुंजाइश बनी रहती है। जैसे जायसी कहते हों कि इस पात्र को तुमने भीतर से देखा, अब बाहर से देखो, अब फिर भीतर से देखो—यही पूरा सत्य है।

NMDC-065

10. सूर : लोकजीवन और किसानी-चरागाही संस्कृति

प्रेमशंकर

किसी भी रचना की सार्थकता उसकी मानवीय संलग्नता में सन्निहित है और इस दृष्टि से सूर के मानवीय सरोकार पर दृष्टि डालना उपयोगी है जिसे मध्यकालीन रचना संसार के संदर्भ में देखना-समझना होगा। सामंती ढाँचा भारत में इस प्रकार का रहा है कि संपन्नता की जो कहानियाँ बहुत समय तक प्रचारित की जाती रही हैं उनका संबंध विशिष्ट अभिजन वर्ग से है। मध्यकाल की सीमाओं के भीतर सूर मानवीय दृष्टि का जो परिचय देते हैं वह इसलिए हमारा ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट करती है कि जिस चरितनायक को वे अपनी रचना का केंद्रबिंदु मानते हैं, उसे उन्होंने खुली भूमि पर प्रस्तुत किया। मध्यकालीन सामंती परिवेश की सीमाओं का यह पहला अतिक्रमण है–रचना के स्तर पर।

सूरसागर में कृष्ण-गाथा के मांध्यम से सूर कृष्ण के व्यक्तित्व को एक सामाजिकता देना चाहते हैं जो मानवीय संलग्नता से ही संभव है। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम कृष्ण का मानवीकरण किया। इतना ही नहीं, उसे सहज मानवी भूमि पर उतारकर, कर्म-भरे शृंगार से जोड़ा जहाँ मध्यकालीन शरीरवाद भोगवाद को नकारते हुए, कृष्ण को रसिकता की उदात्त भूमि पर रखा गया है। कृष्ण का मानवीकरण करते हुए सूर लीलागान करते हैं और कवि संकेत करता चलता है कि कृष्ण देवपुरुष हैं, पर जीवों के आनंद के लिए वे मानव रूप में अवतरित होते हैं। कई बार कृष्ण-संबंधी लीलागान सूर के सामने एक विचित्र-सा असमंजस प्रस्तुत करता है कि जिस देवपुरुष का वे वर्णन कर रहे हैं, वह अलौकिक है। पर मनुष्य-समाज से उसे जोड़ने के लिए वे लोकजीवन की अनदेखी नहीं करते। गोपिकाएँ यशोदा के पास उलाहना देने आती हैं, पर अनजाने ही उसके सौंदर्य की प्रशंसा भी कर जाती हैं— 'वचन विचित्र कमल दल लोचन, कहत सरस बर बानी'। यशोदा भी इसे अच्छी तरह जानती हैं कि 'आवत सूर उरहने के मिस देखि कँवर मुसुकानी'।

सूर कृष्ण को निरंतर लोकजीवन की खुली भूमि पर रखते हैं क्योंकि उन्हें इस बात का एहसास है कि यदि उनके आराध्य का सामाजीकरण न हुआ तो मानवीय तंतु कमजोर पड़ जाएंगे। वास्तव में सूर की रचनाशीलता की क्षमता इस तथ्य में निहित है कि कवि कृष्ण के प्रसंग में अनेक कथाओं-लीलाओं का उपयोग करते हुए, उन्हें निरंतर सामाजिक बनाए रखता है, जन्म से लेकर द्वारिका-निवास तक। कृष्ण का जन्म होता है तो सारा नंदगाँव उसमें सम्मिलित है। इसकी एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि नंदराय अथवा राजा नंद नंदग्राम के सामंत हैं। पर यह संभवत: अधूरा साक्षात्कार होगा क्योंकि सूरसागर के दशम स्कंध में सूर ने सामान्यजन की प्रतिक्रियाओं

NMDC-065

को व्यजित किया है— कहा गया है:

आजु बन कोऊ पै जनि जाइ।
सब गाइनि बछरनि समेत, ले आनहु चित्र बनाइ।
ढोटा है रे भयो महर के, कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहि घोष मैं भयो कुलाहल, आनंद उर न समाइ।

इस पद में स्थिति का सामाजीकरण करते हुए सूर कहते हैं— 'सूरदास सब प्रेम मगन भये, गनत न राजा राय। कवि ने विस्तार से ग्राम समाज की प्रतिक्रियाओं को आपसी बातचीत के द्वारा व्यक्त किया है। सखियाँ एक-दूसरे से बतियाती हैं—कहती हैं— 'सोभा सिंधु न अंत रही री/नंद भवन भरि पूरि उमँगि चलि ब्रज की बीथिनि फिरती बही री'। सूर की मानवीय संलग्नता विशेष रूप से कृष्ण के बाल-वर्ण में देखी जा सकती है। यशोदा का वात्सल्य स्वाभाविक है, पर ग्राम-समाज कृष्ण के बाल-सौंदर्य में गहरी रुचि रखता है। सूर ने बालक कृष्ण का सामाजीकरण करते हुए, उन्हें ग्वाल-बालों के बीच प्रस्तुत किया है। माखन-लीला-प्रसंग की चर्चा करते हुए प्राय: इस संदर्भ को भुला दिया जाता है कि उनकी इस विचित्र लीला में सूर की मानवीय संलग्नता मौजूद है। सूर कहते हैं: ज्योंही कृष्ण सुनते हैं कि—'खेलन जाहु बाल सब टेरत', त्यों ही 'यह सुनि कान्हभये अति आतुर द्वारे तन फिरि हेरत'। माखचोरी सूरसागर में कोई एकाकी क्रिया-व्यापार नहीं है, बल्कि ग्वालजन वहाँ उपस्थित हैं: 'सखा सहित गये माखनचोरी'।

कृष्ण के व्यक्तित्व को नंदग्राम की सामंती सीमा से बाहर निकालकर, सूर कृष्ण को वृंदावन की खुली भूमि में ले आते हैं। यह सूर का विशिष्ट प्रदेय है कि जब सारा वातावरण अभिजन समाज के वर्चस्व से परिचालित था तब उन्होंने कृष्ण के व्यक्तित्व को नयी दीप्ति दी। राम का बाल्यकाल अयोध्या के रामभवन से जुड़ा है जबकि सूर के कृष्ण ग्वाल-बालों के बीच अपना जीवन बिताते हैं। गोचरण के प्रसंग में सूर कृष्ण में अतिरिक्त उत्साह दिखाते हैं। कृष्ण कहते हैं—'आजु मैं गाइ चरावन जैहों। वृन्दावन के भाँति-भाँति फल अपने कर में खैहों' अथवा 'वृंदावन देख्यो नंदनंदन अतिहि परम सुख पायो'। वृंदावन के प्रसंग केवल कृष्ण के बालचरित तक सीमित नहीं हैं, उनके जीवन के रसिक प्रसंग भी उससे गहरे रूप में जुड़े हैं। इसीलिए कृष्ण को वृंदावन से एक आत्मीय अनुराग है। इसका प्रमाण यह कि जब ऊधो गोकुल से मथुरा लौटते हैं तो कृष्ण कहते हैं:

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं
हंस-सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजनि की छाँही।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाही।

NMDC-065

ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचति गहि-गहि बाँही।

× × ×

जबहिं सुरसि आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।

सूर ने कृष्ण के जिस रसिक रूप को लिया है वह किसी भी रचनाकार के लिए परीक्षा का क्षण हो सकता है, विशेषतया मध्यकाल के जिस सामंती परिवेश में वे काव्य-रचना कर रहे थे। आचार्य शुक्ल जैसे समीक्षकों ने भी इस बात से असंतोष व्यक्त किया है कि सूर के कृष्ण में लोकरंजक का जैसा स्वरूप उभरा है वैसा लोकरक्षक का नहीं। इसके कई कारण हो सकते हैं। सूर कृष्ण की संपूर्ण गाथा उस प्रबंधात्मकता के साथ नहीं कहना चाहते जैसा तुलसी आदि ने अपने आराध्य को लेकर किया। गीतसृष्टि उनका माध्यम है जिसमें वर्णनात्मकता के लिए यों भी कम गुंजायश रहती है, यद्यपि आरंभिक स्कंधों में कई कथाएँ वर्णनात्मक ढंग से कही गयी हैं। उदाहरण के लिए चतुर्थ स्कंध के आरंभ में अवतारों की चर्चा: दत्तात्रेय, यज्ञपुरुष, ध्रुव, पृथु, पुरंजन आदि की कथा। सूर का संवेद सबसे अधिक उन प्रसंगों में रमता है जहाँ वे कृष्ण को किसी कर्म में गहरी संलग्नता के साथ उतारते हैं।

कृष्ण का राधा-गोपियों से मिलन जिसमें रासलीला-प्रसंग भी सम्मिलित है, एक प्रकार से चुनौती का क्षण है। यहाँ कृष्ण के व्यक्तित्व की परीक्षा तो होती ही है, सूर की रचनाशीलता की भी परीक्षा हो जाती है। सूर ने कृष्ण-गोपियों के संबंध को उनके निकट सहवास से जोड़ते हुए कहा है: **'लरिकाई को प्रेम कहो अलि छूटे कैसे'**। गोपिकाएँ कृष्ण के बाल रूप के प्रति मोह रखती हैं: **'निरखि रही ब्रज नारि इकटक अंग-अंग प्रति रूप'**। इसी का विकास क्रमशः सूरसागर में होता है और प्रेम निरंतर गाढ़ा होता जाता है। रासलीला-प्रसंग में गोपिकाएँ वैयक्तिक संबंधों का निषेध करती हैं: **'जब मोहन मुरली अधर धरी। गृह व्योहार तजे आरज पथ चलत न संक करी'**। अथवा **'मेटि कुल-कानि मरजाद, विधि वेद को त्यागि गृह-नेह सुनि बेनु धाईं'**। कुछ प्रसंगों का उपयोग करके सूर गोपिकाओं के आसक्ति-भाव को तोड़ते हैं। रासलीला के बीच कृष्ण सहसा अंतर्धान हो जाते हैं और गोपिकाएँ वियोग में डूब जाती हैं। **'व्याकुल भई घोष कुमारि'** और कृष्ण जब प्रगट होते हैं तो सूर कहते हैं: **बहुरि श्याम सुख रास कियो'**। अंतर्धान-प्रसंग के द्वारा, कवि कृष्ण की लीला का गान करते हुए, प्रकारांतर से उनके अनासक्त भाव को व्यंजित करना चाहता है। सूर ने स्वयं कहा है—**ब्रह्म कीट अरि कै स्वामी प्रभु हैं निर्लोभी निःकामी'**।

रासलीला की दार्शनिक-आध्यात्मिक व्यंजनाओं का आग्रह करके हम कई बार अनजाने ही यह प्रदर्शित करना चाहते हैं जैसे सूर से कोई भूल हो गयी हो। पर ऐसी कोई अनिवार्यता मुझे नहीं दिखायी देती। भागवत में रासलीला के विस्तृत प्रसंग हैं और प्रकृति के खुले रंगमंच पर उसकी

NMDC-065

योजना हुई है। भागवतकार यहाँ एक संवेदनशील कवि के रूप में विद्यमान हैं और दशम स्कंध में जो रासपंचाध्यायी उन्तीसवें अध्याय से आरंभ होती है, उसका समापन महारास में होता है। भागवतकार शरद की दूधिया चाँदनी में यमुना के किनारे प्रकृति की खुली भूमि में इसका आयोजन करता है: वह शरद की पूर्णिमा थी और चंद्रमा नये केशर के समान रक्तिम था। कोमल किरणों ने वनखंडी को अनुराग-रंजित कर दिया था। लगता था जैसे अमृत का समुद्र उमड़ा पड़ रहा है। कृष्ण की मुरली वशीकरण का मंत्र पढ़ती है। भागवतकार विस्तार से उस ग्राहस्थ्य जीवन की चर्चा करता है जिसे तिलांजलि देकर गोपिकाएँ कृष्ण के पास दौड़ी चली आती हैं, जैसे वे स्तनपान करते हुए शिशुओं की भी चिंता नहीं करतीं। पर सूर भागवत के समापन अंश की तरह स्थिति का आध्यात्मीकरण करने में इस प्रकार की बाध्यता अनुभव नहीं करते। निश्चय ही वे भागवतकार की अपेक्षा रासप्रसंग को अधिक सहज भूमि पर संचरित होने देते हैं। कृष्ण का मानवीकरण यहाँ नयी उदात्तता प्राप्त करता है।

भ्रमरगीत-प्रसंग की चर्चा करते हुए प्राय: हम उसे साकार-निराकार के वैचारिक द्वंद्व रूप में देखने के अभ्यस्त हैं, अथवा गोपियों के वियोगभाव के रूप में उसका विवेचन करते हैं। मेरा विचार है कि जिस रूप में गोपिकाएँ कृष्ण का स्मरण करती हैं, उस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। गोपियाँ कृष्ण के रसिक चित्र उरेहती हैं, अनेक प्रकार से उनका स्मरण करती हैं। प्रसंग के आरंभ में ही सूर स्थिति को गहराते हैं: 'निरखति अंक स्यामसुंदर के बार-बार लावति लें छाती/लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्यामूज की पाती'। भ्रमरगीत-प्रसंग में गोपिकाएँ निरंतर कृष्ण के रसिकरूप का स्मरण करती हैं, वही रूप उनकी चेतना पर छाया हुआ है : 'उर में माखनचोर गड़े'। कृष्ण पर गोपिकाओं की इतनी गहरी आस्था है कि उन्हें विश्वास नहीं होता कि ऊधो को उन्होंने भेजा होगा। यदि यह आत्मछल है तो भी इस प्रसंग को रूमानी दृष्टि से देखने के लिए उपयोगी है। प्राय: वल्लभ संप्रदाय की दार्शनिक धारणाओं के कारण हम सूर की रूमानी बनावट को देखने में संकोच करते हैं। पर मेरा विचार है कि मध्यकालीन रचना-संसार के संदर्भ में सूर का मौलिक प्रदेय यह कि भक्ति चेतना के माध्यम से उन्होंने रूमानी प्रसंगों को प्रस्तुत किया। जिस संलग्नता से गोपिकाएँ अपनी पीड़ा ऊधो के सामने रखती हैं, उसे देखकर कहा जा सकता है कि उनकी अभिव्यक्ति में कवि का भक्ति-संवेदन गहरे रूप में मौजूद है।

सूर की मानवीय संलग्नता यदि रसिकता अथवा वियोग तक सीमित होती तो उनके चरितनायक को पूर्णता नहीं मिल सकती थी। जैसाकि संकेत किया गया, कृष्ण के उन प्रसंगों को कवि ने विशेष मनोयोग से प्रस्तुत किया है, जिनमें उसकी रुचि है और इस दृष्टि से वह वस्तुन्मुखी कम, आत्मपरक अधिक है। पर सूर को इस बात का भी एहसास है कि यदि अपने नायक को पूर्ण

NMDC-065

मनुष्य की भूमिका में उतारना है तो केवल रसिक रेखाओं से काम नहीं चल सकता। बिना अतिरिक्त आरोपण का सहारा लिए हुए, सूर बताते चलते हैं कि यह सब कृष्ण की लीला है–जीवों के सुख के लिए। पर हमारा ध्यान उस ओर भी जाना चाहिए जहाँ कृष्ण के व्यक्तित्व को एक नयी सामाजिक सार्थकता दी गयी है। इनमें कुछ प्रसंग पौराणिक आख्यान के आधार पर वर्णनात्मक ढंग से कह दिए गए हैं और हमें स्वीकारना होगा कि काव्य-संपत्ति नहीं बन पाए हैं। पर ऐसे भी अवसर हैं जहाँ सूर कृष्ण के चरित्र को नयी अर्थ-दीप्ति देना चाहते हैं। एक ऐसा प्रसंग गोवर्धन-पूजा का है जिसके माध्यम से कवि कृष्ण के नायकत्व को सामाजिक मुक्तिदाता का रूप देना चाहता है। सूरसागर में इस प्रसंग को विस्तार मिला है जो कवि की सजगता का प्रमाण है। कृष्ण जोर देकर कहते हैं: 'जौ चाहौ ब्रज की कुसलाई तो गोवर्धन मानो अथवा 'छाँड़ि देहु सुरपति की पूजा/कान्ह कह्यो गिरि गोवर्धन तें और देव नहिं दूजा'। जलदेवता इंद्र अपमानित अनुभव करते हैं, उनके स्वार्थों को चुनौती दी गयी है और वे ब्रज को जलप्लावन में डुबो देना चाहते हैं। इस अवसर पर सूर अपने चरितनायक को नये सामाजिक दायित्व से भरते हैं–गोकुल-रक्षा के लिए कृष्ण उँगली पर गोवर्धन उठा लेते हैं और ब्रजमंडल के महारक्षक बनते हैं। इंद्र पराजित होते हैं और कृष्ण के व्यक्तित्व में, ब्रज की एक नयी आस्था पनपती है : 'घरनि-घरनि ब्रज होत बधाई/सात बरस को कुँवर कन्हैया गिरिवर धरि जीत्यों सुरराई'। सूरसागर में कृष्ण के जीवन के महाभारत-प्रसंगों का यदि अधिक उपयोग हो सकता तो निश्चय ही समीक्षकों को आक्षेप का अवसर ही नहीं मिलता।

मेरी विनम्र धारणा कि हर सार्थक कवि किसी-न-किसी रूप में अपने समय-समाज के देसी संदर्भों से जुड़ा होता है। इस दृष्टि से सूर में मध्यकालीन ब्रजमंडल का लोकजीवन कई तरह से झाँकता है। उस जनपद को जिस प्रकार की किसानी-चरागाही संस्कृति से जोड़कर देखा जाता है, उसके तमाम चित्र यहाँ उरेहे गये हैं। गोकुल, वृंदावन, यमुना, ग्वालबाल, गोधन, दधिमाखन सब उस दृश्य को प्रामाणिकता देते हैं, उसमें रंग भरते हैं। लगता है जैसे मध्यकालीन ब्रजमंडल अपने ढेरों संस्कारों के साथ यहाँ उपस्थित है। उसकी मोहक प्रकृति पृष्ठभूमि का कार्य करती है और ब्रज के लोकविश्वास, तीज-त्यौहार, टोना-टटका सब वहाँ प्रवेश कर जाते हैं। बिना विस्तार में आये कहा जा सकता है कि मध्यकालीन ब्रज संस्कृति की पहचान के लिए सूरसागर एक संदर्भकोष जैसा दिखायी देता है। कृष्ण जन्म के समय दाई कहती है: 'जसुदा नार न छेदन देहौं/मनिमय जटित हार ग्रीवा को, वहै आजु हों लेहों।' अथवा इसी के अगले पद में: झगरनि तें हों बहुत खिझाई/ कंचन-हारि दिऐं नहिं मानति तुहीं अनोखी दाई। सूरसागर में कवि ने बराबर ऐसे प्रसंगों का उपयोग किया है जिससे ब्रज के लोकजीवन का पता चलता है। पर इस जीवन-चित्रण की एक सीमा यह कि यहाँ जीवन के यथार्थ-भरे दृश्य क्रम हैं। एक प्रकार

NMDC-065

से सूर अपने समय-समाज पर रूमानी दृष्टि डालते हैं और मध्यकाल का भयावह यथार्थ उनमें कम प्रक्षेपित होता है। इस दृष्टि से तुलसी-कबीर अपने समय के यथार्थ को उजागर करने में अधिक रूचि लेते हैं। सूरसागर की शब्दराशि इस क्षति की पूर्ति करती है, क्योंकि सूर ने पूरा मुहावरा वहीं से प्राप्त किया है।

यह सूर का मानवीय सरोकार ही है जो सीमित जीवन-संसार के बावजूद, हमें कवि से जोड़े रहता है और हम बार-बार उनसे साक्षात्कार करने के लिए विवश होते हैं। सूर ने मध्यकालीन सामंती परिवेश के विलासी जीवन को लगभग नकारते हुए, भक्ति को उदात्त प्रवृत्तिमार्गी मोड़ दिया ताकि सामान्यजन उसमें सम्मिलित हो सकें और जाहिर है कि गहरी मानवीय संलग्नता से उन्होंने इस कार्य को पूरा किया। चरितनायक कृष्ण को जीवन की खुली भूमि पर लाकर, सूर ने उनके व्यक्तित्व को नये संदर्भ दिये, नयी अर्थदीप्ति दी, लोकजीवन के बीच उन्हें प्रस्तुत किया। किसी रचना की इससे बड़ी सामाजिकता और क्या हो सकती है?

रचनाशीलता के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण बिंदु होते हैं जिनसे कोई रचना अपने समय के प्रवाह से आगे बढ़कर, अधिक लंबी सार्थक यात्रा करती है। सूर मध्यकालीन परिवेश की उपज हैं पर उनके कृतित्व को कालजयी माना जाता है। उन्हें अलग-अलग कोण से देखने-समझने का प्रयत्न किया जाता रहा है। पर आखिर उनकी रचनाशीलता का वह कौन-सा सर्वाधिक जीवंत तत्त्व है जिसके बल-बूते पर वे किसी विशिष्ट समुदाय में चर्चित-भर होकर नहीं रह जाते, वरन अधिक बड़े समाज का संस्पर्श करते है? कई बार कह दिया जाता है कि भागवत सूर की प्रेरणाभूमि है, जो वक्तव्य लगभग समस्त मध्यकालीन भक्तिकाव्य के लिए भीं प्रयुक्त किया जा सकता है। भागवत के जो प्रसंग सूर को प्रिय हैं, उन्हें वे अतिरिक्त विस्तार देते हैं, उनकी चेतना उनमें अधिक रमती है।

सूर की सर्जनशीलता का एक मुख्य आयाम कृषक-चरवाहा अथवा किसानी-चरागाही संस्कृति है: बालवर्णन, माखनचोरी, ब्रज के रागरंग-भरे प्रसंग सब इसी के अंतर्गत आ जाते हैं। सचाई यह है कि मध्यकालीन भक्तिकाव्य के दो शिखरों में तुलसी कृषक जीवन के और सूर चरवाहा जीवन के सबसे सशक्त प्रवक्ता हैं। सूर ने मध्यकालीन परिवेश में किसानी-चरागाही संस्कृति को निश्चय ही निकट से देखा-जाना था और कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के माध्यम से रचना में उसे प्रक्षेपित किया। कृष्ण नगर संस्कृति के केंद्र मथुरा जाकर भी उस माधुर्य-भरे जीवन को भूल नहीं पाते:

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हँस-सुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाँही
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।

NMDC-065

राम-कृष्ण काव्य पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए प्राय: कह दिया जाता है कि एक में लोकरक्षक रूप उभरा है दूसरे में लोकरंजक। पुराणों में स्वयं कृष्ण के दो रूप स्वीकारे गए हैं: ऐश्वर्यमय तथा माधुर्यमय। एक ही कालखंड में उपस्थित विष्णु के ये दो अवतार क्या इतनी पृथक भूमियों पर यात्रा कर सकते हैं कि उनके मिलने का अवसर ही न हो? संभवतः नहीं। एक उत्तर तो यह कि राम का पौराणिक गाथा स्वरूप धनुषयज्ञ के आसपास से अधिक सक्रिय होता है और वनवास में पूरा खुल जाता है। कृष्ण में महाभारत के सूत्रधार अथवा गीता में कर्मयोग का प्रवक्ता-रूप पृष्ठभूमि में चला जाता है और बाल-रूप अथवा रसिक रूप अधिक उजागर होते हैं। इसीलिए उसमें राम जैसी लोकरक्षक संभावनाएँ जगा पाने में किंचित कठिनाई होती है। भागवत में भी रसिक प्रसंग अध्यात्मिक संकेतों के साथ प्रमुखता पाता है और कृष्णकाव्य उससे गहरे रूप में जुड़ता है। पर यदि व्यक्तित्व को पूर्णता देनी है तो कृष्ण के चरित्र को इतना एकांगी नहीं बनाया जा सकता कि उसमें सामाजिकता का वह लोकपक्ष ही गायब हो जाय जहाँ कोई अवतार समाज की रक्षा का भार ग्रहण करता है। आचार्य शुक्ल की टिप्पणी कि 'कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा कृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान की लोकधर्म स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया', इसे आंशिक सत्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए क्योंकि कृष्ण की सामाजिकता ग्वालजीवन से जुड़ने में भी है।

राम-कृष्ण के चरित्र में देवत्व की समान-भूमि है, पर उनके कथानक के विन्यास में पर्याप्त अंतर है जिसे पुराणों की कथाओं में भी उजागर किया गया है। यदि कृष्ण का महाभारत-गीतारूप हिंदी भक्तिकाव्य में प्रमुखता पा सकता तो दोनों अवतारों की चारित्रिक दूरियाँ काफी कम हो सकती थीं और समीक्षकों को भी अधिक शिकायत का अवसर न मिलता। जहाँ तक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रश्न है, कृष्णकाव्य को सामान्य जनजीवन से जोड़कर देखना चाहिए। कृष्ण की लीलाभूमि ब्रजमंडल है और जिन गोपों-अहीरों से उनका घनिष्ठ संबंध है, वे किसानी-चरागाही संस्कृति के प्रतिनिधि है। विद्वानों का क्विार है कि अन्य आधारों एवं गोवर्धन कथा में अंतर्निहित तथ्यों से कृष्ण का गोप देवता होना ही सिद्ध नहीं होता, वरन उनकी प्राचीनता तथा ब्राह्मण धर्म के विरोध में एक विशेष तत्त्व लाने की स्थापना भी सिद्ध होती है। आभीरों यादवों के उपास्य रूप में कृष्ण सहज ही किसान-चरवाहों के जीवन से जुड़ जाते हैं और मुख्यतया यह संस्कृति कृष्णकाव्य में प्रमुखता प्राप्त करती है। यहाँ कह देना आवश्यक है कि कृष्ण के माधुर्य-भरे व्यक्तित्व में उनका देवत्व उपस्थित है और कवि अनेक प्रकार से उनकी अलौकिकता की सूचना देते हैं। सूर के अतिरिक्त नंददास भी उनके अवतारी रूप पर दृष्टि रखते हैं। कृष्ण-जन्म के अवसर पर : पुहुप वृष्टि सुरपति करें, बोलें जै जैकार। परमानंददास ने गोवर्धन-लीला का उपयोग कई पदों में किया है जिसमें ब्रजजन को आश्चर्य है कि : पर्वत लियो उठाय अंक लै सात बरस को बारो। अगले पद में उनके अलौकिक कर्मों की चर्चा है : सकट तोड़ना,

NMDC-065

पूतना-तृणावर्तवध, कालियादमन आदि। एक लंबे पद की लगभग एक सौ इक्यासी पंक्तियों में गोवर्धन-लीला का विस्तृत वर्णन है। कृष्ण के हाथों इंद्र की पराजय अवतारी कल्पना में एक नए मोड़ की सूचना तो देती ही है, वह धरती-पूजन की कृषि-परंपरा की दृष्टि से भी विचारणीय है।

राम नगर-ग्राम की मिली-जुली भूमि पर प्रतिष्ठित है, जबकि महाभारत का रूप गौण हो जाने के कारण भक्तिकालीन कृष्ण मूलत: ग्राम जीवन से जुड़ते हैं और कृष्ण काव्य ने इस सिलसिले में ब्रजभूमि का पूरा उपयोग किया। नंददास और रसखान ब्रजमहिमा का बखान करते हुए कहते हैं :

1. नंद गाउँ नीकी लागत री।
   प्रात समै दधि मथन ग्वालिनी विपुल मधुर धुनि गाजत री
   धन गोपी, धन ग्वाल संग ब्रज के जिनके मोह न डर लागत री

2. मानुष हों तो वहै रसखानि बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन
   जो पसु हों तो कहा बस मेरो चरों नित नंद की धेनु मँझारन
   पाहन हों तो वही गिरि को जो घरयो कर छत्र पुरंदर धारन
   जो खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब कीडारन।

कृष्ण कवियों ने ब्रज के लोकजीवन को कृष्ण के माध्यम से व्यक्त किया है और सूर उसका सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें जो ब्रजमंडल प्रतिबिंबित है, वह केवल निरपेक्ष प्रकृति-वर्णन के रूप में नहीं है, वह मूलत: किसानी-चरागाही संस्कृति से जुड़ा है। ब्रज में इसकी मिली-जुली स्थिति रही है : धरती के टुकड़ों पर जीने वाले किसान जो मध्यकालीन सामंतवाद का बोझ ढोते हैं और गोधन उनका अवलंब; इसीलिए मधुबन, ग्वालबाल, दधिमाखन के असंख्य चित्र। माखन-लीला केवल दार्शनिक अनुबध नहीं है, मध्यकालीन ब्रजभूमि की उपज भी है जहाँ कृषक-चरवाहा संस्कृति की प्रधानता थी। सांस्कृतिक अध्ययन के लिए यह उपयोगी तथ्य है अन्यथा कृष्णकवि भक्ति-अध्यात्म से बाहर नहीं लाए जा सकेंगे। सूर जैसे जागरूक कवि मानवीय-सामाजिक आशय से संबद्ध हैं और उन्होंने ब्रजभूमि के माध्यम से किसानी-चरागाही संस्कृति को उजागर करना चाहा है। एंगेल्स ने जर्मनी में किसान युद्ध की भूमिका पर विचार करते हुए लिखा है कि छोटे-छोटे खेतों को जोतते-बोते किसान रेहन के बोझ से दबे रहते हैं और जहाँ भी मँझोली और बड़ी जागीरों का बोलबाला है, वहाँ गाँवों में खेतिहर मजदूर वर्ग ही सबसे बहुसंख्यक वर्ग है।

NMDC-065

मध्यकालीन ब्रज संस्कृति के दो पक्ष हो सकते हैं – नगर सभ्यता जिसका प्रतिनिधित्व मथुरा करती है और जिसे गोपियाँ अपनी त्रासदी पीड़ा से जोड़ती हैं। ऊधो से कहती हैं : मथुरा काजल को कोठरी है, जो आता है वही छली कपटी। गोपियाँ मथुरा की नागरिकाओं को कोसती हैं, कुब्जा पर व्यंग्य करती हैं, ऊधो से कहती हैं : हमें तो कृष्ण की सरसगाथा सुनाओ – हम भोली-भाली ग्वालिनें और निराकार की चर्चा मथुरा ले जाकर करो, जहाँ ब्रज की चतुर नगरनारियाँ इसे ग्रहण कर सकेंगी। सूर की रचनाओं में जो ब्रजमंडल उपस्थित है वह ग्रामजन, कृषक समाज और चरवाहों की जिंदगी का समाज है – सीधा-सादा, सरल-निश्छल। इतना अवश्य है कि सूर की भक्ति चेतना और रसात्मक दृष्टि प्राय: भावुक दृश्य उभारती है और उनकी संघर्षगाथा यहाँ कम आ पाती है। पर सूर की सर्जनशीलता यह कि ब्रजमंडल का लगभग समूचा सांस्कृतिक जगत अपने संस्कारों, त्यौहारों, जीवनचर्या की कुछ झाँकियों और शब्दावली के साथ यहाँ प्रवेश कर जाता है।

सूर कृष्णजन्म के साथ ही विभिन्न संस्कारों का वर्णन करते हैं, जो कि लोकजीवन में प्रचलित थे। राजा नंद के घर बेटा हुआ है तो सारी प्रजा उसमें सम्मिलित है। दान-दक्षिणा आरंभ हो जाती है – एक रंगभरा माहौल। दाई को कंचनहार दिया गया है, फिर भी वह पूर्ण संतुष्ट नहीं और नारछेदन में विलंब। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कनछेदन, कलेवा आदि के प्रसंगों को सूर ने लिया है क्योंकि गरीबी के बावजूद, वे सामान्यजन के जीवन में समाए हुए थे और फिर यहाँ जो राजा के बेटे का जन्म हुआ है। उन प्रसंगों को सूर ने केवल वर्णनात्मक ढंग से कह-भर नहीं दिया है वरन उन्हें उत्सव के रूप में देखा है, उनमें रस उपजाया है। ज्योतिषिजी कृष्णजन्म सुनकर उपस्थित हैं और सारी गणना के बाद कुंडली तैयार करते हैं जिसमें मध्यकालीन हिंदू संस्कारों तथा नियतिवादी आस्था का आभास मिलता है। सूर ने इसलिए कृष्णगाथा में जनता के लोकविश्वासों को प्रश्रय दिया है, यद्यपि एक बार कृष्ण का देवत्व स्वीकार लेने पर उनकी स्थिति गौण हो जाती है। मांगलिक अवसरों पर बंदनवार बाँधना, चौक पूरना, मांगलिक कलश, वेदध्वनि, मुहूर्त, लग्न आदि की चर्चा है। कई बार दृश्य प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे बधाई में सिर पर दूब धरि, बैठे नंद सभसधि द्विजनि को गाइ दीनी बहुत मँगाइके। कनक को माट लाह हरद दही मिलाई छिरकैं परस्पर छल-बल घाइ के।

ब्रज के उत्सव को सामाजिकता प्रदान करना सूर के काव्य को जनसामान्य से जोड़ता है। प्राय: वसन्त-होली आदि के आध्यात्मिक अर्थ खोजकर प्रसंग का सरलीकरण कर दिया जाता है, पर कवि जिस ग्वाल समाज को केंद्र में रखकर काव्यरचना कर रहा है, उसके मुझलिस जीवन में ये उत्सव आमोद-प्रमोद के इने गिने रंगभरे क्षण हैं। यहाँ एक पल के लिए ही सही, वह अपने अभावों की दुनिया से मुक्त हो जाता है

NMDC-065

वृंदावन खेलत हरि होरी
बाजत ताल मृदंगा झाँझ डफ नंदलला वृषभानु-किसोरी
हों अपने गृह तें निकसी सखि सास की त्रास, ननद की चोरी।

ब्रज भूमि में दधिकाधों का विशेष महत्व है जो सीधे ही ग्वाल संस्कृति से जुड़ा हुआ है – दही-हल्दी मिलाकर अतिथियों का स्वागत। गोवर्धन पूजा भी ब्रजमंडल का स्थानीय उत्सव है, जिसे सूर ने विस्तार दिया है। उसे एक सौ से अधिक पद दिये हैं क्योंकि वे इसके माध्यम से कृष्ण का लोकरक्षक रूप भी उभारना चाहते हैं। इसे इंद्र के प्रति विद्रोह के रूप में भी देखा जा सकता है। भागवत के दशम स्कंध में अध्याय 24-25 में गोवर्धन-लीला-प्रसंग है और इसी के अनंतर अध्याय 28 से रामपंचाध्यायी का प्रारंभ। सूरसागर में सूर ने गोवर्धन-प्रसंग को अतिरिक्त विस्तार दिया है। यहाँ हम कृष्ण के व्यक्तित्व को एक नयी दीप्ति से मंडित पाते हैं। कृष्ण ग्वालजन से कहते हैं : इंद्र के स्थान पर गोवर्धन को पूजो, पृथ्वी के देवता को पूजो, आकाशदेव को नहीं : इंद्र का पूजन मिट जाता है। इस चुनौती की प्रतिक्रिया है : इंद्र का क्रोध, भयंकर जलप्लावन और फिर वही गोवर्धन गोकुल की रक्षा करता है। कृष्ण ने यदि इंद्र को ललकारा है तो उनमें यह सामर्थ्य भी कि वे प्रलय-वर्षा में गोकुल के रक्षक बनते हैं। यहीं वे ग्वालजन के यशस्वी नायक बनते हैं। सूर इस माध्यम से जड़ परंपराओं को चुनौती देते हैं और लोकरंजक कृष्ण का व्यक्तित्व उभरता है। घरनि घरति ब्रज होत बधाई। सात बरस को कुँवर कन्हैया गिरिवर धरि जीत्सो सुरराई .....।

सूर में फाग के दृश्यों की बहुलता है और उनको इतना व्यापक रूप मिला कि रामकाव्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इसी क्रम में झूलन-वसंतलीला आदि के शृंगारी दृश्य भी हैं। सावन के दिनों में झूले डालकर झूलना ब्रज की लोकप्रिय दृश्यावलि है और इसी परंपरा-पालन के लिए कृष्ण को पालने पर झुलाया तक जाता है। हिंडोले के अनेक पदों में सूरन नें माधुर्य-भरे दृश्य उभारे हैं जमुना पुलिन रच्यौ हिंडोर, झूलत स्याय स्यामा संग बसंत में ब्रज की प्रकृति एक नया सौंदर्य पा जाती है, कोकिल के मीठे शब्द, मानों कामदेव जागा है। ऐसे माहौल में रसिकेश्वर कृष्ण ही नहीं, सभी बसंतमय हो जाते हैं और इस पीठिका पर तैरता हुआ फागुन तो जैसे सबको पागल कर जात है। सूर ने इसे सार्वजनिक रूप दिया है। सभी उसमें सम्मिलित हैं : हरिसंग खेलति हैं सब फाग। कवि ने फाग की रचना करते हुए लोकगीतों का भरपूर उपयेाग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वह लोकजीवन में कितना गहरे उतरा हुआ है। सूरसागर के पद इस दृष्टि से लोकगीतों का अनुसरण करते हैं, यद्यपि उसे काव्यरूप दे देते हैं। सौ से अधिक पदों में सूर ने झूलन, वसन्त, होली का वातावरण प्रस्तुत किया है। इसमें संगीत, नृत्य, आनंद, उल्लास, रंग, अबीर, गुलाल आदि का रंग-जगत है और इसमें सब सम्मिलित हैं :

NMDC-065

खेलत फागु कुँवर गिरिधारी
अग्रज, अनुज, सुबाहु, श्रीदामा, ग्वाल बाल सब सखाऽनुसारी।
इत नागरि निकसी घर-घर तें दै आगें वृषभानु दुलारी।
नव सत सजि ब्रजराज द्वार मिलि प्रफुलित वदन भीर भई भारी।

प्राय: संस्कृति के निर्माण में अभिजात वर्ग को प्रमुखता दी जाती है। पर भारतीय जीवन में कृषक समाज की बहुलता और संस्कृति की पुनर्रचना में उसकी भूमिका को नहीं भुलाना चाहिए। सूर में कृषक समाज विशेषतया ग्वालजन की मुख्य भूमिका है और वे कृष्णागाथा के अनिवार्य उपादान हैं। क्षत्रियवंशी कृष्ण गोकुल पहुँचकर उस कृषक-समाज तथा ग्वाल-जीवन में समरस हो जाते हैं। राधा के प्रसंग में विद्वान यह भी अनुमान करते हैं कि संभव है कि यायावर आभीरों की जाति में वे इष्टदेवी रही हों। ब्रजमंडल में यदुवंशी समाज की मुख्य भूमिका रही है। पशुपालन पर आश्रित यह ग्वालमंडल कृषक-समाज का एक अंग है और सूर ने अपने काव्य में इसे निष्ठा से व्यक्त किया हैं। शोधकर्ताओं ने कृष्ण काव्य की संपूर्ण शब्दसूची देकर सांस्कृतिक दृश्य स्पष्ट किये हैं।

सूर कृष्ण के लोकरंजक रूप को अधिक प्रकाशित करते हैं, इसलिए संक्षेप में उनका जन्म दिखाकर उन्हें गोकुल पहुँचा देते हैं तथा यहाँ लगभग आरंभ से ही वे कृषक-चरवाहा समाज के बीच लीलारत हैं। नन्द यादवों के राजा हैं, इसलिए कृष्णजन्म के समय सारा ग्वालमंडल आनंदमग्न हो जाता है। घोषणा कर दी जाती है :

आज बन कोउ वे जनि जाइ
सब गाइन बछरनि समेय, लै आनहु चित्र बनाइ
ढोटा है रे भयो महर कें कहत सुनाइ सुनाइ
सबहि घोष में भयो कुलाहल आनंद उर न समाइ।

सूरसागर में ग्वालबाल, गोपिकाएँ-गौएँ, वृन्दावन-चरायाह, दूध-दधि-माखन कृषि-चरागाही को उजागर करते हैं और प्राय: भक्ति-अध्यात्म की चर्चा में सामान्यजन के इस परिवेश को भुला दिया जाता है। माना, कृष्ण में देवत्व है, पर वे सामान्यजन के बीच सहज भाव से बिहार करते हैं – समरस होकर अपना पार्थक्य खो देते हैं। और यदि वे देवत्व-मंडित न होते तो भी जननायक रूप में उनका यह प्रजातांत्रिक व्यवहार वंदनीय है। माखनचोरी, रासक्रीड़ा आदि के प्रसंग में कृष्ण का जो जनतांत्रिक रूप उभरता है, उसे नहीं भूलना चाहिए। दार्शनिक मंतव्यों से भी अधिक सांस्कृतिक तथ्य इसमें सन्निहित हैं और इस दृष्टि से कृष्ण की लीलाएँ लोकजीवन से विच्छिन्न नहीं हैं और उनका आशय उदात्त है।

NMDC-065

ग्वाल-बाल गोपियों के अनेक दृश्य उभारकर और कृष्णगाथा का मुख्य पात्र बनाकर सूर ने गौओं को भी उनका एक अभिन्न अंग बनाया है। वृंदावन का गोचारण सूरसागर का एक प्रिय प्रसंग है। कृष्ण उत्साहित हैं कि गाय चराने जाऊँगा : वृंदावन के भाँति-भाँति फल अपने कर में खैहों। किसान अथव चरवाहे की जिंदगी कि ग्वालिन भोजन लाई है और सान-सानकर दधिभात खाया जा रहा है। अपनी गायों के प्रति कृष्ण की अपार ममता है वे कहते हैं : मैं अपनी सब गाय चरैहों। सूर गायों को सचेतन कर देते हैं, मुरली का शब्द सुनते ही वे दौड़ी चली आती हैं और गायें भी अनेक प्रकार की; धौरी-धूमरि, राती, राँछी, चिन्हौरी, पियरी, भौरी, गोरी, गैनी, खैरी, कंजरी आदि। कृष्ण ग्वालजन के बीच किसान-चरवाहे का रूप धारण करते हैं: कान्ह काँधे कामरिया कारी लकुट लिए कर घेरे हो। कृषक-चरवाहा जीवन चित्रित करते हुए सूर ने उनके जीवन-दृश्य उभारकर, उसे अधिकाधिक, प्रामाणिक बनाना चाहा है और शब्दावली तो लगभग वहीं से प्राप्त कर ली है। कृषक-जीवन का उपयोग एक प्रार्थना पद में है:

प्रभु जू, यौं कीन्ही हम खेती
बंजरभूमि, गाउँ हर जोत, अरु जेती की तेती।
काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज-तामस सब कीन्ही
अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे, माया जूआ दीन्हीं।
इंद्रिय-मूल-किसान, महातृन-अग्रज-बीज बई
जन्म-जन्म की विषय-वासना उपजत लता नई।

इस पद में अधिकारी, जमानत, पटवारी, कटाई, लुनाई, वर्षा आदि का भी उपयोग हुआ है जिससे कृषक-सामाज उजागर होता है। वास्तव में सूर अथवा भक्तिकालीन अन्य प्रमुख कृष्णभक्त कवियों का मुख्य आधार कृषक-चरवाहा समाज है जिसकी अभिव्यक्ति किंचित रूमानी ढंग से हुई है। हम स्वीकारते हैं कि ब्रजमंडल अपने यथार्थ में यहाँ हम उपस्थित है क्योंकि कृष्ण का रसात्मक रूप इसका अधिक अवसर नहीं देता। शोधकर्ताओं ने कृष्णकाव्य से शब्द संकलित करके उनके वर्गीकरण के द्वारा ब्रज संस्कृति के विभिन्न उपादानों की चर्चा की है, जिससे संकेत मिलता है कि कवियों की जड़ें अपनी भूमि में कितनी गहराई तक गई हैं। अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त वल्लभ, चैतन्य, निंबाक, हरिदासी, राधावल्लभीय समुदाय के अन्य कवियों की रचनाएँ कृष्ण के रसिक रूप को उभारती हैं।

सूर ने कृषक-चरवाहा संस्कृति को कृष्ण-लीला के माध्यम से व्यक्त करते हुए सामान्यजन के संवेदनों को अपनी चेतना के निकट रखा है। ब्रज के असंख्य तीज-त्योहार, आचार-व्यवहार, उसमें ऐसे बस-खप गए हैं कि लगता है संवदेनशील कवि ने एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश ही

NMDC-065

अपनी रचनाशीलता में विलयित कर लिया है। सूर का शब्दजगत, प्रतीक-संसार, बिंब-विधान सब उसी संस्कृति का बोध कराते हैं जो विभिन्न रूपों में प्रक्षेपित होती है। मथुरा का नगर-जीवन इस दृष्टि से एक विपर्यय जैसा प्रतीत होता है। स्वयं कृष्ण भी उस राजसी जीवन से संतुष्ट नहीं हैं और कहते हैं:

सुनि सतभामा सौंह तिहारी.
जब-जब मोंहि घोष सुधि आवत, नैननि बहन पनारी।
वे जमुना वे सखा हमारे, नित नव केलि बिहारी
वृन्दावन की गुल्मलता हैं, मन मधुकर की प्यारी।
वीथी वृच्छ गोप के मंदिर, उपमा कहौं कहाँ री
मानौ अधर सरोवर बासे, जसुदा-सी महतारी।
माखन खान फेनु दुहि पीवन, ओदन सुपति बिहारी
सूरदास प्रभु उनहिं मिले तें, मैं सुरपुरी बिसरी।

सूर की रचनाशीलता का मुख्य बिंदु कृषक-चरवाहा संस्कृति से प्रेरणा पाता है और यह उनके कृतित्व को ऐसी सामाजिकता देता है जिससे वे एक कालजयी कवि हैं।

NMDC-065

11. सूर की प्रतीक योजना

नंद दुलारे वाजपेयी

कुछ दार्शनिक पण्डित और आलोचक सूर तथा अन्य भक्त कवियों के प्रत्येक वर्णन का लाक्षणिक अर्थ मानते हैं और तदनुकूल उसका रस भी लेते है। कृष्ण की बाल-लीला के पदों में भी संकेत द्वारा दूसरे अर्थ लग सकते हैं या नहीं, यदि लग सकते हैं तो काव्य-समीक्षा में उन पदों का रूप प्रतिष्ठित होता है—ये सब प्रश्न विद्वानों के सम्मुख आते हैं; पर सबसे प्रथम प्रश्न तो यह आता है कि सूर का आशय उन पदों में लाक्षणिक रहा है या वह लाक्षणिक नहीं रहा—हम ही उसमें लाक्षणिकता का आरोप करते हैं।

"जब मोहन कर गही मथानी" आदि पदों से आभासित होता है कि सूर का आशय दूसरे अर्थों में लग सकता है। यों तो बाल-लीला के अनेक पदों में कवि अलौकिकता का संकेत करके यह आभास देता है कि वह कृष्ण के अवतार-स्वरूप का विस्मरण नहीं करता, न हमें कराना चाहता है। परन्तु उन पदों में मुख्य वर्णन बालक कृष्ण का है, केवल पदों की अन्तिम पंक्तियों में सूर ने 'प्रभु', 'स्वामी' आदि श्रद्धासूचक विशेषणों का प्रयोग किया है, जिन्हें छोड़ देने से भी काव्य का रूप विकृत नहीं होता। पर इस पद पर पहुँचकर यह बात बदल जाती है। जब कृष्ण अपने हाथ में मथानी लेते हैं तब नेती और दधि-पात्र का स्पर्श होते ही नागराज भी भयभीत हो उठते हैं। क्या इसे कोई बाल-लीला कह सकता है? यह कृष्ण की बाल-लीला तो समुद्र-मन्थन तथा कल्पान्त के प्रलय का-सा दृश्य दिखा रही है। तो क्या यह वही आशय नहीं रखती? ऐसे ही एक अन्य अवसर पर सूरदास बाल-कृष्ण को मुँह में अँगूठा डालते चिन्तित कर साथ ही साथ सारी सृष्टि को प्रकम्पित कर देते हैं। ऐसे वर्णनों में बाल-लीला की झलक तो कम, दूसरे ही अलौकिक आशय का आभास अधिक मिलता है। इस प्रकार के अलौकिक आशयों के आधार पर उक्त विद्वान आलोचक सभी प्रसंगों का लक्षणों द्वारा दूसरा अर्थ लगाते हैं और काव्य के भीतर ईश्वर, जीव और जगत के दार्शनिक रूप को प्रत्यक्ष करते हैं। जो पंडित ऐसा करना चाहें कोई निषेध नहीं कर सकता। सूर के काव्य में भी इस बात के प्रमाण हैं कि कवि तो थे ही, भगवत धर्म के मर्मज्ञ भी थे। उनका बुद्धि-वैभव इतना बढ़ा-चढ़ा अवश्य था कि वे कृष्ण-चरित्र के भीतर व्यापक ब्रह्म का निर्देश भी कर सकते थे। भक्तजन तथा दार्शनिक दोनों को ऐसे निर्वचन रमणीय लगते हैं। फिर यदि उस निर्वचन को काव्य के आवरण में प्रस्तुत किया जाय तो सोने में सुगन्धि ही है। देखना यह है कि काव्य के आवरण में ऐसे संकेत-अर्थ किस शैली से लाए जा सकते हैं।

आचार्य पं. आनंदशंकर ध्रुव ने श्रीकृष्ण के होली खेलने के सम्बन्ध का एक पद किसी सन्त से लेकर उद्धृत किया है:

NMDC-065

"एक समय श्रीकृष्ण देव के होरी खेलन मन भाई
कृष्ण ने कैसी होरी मचाई अचरज लखियो न जाई
असत सत कर दिखलाई कृष्ण ने कैसी होरी मचाई।"

वे इस पद पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "हमें तो जगत में सर्वज्ञ परमात्मा की ही होली मची हुई मालूम पड़ती है।" वह इस होली में स्वयं पूर्ण रस से रमण करता हैं और जीवों को रमण कराता है, इस होली की अद्‌भुतता का वर्णन नहीं किया जा सकता। विज्ञान का प्रत्येक प्रयत्न भगवान की लीला के आश्चर्य को अधिकाधिक गम्भीर और उद्दीप्त कर रहा है। कवि ने यथार्थ लिखा है : "अचरज लखियों न जाई"।

परन्तु जिस कवि का यह पद है वह काव्य-भूमि को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चला गया है। 'अचरज लखियों न जाई' तक तो सुन्दर काव्य है, पर इसके आगे 'सत असत कर दिखलाई' और पंचभूत की धातु मिलाकर 'अंड पिचकारी बनाई' आदि साम्प्रदायिक उपमाओं में फँसकर उसने काव्यत्व का तिरस्कार कर दिया है। कवि सूरदास ऐसा नहीं करते। वे कविता के रहस्य को समझते थे। उनके पद काव्य-गुण-पूर्ण है। बाल-लीला का वर्णन करते हुए सूर ने स्थान-स्थान पर प्रेम-विह्वल होकर कृष्ण के लिए 'सूर के प्रभु' 'स्वामी की लीला' आदि जो प्रयोग किये हैं, उनसे तो भगवान के प्रति उनकी अपरिमित प्रीति की ही व्यंजना होती है।

सूर ने कृष्ण के होली खेलने, वंशी बजाने, रास आदि का ललित वर्णन किया है, जिसमें विद्वानों को लाक्षणिक अर्थ की झलक भी मिलती है, पर सूर ने उस लक्ष्य को स्थूल नाम देकर अपना काव्य-चमत्कार नष्ट नहीं किया है। उनकी रचना-चातुरी ऐसी है कि काव्य-रसिक अपना कविता-रस लेते हैं और विद्वज्जन कविता के अन्तर्पट में रुचिर दार्शनिक तथ्यों का साक्षात्कार भी करते हैं। वर्णन के प्रवाह में सूर ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक चमत्कार का परिचय देनेवाले पद रख दिये हैं, जिनसे काव्यधारा का मज्जन-सुख ही नहीं, दर्शन-सुख भी प्राप्त कर सकें। सूर की यह लाक्षणिक शैली ऐसी उच्च कोटि की है कि कविता और दर्शन की धाराएँ सूरसागर में समानान्तर होकर बहती हैं, कोई विक्षेप नहीं पड़ता। जैसे अंतःसलिला सरस्वती गंगा और यमुना के बीच हों, ऐसा ही सूर की कविता-सरिता के उभय उपकूलों के बीच उनका लाक्षणिक अर्थ है।

कविवर जायसी का 'पद्मावत' काव्य भी लाक्षणिक आशय रखता है, जिसे पद्मावत के समीक्षक आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल लाक्षणिक न कहकर 'अप्रस्तुत' कहते हैं। परन्तु शुक्लजी ने उस अप्रस्तुत अर्थ को उचित महत्त्व नहीं दिया। कथानक-काव्य होने के कारण शुक्लजी को उसका अप्रस्तुत अर्थ प्रक्षिप्त-सा मानना पड़ा है, परन्तु सूर को कविता में उस तरह की कोई कठिनाई

NMDC-065

नहीं आती। कथानक-काव्य भी पूरे-के-पूरे प्रतीकात्मक होते हैं—अन्योक्ति कहला सकते हैं—जैसे अंग्रेजी की प्रसिद्ध हास्य पुस्तक 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' हास्य रस की प्राय: सभी रचनाएँ—जिनमें लम्बे-लम्बे कथानकों वाली भी अनेक हैं—लाक्षणिक अर्थ खुलने पर ही अधिक आनन्द देती हैं। बंगाली हास्य-लेखक परशुराम की अनेक कहानियाँ पूरी प्रतीकात्मक हैं। शुक्लजी को पद्मावत के 'अप्रस्तुत' अर्थ को एकदम 'समास' कर देने की आवश्यकता क्यों पड़ी, यह हम नहीं कह सकते पर हम सूरसागर के लिए कह सकते हैं कि यहाँ वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है; जिसे जो लक्ष्यार्थ मिलेगा—पण्डितों को बहुत-से मिलेंगे—वे स्वच्छंद रूप से उसका उपयोग करेंगे। 'सूर सगुण पद गावै' की आरम्भिक प्रतिज्ञा से यह स्पष्ट है और अन्य पदों को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि कृष्ण की सभी लीलाओं में अरूप को ही रूप तथा निराकार, निर्विषय, निरामय ब्रह्म को ही भिन्न-भिन्न आधार-आशय प्राप्त हुए हैं। निश्चयपूर्वक यह कोई नहीं कह सकता कि इसका यही विशेष आशय है। 'हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता' की उक्ति सत्य ही है। साम्प्रदायिक मतवाद से अलग रहते हुए भी विज्ञजन अपना-अपना लक्ष्यार्थ इन पदों में प्राप्त कर सकते हैं।

चोली-बन्द तोड़ना—'भाजि गयो मेरे भाजन फोरि' आदि पदों पर विचार करते हुए कई प्रकार के प्रश्न उठते हैं। क्या कृष्ण का चोली-बन्द तोड़ना उचित है? इस चोली-बन्द तोड़ने में उसका कौन-सा भाव लक्षित होता है। इसको 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' के अनुसार कृष्ण का अलौकिक कृत्य मानने में क्या आक्षेप है? कृष्ण का आदर्श मानकर उनका अनुकरण करने वालों के लिए उनका यह कार्य क्या अर्थ रखता है? अथवा यहाँ कृष्ण के चोली-बंद तोड़ने का कुछ और ही अर्थ माना जाय।

इन प्रश्नों को लेकर काफी समय से विवाद हो रहे हैं। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, यह चोली-बन्द तोड़ने का प्रसंग प्रकृत भावात्मक है। कवि सूर की यह प्रतिपत्ति प्रशंसनीय है कि उन्होंने अपने वर्ण्य विषय के लिए काव्य की परिधि का उल्लंघन नहीं किया, प्रत्युत उस परिधि का विस्तार ही किया है। बहुत-से पहुँचे हुए सन्तों की शुष्क वाणी से सूर की यह सरस धारा कितनी कमनीय है, यह साहित्य के विद्यार्थी समझ सकते हैं। सारी विषय-वासना को भस्मान्त करने के बाद कवि ने चोली-बन्द तोड़ने के इस प्रसंग में क्या रस पाया, यह सहृदयों के अनुमान करने की वस्तु है।

नैतिकता और आदर्श-संबंधी विचार के लिए भी यहाँ अवकाश है। सगुण ब्रह्म के चरित्र का अनुकरण नहीं किया जा सकता। सूर ने यह प्रतिज्ञा नहीं की कि वह कृष्ण-चरित्र का गान इसलिए कर रहे हैं कि लोग उनका अनुकरण करें। उनकी प्रतिज्ञा तो केवल यह है कि निर्गुण ब्रह्म के पीछे निरवलम्ब न दौड़कर वे सगुण पद-गान कर रहे हैं।

NMDC-065

जो लोग सूर के कृष्ण का अनुकरण करना चाहें वे पहले उसके स्वरूप को समझ लें। स्वयं परब्रह्म ने यह परमानन्द-स्वरूप धारण किया है। लौकिक आचरण का आदर्श यह नहीं हैं, क्योंकि कृष्ण के जन्म-कर्म दिव्य हैं, उनका आचरण अलौकिक है। जीव के रूप में अवतरित होकर परमात्मा माया के बन्धन में पड़ते हैं, पर कृष्ण के रूप में अवतरित होकर वे मायापति हैं और भक्त-जनों को माया से मुक्त करते हैं। हम यदि कृष्ण पर किन्हीं कर्मों का आरोप करके फिर उनके अनुकरण का अनुष्ठान करते हैं, तो हम एक पर्दे पर दूसरा पर्दा डालकर वास्तविक दृश्य को देखने का-सा प्रयास करते हैं।

सांख्य में इस पर्दे के बदले एक आइने का रूपक है, जिस पर पड़कर पुरूष का अक्स बदल जाता है। पुरूष तो वही है, पर आइने से उसका रंग दूसरा हो गया। सोचने की बात है, एक आइने के बदले यदि दो-दो आइने रख दिये जाएं, तो क्या इससे स्वच्छ पुरूष की वास्तविक कान्ति प्रकट होगी? फिर हम भगवान के रूप को अपनी बुद्धि, आदर्श, आचरण आदि के आइनों से देखना चाहते हैं, तो क्यों न और भी विकृत रूप हमें देख पड़े !

एक प्रश्न, जो अब भी शेष रह जाता है, यह है कि भगवान के जन्म-कर्म तो दिव्य थे, किन्तु सूर को इसकी क्या आवश्यकता थी कि वे यह चोली-बन्द तोड़ने की ही कथा लेकर उस दिव्य जन्म-कर्म को दिखाते? इसका एक उत्तर तो यही है कि सूर श्रेष्ठ कवि थे और अपनी काव्य-सामग्री के उपयुक्त उन्हें यह दृश्य दिखाना अभीष्ट था। दूसरी बात यह है कि जिस स्तर से सूर का काव्य-स्राव हुआ है उस पर पहुँचकर देखने से इसमें अनौचित्य की कल्पना नहीं की जा सकेगी। फिर कृष्ण की इस लोक-लीला का सांगोपांग वर्णन—जो काव्य की प्रकृत भूमिका के लिए आवश्यक है—कैसे होता यदि माखन-चोरी के उपरान्त गोपिका-समाज की ललित लीलाएँ न दिखायी जातीं।

इतने पर भी यदि कुछ लोग ऐसे हों जो अपनी दृष्टि को ही सूर की दृष्टि बना लें और चोली-बन्द तोड़ने की क्रिया में दोष देखने लगें तो भी प्रश्न है कि सूर के कृष्ण यदि ऐसा करते हैं तो गोपिकाएँ उसका विरोध क्यों नहीं करती? एक-दो नहीं, सारे प्रदेश की सारी गोपियाँ क्या इतनी आचार-भ्रष्ट हो गयी थीं कि सब-की-सब कृष्ण के इस कृत्य को सहर्ष स्वीकार कर लेती ? सूर ने तो इस सामूहिक पतन का कोई परिचय नहीं कराया, तो फिर इसका क्या कुछ रहस्य नहीं?

जो कृष्ण एक दिन चोली-बन्द तोड़ते हैं, वे ही दूसरे दिन कंस का वध भी करते हैं। अपने समय के सबसे बड़े पराक्रमी और नृशंस नृपति का नाश क्या साधारण काम था? यही नहीं, जो कृष्ण आज गोपियों के साथ विनोद-पूर्ण क्रीड़ाएँ कर रहे हैं, वे ही कल वहाँ चले जाएंगे, जहाँ

NMDC 065

से निकट होते हुए भी, वे उनके पास कभी नहीं आएंगे। मथुरा से ब्रज दूर नहीं है, यह तो और भी बड़ा प्रलोभन था कि कृष्ण बीच-बीच में ब्रज की सैर करने आते, पर वे कहाँ आए? कृष्ण का यह व्रत कितना कठोर था कि वे समीप रहते हुए भी अपनी प्रेम-पात्र गोपियों से एक जन्म को विदा हो गए। कभी दूसरी बार न मिले। इससे कृष्ण के निर्लिप्त रूप की ही झलक मिलती है।

बहुत-से सज्जन ऐसे हैं जो लाक्षणिक अर्थ को ही प्रमुख मानते हैं। जैसे चोली-बन्द तोड़ने का अर्थ— चोला, बन्धन या शरीर-बन्धन तोड़ना सहज ही बना लेते हैं जिससे अर्थ की अनुरूपता भी आ जाती है। संस्कृत में तो एक-एक शब्द के अनेक-अनेक अर्थ किये जाते हैं। धातुओं का इतना लचीला स्वरूप है कि जिधर चाहें घुमा लें। लोगों को अपने-अपने ईप्सित अर्थ तक पहुँचने की बहुत-सी सुविधाएँ हैं।

लाक्षणिक अर्थ की चर्चा करते हुए हम कह चुके है कि कवि के द्वारा निर्दिष्ट न होने पर भी (काव्य-कला के विचार से कवि उसका अलग से निर्देश करना उचित नहीं समझेगा) विचक्षण और सुबुद्धि पाठक अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार दूसरे अर्थ को ग्रहण करते हैं, परंतु इस विषय में हम यह भी कह चुके हैं कि कवि का आशय समझकर ही ऐसा करना चाहिए, उसके विरुद्ध नहीं। इसके अतिरिक्त यह प्रतिबन्ध भी मानना चाहिए, कि लक्ष्य अर्थ काव्य की स्वाभाविक सरसता का बाधक न हो, उसे द्विगुणित काम्य बना देता हो। संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों के अनुसार लक्ष्य अर्थ को कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध होना चाहिए पर यहाँ इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। बिल्कुल नवीन संकेतों द्वारा भी लक्ष्य का निर्देश किया जा सकता है यदि उसमें उचित स्वाभाविकता और अर्थ-प्रवणता हो। एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में खींच-तान करके जो अर्थ गढ़े जाते हैं, वे अर्थ की रमणीयता का अपहरण कर लेते हैं। लक्ष्यार्थ तो वह श्रेष्ठ है जो काव्य से आप-ही-आप प्रकट होता जान पड़े। उदाहरण के लिए कृष्ण के होली खेलने का यदि कुछ रूपकार्थ लिया जाय तो वह 'होली' शब्द के अर्थ में बैठने की बौद्धिक क्रिया द्वारा नहीं, बल्कि होली का जो एक चित्र भावना रूप से हमारे मन में बना हुआ है, उसी से वह लक्ष्य अर्थ उद्‌भुत हो जाय। इसी में काव्य की शोभा है और इसी से उसका द्विगुणित आनन्द प्राप्त हो सकता है।

हिन्दू विचारधारा की जो शास्त्रीय प्रणाली है उसके अनुसार कृष्ण का अवतार लाक्षणिक है, उसकी सब लीलाएँ लाक्षणिक हैं— लीला का अर्थ ही है लाक्षणिकता— और उनके दिव्य जन्म-कर्म को हम अपनी लौकिक दृष्टि से देख ही नहीं सकते। अतः इसकी आवश्यकता नहीं कि काव्य की स्वाभाविक गति में विक्षेप करने वाले किसी-न-किसी लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण ही करें। तथापि स्वतन्त्रता तो सबको है ही और दार्शनिकों की ऐसी रुचि भी होती है।

NMDC-065

वेणु-गीत—सूर ने मुरली के सम्बन्ध में बहुसंख्यक पद कहे हैं। सूर ही नहीं, भारत की अनेक भाषाओं के बहुत-से भक्त-कवियों ने कृष्ण की वंशी की मोहिनी शक्ति का गान किया है। मूल में यह प्रसंग श्रीमद्भागवत में आया है जहाँ उसे वेणु-गीत कहते हैं। उत्तर भारत के प्रसिद्ध मतप्रवर्तक, सूरदास के दीक्षागुरू श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भागवत की अपनी सुबोधिनी नामक टीका मे उक्त वेणु-गीत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वेणु-गीत से भगवान के नामात्मक और रूपात्मक स्वरूपों में से नामात्मक स्वरूप का बोध होता है। सच ही है क्योंकि वेणु तो स्वर वाली वंशी है जो मुखर होकर—चित्रवत रूप दिखाकर नहीं—अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। कृष्ण के द्वारा गीत होने के कारण यह वेणु-गीत चराचर को मोहनेवाला और उन्हें एक अशेष में तन्मय करके शेष का मोह छुड़ा देनेवाला सिद्ध हो जाता है। संगीत की प्रशंसा यूरोप के कला-मर्मज्ञों ने भी कम नहीं की है। प्राचीन यूनान में संगीत का रहस्य समझा गया था, यहीं से अन्य पश्चिमी देशों में भी उसका प्रसार हुआ था। प्रसिद्ध अंग्रेज निबन्ध-लेखक स्टिवेंसन ने संगीत देव (Pan) के वेणु (Pipe) का माहात्म्य कहते हुए लिखा है कि इससे तो हर्ष-शोक, भय-आह्लाद दोनों प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। महात्मा वल्लाभाचार्य ने वेणु की व्युत्पत्ति बतलाते हुए 'व' से उस ब्रह्म-सुख को ग्रहण किया है जिसके सामने 'इ' संसार का सुख अणु' नगण्य बनकर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार कृष्ण की वेणु, ब्रह्म-सुख में लीन करने का वह साधन है जो निस्साधन जीवों को भगवान का आशीर्वाद रूप प्राप्त होता है।

श्री वल्लभाचार्य ने वेणु-गीत की एक विस्तृत विवेचना भी की है, परन्तु उससे यहाँ प्रयोजन नहीं। महात्मा सूरदास स्वयं ही उन आचार्य के शिष्य थे अत: यह समझना असंगत नहीं कि भागवत के वेणु-गीत की आचार्य-कृत व्याख्या उन्हें उपलब्ध हुई और उनके 'सूरसागर' के पदों में उसकी छाप पड़ी है।

जहाँ तक कविता का प्रयोजन है, कवि के ये पद पूर्ण रूप से सरस हुए हैं, जिनसे वह व्यंजित है कि सूर स्वयं तो संगीतज्ञ थे ही, संगीत के रहस्य से भी अवगत थे। आचार्य वल्लभ के मुख्य गायक होने के कारण और स्वयं दृष्टि-शक्ति से रहित रहने के कारण सूर को गीत की अनन्य माधुरी में मग्न होने के अवसर यों ही सुलभ थे, किन्तु वे तो उच्चकोटि के भक्त और कवि भी थे। जब बिहारी-जैसे केवल कला-मर्मज्ञ के हृदय को 'तन्त्री-नाद कवित्त-रस' का आस्वाद मिल चुका था, तब सूर को वह कितना अधिक नहीं मिला होगा। कवि ने इस प्रसंग को लेकर इतनी अनेक-अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं कि इस विषय में शंका नहीं होती कि वह संगीत के रस से सिक्त तो थे ही, वंशी की उस ध्वनि से भी पूर्ण परिचित थे जो नाम-रूप से भगवान का आख्यान करने में लगी हुई है। यह बाँस की बाँसुरी इतना महत्त्व अधिकृत कर ले कि स्वयं कृष्ण इसके वश में हो जाएं, फिर यह जैसे चाहे उन्हें नचाए, अपने सामने गोपिकाओं की भी,

NMDC-065

जो कृष्ण की प्राण थीं, अवहेलना कराए वह असाधारण बाँसुरी रही होगी। नाम की महिमा बहुतों ने कही है, स्वयं तुलसीदास ने उसके वर्णन में बड़ी तन्मयता का प्रदर्शन किया है, परन्तु सूर ने कृष्ण की वंशी को नाम का प्रतीक मानकर काव्यजगत् में एक-दूसरे ही प्रकार की परम रमणीय सृष्टि की है। तुलसीदास ने तो राम के नाम को स्वयं राम से बढ़कर माना है, परन्तु उनके नाम-गुण-गान में केवल विश्वास करना पड़ता है; स्वतः हम पर अधिकार करके वह अपना परिचय करा दे, ऐसी बात कम ही है। तुलसीदास को नाम-माहात्म्य कहने में उपदेशात्मक शैली का प्रश्रय लेना पड़ा है। जैसे :

राम एक तापस - तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सिधारी।।
रिषि हित राम सुकेतु-सुता की। संहित सेन सुत कीन्ह बिवाकी।।
सहित दोष दुख दास दुरासा। दरइ नाम जिमि रवि निसि नासा।।
भंजेउ राम आप भव चापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू।।
नाम-प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी।।

परन्तु यह वर्णन काव्य-दृष्टि से विशेष मार्मिक नहीं है, क्योंकि नाम की जो-कुछ महिमा उक्त पदों में कही गई है उसे हम इतिवृत्त के रूप में ही ग्रहण करते हैं। नाम के प्रसाद से ही 'कोटि खलों की कुमति सुधरी' है और 'शिवजी अमंगल साज धारण कर भी मंगल-राशि' बने हुए हैं, इन तथ्यों पर हमारी बुद्धि ही पहुँच पाती है, हमारी भाव-सत्ता का इससे सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, परन्तु सूर के 'वंशी-प्रसंग' में पूर्ण भावात्मकता का योग है।

सूर की वंशी इस दृष्टि से अधिक प्रभावशालिनी हुई है। एक तो वह संगीत की सृष्टि करती है जो स्वयं ही परम मोहक है। फिर कृष्ण अपने अधरों पर धारण करके उसे जो सम्मान देते, उसके सामने अन्यों की जो उपेक्षा करते, उसके लिए एक पैर से खड़े रहकर जो अनुराग दिखाते हैं, वह सब प्रत्यक्ष वर्णन द्वारा हम पर विशेष प्रभाव डालता है। तुलसी की नाम की महिमा तो बुद्धि-ग्राह्य है, किन्तु सूर की वंशी की महिमा आँखों के सामने दिखाई देती है। तुलसी का नाम माहात्म्य भक्तों के लिए मान्य है, परन्तु सूर की वंशी-ध्वनि अधिक व्यापक क्षेत्र में, अधिक सरस रीति से, अधिक स्पष्ट प्रभाव दिखाती है।

परन्तु यह प्रश्न यहाँ अवश्य उठता है कि वेणु-गीत सम्बन्धी ये सूर के पद भगवान के नाम का ही लक्ष्य रखते हैं, इसका प्रमाण एक-मात्र वल्लाभाचार्य की उक्त व्याख्या ही मान ली जाय या और कुछ। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य अवश्य थे, परन्तु वे कवि और गायक थे, दार्शनिक पण्डित नहीं। तुलसीदास ने तो स्पष्ट शब्दों में नाम का माहात्म्य कहा है, परन्तु सूर तो लक्षणा द्वारा ही इस प्रकार का बोध कराते हैं। तो क्या सूर की यह प्रणाली तुलसी की अपेक्षा अधिक दुरूह नहीं?

NMDC-065

बात यह है कि कविता की दृष्टि से सूर के मुरली-सम्बन्धी पदों का लाक्षणिक अर्थ आवश्यक नहीं है। जिस रूप में उन्होंने वंशी का परिचय दिया है और उसके प्रति गोपिकाओं की असूया आदि भाव दिखाए हैं वह यों भी सत्-काव्य का रूप है। कोरे बाँस की बाँसुरी, जिसमें छेद-ही-छेद हैं, कृष्ण को इतनी प्रिय बन जाय और प्रिय बनकर चराचर पर अधिकार कर ले, इससे जिन रहस्यों का संकेत होता है वे स्वयं ही सरस रहस्य हैं। इन्हीं का आधार लेकर भक्तगण लाक्षणिक अर्थ तक पहुँचते हैं और द्विगुणित आनंद उपलब्ध करते हैं।

भक्त-जनों के लिए तो तुलसीदास की 'नाम-महिमा' और सूर की 'मुरली-माधुरी' दोनों में ही समान स्वाद है, परन्तु काव्य के विचार से लोग सूर के इन पदों को अधिक पसन्द करेंगे। सूर को वंशी में नाम की महिमा अधिक सुरीली होकर व्यंजित होती है। नाम का सौन्दर्य-पक्ष इसमें अधिक खिला है। तुलसी के नाम-गुण-गान में निश्छल उद्गारों का एक स्वच्छ प्रवाह है और विश्वास की ऐसी लयकारी तरंग है जो बिना सूचना दिए ही अपनी ओर खींच लेती है, किन्तु सूर की वंशी-ध्वनि में वह मोहिनी-लय है जिसमें स्वेच्छा से ही जीव लीन होते, स्वेच्छा से ही तन्मय हो जाते हैं।

रास—रास एक मंडलाकार नृत्य का नाम है जिसमें बहुत-सी नर्तकियाँ भाग लेती हैं। प्रत्येक प्रकार के नृत्य एक विशेष भाव-उद्रेक के प्रतिफल होते हैं, रास तन्मयता के प्रबल उद्रेक का प्रतिफल माना गया है। गोपिकाएँ कृष्ण में इतनी तन्मय हो उठी हैं कि वे उनसे वियुक्त होकर एक क्षण भी नहीं रह सकतीं। कृष्ण के रूप पर वे इतनी मुग्ध हैं कि सदा उन्हीं का दर्शन चाहती हैं। आकर्षण का यही विकास अपनी चरम अवधि में रास का रूप धारण करता है। वे सब शरत्समय की एक चाँदनी रात में कृष्ण की वंशी सुनकर उत्कंठित हो उठीं, अपने को सँभाल न सकीं, सब अपने-अपने काम-काज छोड़कर दौड़ पड़ीं। भागवत में इस अवसर की विस्तृत कथा है। कृष्ण ने गोपियों को पहले मना किया। उन्हें समझाया कि परिवार का लालन-पालन, पति की सेवा, ये गृहणियों के उत्तम धर्म हैं। इन्हें छोड़कर अन्य का सेवन कुल-कामिनियों के लिए उचित नहीं है। इस भयावह कार्य से अयश मिलेगा। तुम्हें अपने-अपने घर जाकर अपना-अपना गृह-कार्य करना चाहिए और यदि मुझसे प्रीति है तो घर में मेरा ध्यान करो, मेरा कीर्तन करो, उसमें इतना अधिक सुख पाओगी, जितना मेरे समीप रहकर यहाँ नहीं पा सकती।

गोपियों ने स्पष्ट उत्तर दिया कि हम तो लोक-परलोक की परवाह नहीं करतीं; आपके लिए हमने धर्म-कर्म सबका पालन किया। क्या वर्णाश्रम धर्म, आचार-विचार और कर्म के सब विधान आपके पाने के लिए ही नहीं है? क्या आपके मिल जाने पर भी वे सब बने ही रहते हैं? हम तो ऐसा नहीं समझतीं। किन्तु आप यदि आज्ञा देते हैं कि हम आपको छोड़कर चली जाएं तो कृपया आप हमें इतनी शक्ति भी दीजिए कि हम अपने पैरों को आपसे विमुख होकर चलने की प्रेरणा कर सकें। वह शक्ति हममें नहीं है।

NMDC-065

तब जैसे तारिकाओं से घिरे हुए शशांक दीप्तिमान होते हैं वैसे ही उत्फुल्ल-मुखी गोपिकाओं से परिवेष्टित कृष्ण की रास-लीला आरम्भ हुई। कृष्ण की रास-लीला के संबंध में भी अनेक प्रकार के संशयात्मक प्रश्न किये जाते हैं, परन्तु अधिकांश प्रश्न करने वाले संगीत, नृत्य आदि कलाओं के रहस्य से परिचित नहीं होते। संगीत की ही भाँति नृत्य भी तन्मयता का साधन है। जीवन की भिन्न-भिन्न जटिल समस्याओं से चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास, विषमता के ऊपर साम्य स्थापित करने की चेष्टा एक ऐसी संगीतमय स्थिति को उपस्थित करती है जो शान्ति और आनन्द का कारण होती है। भारत के दार्शनिकों ने तो प्रलय में भी लय का अनुसंधान किया, जिससे प्रलयकार का ताडंव भी नृत्य की कोटि में परिगणित हो सका। विचार करने से यह सबको अनुभव होगा कि संगीत और नृत्य का यह रूप जीवन की विशेष उन्नत साधनाओं का प्रतीक है। कलाओं को जब इस दृष्टि से देखा जाय तब उनका मर्म ग्रहण किया जा सकता है और तब नृत्य और संगीत के उस प्रचलित रूप की निकृष्टता भी समझ में आ सकती है, जिसके कारण बहुतों को कला-मात्र से विरक्ति होने लगी है। जो लोग कृष्ण की रास-लीला का यह कहकर विरोध करते हैं कि कृष्ण को नट बनकर यह निम्न आदर्श समाज के सामने न रखना चाहिए था, वे नृत्य के वास्तविक रहस्य को पहले समझ लें।

परन्तु भागवत मत के अनुसार नृत्य (रास) जीवन का केवल एक परिमार्जित विकास ही नहीं है, वह तो जीवन की सभी साधनाओं की अन्तिम सिद्धि है। गोपिकाओं ने जन्म-भर आचारनिष्ठ रहकर पूर्ण धर्माचरण करने के उपरान्त मानों उसी धर्मचर्या के अन्तिम निष्कर्ष के रूप में कृष्ण के साथ रास रचा है। इसका वही अर्थ है जो गोपिकाएँ कृष्ण से निवेदन कर चुकी हैं। संसार के सब आचार उन्हीं के निमित्त हैं और उनके मिलते ही वे सब छूट जाते है। मनुष्य जो दुनियादारी में पड़कर माया का बन्धन स्वीकार करता है वह भी इसी हेतु से कि एक दिन इससे छुटकारा मिलेगा। मनुष्य के लौकिक धर्म-कर्म निमित्त-मात्र हैं। इस निमित्त के अन्त:करण में जो चरम ध्येय निहित है वही मानों कृष्ण और गोपिकाओं के रास के रूपक (लीला) से प्रकट किया गया।

इस विचार से रास को पूर्णत: आध्यात्मिक रूप मिल जाता है जिसका और अधिक स्पष्टीकरण भागवत में किया गया है। गोपिकाएँ कृष्ण के साथ तन्मय होकर विहार करती हैं, मानों जीव अपने सब बन्धनों से मुक्त होकर अपने स्वरूप (कृष्ण) को पहचानता है और उसी आनन्द में विभोर होकर क्रीड़ा करता है। वहाँ कृष्ण और गोपिकाएँ दो नहीं रहीं, एक ही हो गयीं। भागवत में इस एकता पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब को लेकर क्रीड़ा करता है, वैसे ही भगवान रमापति ने हास्य-आलिंगनादि द्वारा ब्रज-सुन्दरियों के साथ क्रीड़ा की थी। आत्माराम होते हुए भी उन्होंने अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ

NMDC-065

पृथक-पृथक विचरण किया था। यह खेल ईश्वर ही कर सकते हैं, कोई भी मनुष्य इसका अनुकरण कदापि नहीं कर सकता।

यों तो कला-विवेचन की दृष्टि से भी नृत्य आदि कलाएँ अपने मौलिक रूप में कामोद्दीपक नहीं हैं, वरन सात्विक आनन्द के सहज उद्रेक से इनकी उत्पत्ति होती है और ऐसे ही आनन्द की निष्पत्ति भी ये करती हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत में इन्हें नितान्त आध्यात्मिक और आलौकिक स्वरूप दिया गया है। भक्तवर सूरदास की भावना भी भागवत की भाँति ही दिव्य माननी चाहिए।

भ्रमर-गीत—श्रीकृष्ण कंस का बुलावा पाकर ब्रज-भूमि से मथुरापुरी चले गए। जाते समय उन्होंने कहा था कि वे शीघ्र ही लौट आएंगे; इसी आसरे सारे गोप-गोपी बहुत दिनों तक उनकी प्रतीक्षा करते रहे; इस आशा में कि वे आने को कह गए हैं तो अवश्य आएंगे। परन्तु जब बहुत दिन हो गए और कृष्ण न आए तब उनकी बेचैनी बढ़ी और उन लोगों ने मथुरा जाने वाले पथिकों के हाथ अपने संदेश भेजे और उनका संवाद मँगाया। यशोदा ने भी संदेश भेजा; गोपियों ने भी भेजा ! पर किसी का कोई उत्तर नहीं आया। इससे समस्त ब्रज-मण्डल में और उत्कण्ठा बढ़ी। पथिकों का मथुरा से उस राह आना-जाना भी कठिन हो गया, क्योंकि सन्देशों की संख्या बढ़ चली और पथिकों का राह चलना भी दूभर हो गया। ब्रजवासी जब सब प्रकार से निराश हो गए, जब उनका दुःख भीतर-ही-भीतर उनकी आत्मा को घेरने लगा। गोपों के बालक पेड़ों पर चढ़कर दूर तक कृष्ण की राह देखते, गोपियाँ अपना असह्य सन्देश पक्षी, पवन, मेघ आदि द्वारा भेजने का प्रयास करतीं। यह सब उपाय भी व्यर्थ हो गए। तब तो गोपियों के अश्रु-जल से उस प्रदेश में दुःख की सरिता बह निकली। गोपाल-बाल बिना अन्न-जल के दिन व्यतीत करने लगे, गायों ने दुःख से रँभाना आरम्भ किया। जड़ प्रकृति भी एक बार शोकातुर और विकल हो उठी। यमुना कृष्ण के वियोग में नीली पड़ गयी। कुञ्जें एकान्त में दीर्घ-उच्छ्वास लेतीं, बेलियों की आँखें भर आयीं, हाट-बाट अब शून्य पड़ गये।

उधर कृष्ण ने रंग-भूमि में कंस का वध किया और प्रजा द्वारा वे राजपद पर अभिषिक्त किए गए। राज-काज के उत्तरदायित्व के कारण उनका अधिक समय उसी में व्यतीत होने लगा। कंस की एक कुरूप कूबरी दासी कुब्जा से प्रसन्न होकर कृष्ण ने गोपियों की सुध-बुध खो दी। कृष्ण के जीवन की धारा अब गोप-गोपियों के विनोदमय उपकूलों पर कल-कल छल-छल न करती हुई, अधिक गम्भीर और अधिक प्रशान्त होकर वह रही थी। परन्तु प्रश्न तो यह था कि कृष्ण के जीवन के साथ-साथ गोप-गोपियों का जीवन कैसे बदल जाता? वे तो अपनी उसी वनस्थली में उन्हीं स्मृतियों को साथ लिए समय वाहित कर रही थीं। कृष्ण महाराज हो गए थे तो क्या हुआ, यशोदा के लिए तो वे वही 'कुँवर कन्हैया' और गोपियों के लिए तो वे ही नटनागर थे।

NMDC-085

तब समस्या यह खड़ी हुई कि कृष्ण क्या उपाय करें जिससे उधर उनके लोकोत्तर-चरित्र का भी विकास हो, उधर ब्रजवासियों का भी समाधान हो।

मधुर भाव से कृष्ण की उपासना करने वाले कवियों और गायकों के सामने भी यह समस्या उपस्थित थी, और सूर के सामने भी, कि आगे कृष्ण-काव्य की कौन-सी दिशा बदली जाय। अब तक कृष्ण के साथ ब्रज के निवासियों ने जो रँगरेलियाँ की थीं, उनकी एक प्रकार से हद हो चुकी थी। अब कंस का वध करके फिर कृष्ण ब्रज लौट आते अथवा बीच-बीच में ब्रज-मण्डल में दर्शन दे जाते तो इससे न तो काव्य को कोई विशेष चमत्कार प्राप्त होता न जीवन के किसी नवीन पक्ष पर प्रकाश पड़ता। भक्तों की भावना भी इतनी क्षुद्र नहीं थी कि संयोग-सुख में ही उन्हें तृप्ति मिलती। जो कृष्ण अभी उस दिन तक ब्रज में अपनी ललित लीलाओं के द्वारा जन-जन में नवीन प्राण, और प्राण-प्राण में नवीन उमंग भर रहे थे, आज यदि फिर वहाँ आएं और आकर बस जाएं तो अच्छा, या वहाँ न आकर अपने वियोग में वहाँ के एक-एक कण्ठ से उत्कण्ठित उद्‌गार सुनने का अवसर दें, तो अच्छा। कवियों और सन्तों ने मिलकर यही निर्णय किया है कि दूसरी बात ही अधिक मार्मिक है, कृष्ण के चरित्र की अलौकिक झाँकी दिखाने में अधिक उपयोगिनी है।

परन्तु कृष्ण गोपियों की अवमानना करके उन्हें छोड़ तो सकते नहीं थे। उनके प्रति उनका उमड़ता हुआ अनुराग तो कभी सूख नहीं सकता था। कोई भी अपने प्रियजन को विसार नहीं सकता, फिर कृष्ण-जैसे प्रेमी-गोपिकाओं-जैसी प्रेमिकाओं को कैसे विसार देते? वे इसी चिन्ता में निमग्न थे कि उन्हें उद्धव नामक एक ब्रह्मज्ञानी महापुरुष मिल गए। ये कृष्ण के सखा थे, पर इन्होंने कृष्ण के प्रेम-कातर स्वभाव को कितना पहचाना था यह वे ही जानें। जब कृष्ण ने इनसे गोपियों की कथा कही, तो इन्होंने कृष्ण से कहा कि यदि आप कहें तो मैं ब्रज जाकर उन सबको समझा आऊँ कि वे आपके पीछे हैरान न हों, निर्गुण निराकार ब्रह्म का ध्यान आरम्भ करें। जिस व्यक्ति ने ऐसी बात कही वह न केवल हृदयहीन होगा; शास्त्रों के यथार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ, ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों में कृत्रिम भेद करने वाला भी ठहरता है। उसने न सगुण ब्रह्म का स्वरूप पहचाना, न निर्गुण ब्रह्म का, न उसने भगवान के अवतार-रूप की महिमा समझी।

सूर ने इस सम्पूर्ण प्रसंग को एक अत्यन्त अनूठे विरह-काव्य का रूप दिया है, जिसमें आदि से अन्त तक ब्रज की दुख-कथा कही गयी है। इस कथा के दो भाग हो जाते हैं। एक तो उद्धव के संदेश जाने के पूर्व की वियोग-कथा, जिसमें विरह-दशा के प्रायः सभी वर्णन और विनय, उपालम्भ आदि है; और दूसरा उद्धव तथा गोपियों को वार्तालाप जिसमें प्रेम की अनन्य तन्मयता सर्वत्र ध्वनित हुई है। इस वार्तालाप के सम्बन्ध में बहुत-से लोगों ने अपनी-अपनी धारणाएँ प्रकट की हैं, जिनमें एक यह है कि इसके द्वारा महात्मा सूर ने सगुण ब्रह्म का निरूपण और निर्गुण

NMDC-065

का खण्डन किया है। एक और वैचित्र्यपूर्ण आलोचना, जो इस विषय में की गयी है, यह है कि सूर ने इसके द्वारा उस चिरकाल से चले आते हुए पाखण्ड पर प्रहार किया है, जो पण्डों, पुरोहितों और पुजारियों के प्रचार का प्रधान विषय रहा है, जिससे उनका गुरुडम का गढ़ ढहकर गिर पड़े। बह्म को व्यापक, अविनाशी आदि मानकर और व्यक्ति को क्षुद्र बताकर उसका विकास रोक देना जिन्हें इष्ट था, उन धर्माचार्यों के विरुद्ध सूर ने यह आन्दोलन उठाया। इसके द्वारा गोपियों ने कृष्ण की पूजा का भाव प्रतिष्ठित कियां—जो कृष्ण अपने समय के नेता के रूप में कार्य कर रहे थे और वास्तव में अपने उपकारी कार्यों के कारण पूज्य थे। जीवित कृष्ण को—लोक-कल्याण ही जिनका ध्येय था—छोड़कर अज्ञात के पीछे भटकते फिरने से कुछ लाभ नहीं है। इसी मर्म की शिक्षा उद्धव गोपी प्रसंग में दी गयी है, यही उक्त 'अभिनव' आलोचकों की आलोचना का निष्कर्ष है।

वास्तव में सूर का आशय न तो निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा करना था और न उन्हें पण्डों और पुरोहितों के विरुद्ध किसी प्रकार का आन्दोलन उठाना था। यदि हमें सूर की कविता के साथ न्याय करना है, तो हम सबसे पहले प्रसंग को समझने का प्रयास करें। सूरसागर का काव्य कृष्ण की रास-रचना करके उन्हें मथुरा भेज चुका है। आनन्द की अन्तिम अवधि के उपरान्त अवसाद के दिन आए हैं : कृष्ण मथुरा से ब्रज नहीं आते, न बहुत दिनों तक कोई सन्देश ही भेजते हैं। यह गोपियों के पक्ष में कृष्ण की ऐसी निष्ठुरता है जो काव्य का सुन्दर विषय बन सकती है। यदि इस निष्ठुर परिस्थिति में गोपियाँ कृष्ण के बिना अपने को निरवलम्ब पाती हैं और इस निरवलम्ब दशा में भी वे दूसरे किसी का आश्रय नहीं चाहती—अन्त तक कृष्ण की बनकर रहेंगी, चाहे जो हो जाय—तो यह कितनी बड़ी प्रेम की साधना है ! वह प्रलय धन्य है जो निराश, पीड़ित, लांछित प्रेमिका के हृदय में अपने प्रेमी के प्रति जागृत रहता है; वह निष्ठा अभिनन्दनीय है जो एक की होकर दूसरे का मुख नहीं देखती; वह व्रत वंद्य है जो मृत्यु का सामना करके अमर बनाता हैं।

जो कृष्ण ब्रजभूमि के इतना निकट रहते हुए भी वहाँ आने का नाम नहीं लेते, वे किसी निर्गुण' से क्या कम हैं? जिन्होंने भोली-भाली गोपियों को प्रेम के पाश में बाँधकर फिर वियोग के पारावार में डाल दिया है, उनकी निष्ठुरता की क्या 'अवधि' है? परन्तु सूर का आशय निर्गुण, निरवधि ब्रह्म का खण्डन करना ही नहीं था। वे तो कृष्ण की अलौकिक लोक-लीला के साथ-साथ गोपों का, गोपियों का, भक्तों का—स्वयं अपना—तादात्मय स्थापित कर रहे हैं। संयोग की मधुर मुरली बजाने के बाद अब वे विरह के अश्रु-जल से कृष्ण का अभिषेक करने चले हैं। किन्तु वियोग की इस तप्त वायु में सम्भवत: संयोग से भी अधिक प्रेम और आनन्द के परमाणु उच्छवसित हो उठे हैं। यह प्रेम और यह आनन्द काव्य में दृश्य नहीं है, अदृश्य रूप से ध्वनित है और यह उन कृष्ण के प्रति है जो पास ही मथुरा में रहते हुए भी 'अदृश्य' बन गए हैं। कौन

NMDC-065

कह सकता कि गोपिकाएँ उस 'अदृश्य' की उपासिका नहीं थीं ! कृष्ण तो एकाधार में सगुण और निर्गुण दोनों हैं, कोई उनका निर्वचन करे फिर भी वे अनिवर्चनीय है। सूर के श्याम को जो इस रूप में नहीं पहचानते, वे ही सगुण-निर्गुण-सम्बन्धी झगड़ों में सिर खपाते हैं।

पण्डों, पुजारियों और पुरोहितों वाला प्रसंग भी अपूर्व ही है। परन्तु खेद है, यह आधुनिक दृष्टि सूर को प्राप्त नहीं थी। सार्वजनिक पूजा की कोई नयी पद्धति सूर ने नहीं चलायी है, ब्रह्म को व्यापक कहने से व्यक्ति को क्षुद्र बन जाना पड़ता है यह अति नूतन व्यक्तिवाद सूर को ज्ञात नहीं था; नहीं तो वे ऐसा अनौचित्य करते ही क्यों?

सीधी बात तो यह है कि सूर कृष्ण के उपासक थे और उन्हें सब-कुछ मानते थे। वे उनके लोक-चरित के रमणीय अंशों का गायन करने बैठे थे। ब्रजभूमि के गोचारक, गोपी-वल्लभ कृष्ण ही सूर के उपास्य हैं। संयोग में भी, वियोग में भी, वे उन्हीं की एकमात्र कथा कहते हैं। जो कोई अपने आराध्य की व्यापक भावना करेगा वह सभी परिस्थितियों में उनकी झलक देखकर मुग्ध होगा। काव्य की दृष्टि से भी सूर को नवीनता की खोज करनी थी। उन्होंने उद्धव के प्रसंग को उठाया और कथनोपकथन की प्रभावशालिनी शैली में अपने वे गीत गा चले जो पद-पद पर कृष्ण के प्रति अनन्य प्रीति की व्यंजना करते और विरह-काव्य की सरस धारा प्रवाहित करते हैं।

उद्धव-गोपी-सम्वाद में, पूर्वपक्ष उद्धव का है और उत्तरपक्ष गोपियों का। पहले उद्धव ने ही कृष्ण को छोड़कर निर्गुण का ग्रहण करने की बात चलायी है। वैसी अवस्था में गोपियाँ जो उत्तर देती हैं उसे उद्धव के निर्गुण पक्ष के समकक्ष सगुण पक्ष का प्रत्यक्षीकरण-मात्र समझना चाहिए। उसका यह आशय कहीं नहीं है कि गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म को नीचा दिखा रही हैं अथवा उसकी सत्ता ही नहीं मानतीं। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो गोपियों के उत्तर में केवल कृष्ण के प्रति उत्कृट अनुराग की ही सर्वत्र व्यंजना है; निर्गुण के खण्डन का उपक्रम उतना नहीं। निर्गुण के सम्बन्ध में अधिकांश में गोपियों की ऐसी उक्तियाँ आयी हैं:

"कहा करौं निरगुन लैके हौं, जीवहु कान्ह हमारे।"
"तहाँ यह उपदेश दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान।"
"ये (निरगुन) बतियाँ सुनि रूखी।"

इनमें कहीं भी निर्गुण का तिरस्कार नहीं है, उसके निराकरण का तो प्रश्न ही नहीं। केवल उसके शुष्क ध्यान, उसकी कष्ट-साध्य साधना आदि का ही पद-पद में उल्लेख है।

ब्रज की सुललित लीलाओं के उपरान्त सूर ने यह क्लेशकर विरह की बृहत्कथा कही है, जो हिन्दी-साहित्य में बहुत अधिक महत्त्व रखती है। अब जब साहित्य का अध्ययन व्यापक रूप से

NMDC-065

और स्वतन्त्र बुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। कवियों का अध्ययन स्वत: ही अधिक गम्भीर भाव से करना होगा। अब तक तो भक्त कवियों और शृंगारी कवियों को अलग-अलग कालों में डालकर एक दूसरे से सम्पर्क विहीन रखने की व्यवस्था थी परन्तु अब ये प्रश्न भी निस्संकोच पूछे जाने वाले हैं कि सूर आदि भक्त थे, इससे क्या प्रयोजन? क्या वे शृंगारी नहीं थे? और जिन्हें आप शृंगारी कवि कहते हैं उन्होंने भी तो राधा-कृष्ण का ही शृंगार-वर्णन किया है! फिर इनमें और उनमें अन्तर क्या है और क्यों न ये एक ही श्रेणी में रखें जायें? सूरसागर की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में नायिका-भेद के शीर्षक रखकर पद लिखे मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास ही हिन्दी में नायिका-भेद के प्राथमिक कवियों में हैं। इस विषय में अभी अनुसन्धान की आवश्यकता है परन्तु जो तथ्य प्रकट हो रहे हैं और जिस स्वच्छन्द पथ पर हिन्दी का काव्य-विवेचन चल पड़ा है, उसे देखते हुए यह दृढ़ अनुमान है कि केवल भक्त संज्ञा देकर ही सूर आदि की कोटि अन्य कवियों की कोटि से अलग नहीं की जा सकेगी। सूरदास भक्त थे या नहीं; यह तो इतिहास के विद्यार्थी के अनुशीलन का विषय है। बिहारी भक्त नहीं थे, यह भी हममें से कोई नहीं कह सकता। राज-दरबार में रहने के कारण ही कोई शृंगारी और अभक्त मान लिया जाय, यह कोई तुक की बात नहीं है।

यदि नायिका-भेद लिखकर सूर परम भक्त और महात्मा कहला सकते हैं तो वही काम करने वाले दूसरे भी क्यों नहीं कहला सकते, अपने-अपने काव्य-ग्रन्थों का आरम्भ करते हुए सूर आदि की भाँति अन्य कवियों ने भी मंगलाचरण किया है और राधा-कृष्ण को ही अपनी कवि प्रतिभा उत्सर्ग करने की बात लिखी है। भक्तों की भाँति इन कवियों ने भी सहस्त्रों पद्यों में गोपी-कृष्ण की ही लीला का वर्णन किया है। आजकल जब नित्य नयी शैलियों से काव्य की समीक्षा की जाती है, तब बहुत-से ऐसे समीक्षक भी सामने आयेंगे जो इन शृंगारी कवियों के छन्दों को ईश्वर-पक्ष में भी चरितार्थ कर देंगे।

बुद्धि के इस विकट विकास के सामने कविता का वास्तविक तथ्य निरूपण करने का साहित्यिक मनोविज्ञान के अनुशीलन के अतिरिक्त दूसरा नहीं दिखायी देता। सूर आदि भक्त-कवियों की स्वच्छ भावना (भक्ति) के उद्रेक में और परवर्ती काल के कवियों की अनुकरण-प्रिय प्रणाली-बद्ध कविता में मनोविज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी को स्पष्ट अन्तर दिखायी देगा। नायिका-भेद हो या ऋतु-वर्णन, कवि की मन:क्रिया कहीं छिपी नहीं रहती। सूर व्यापक भावना के वास्तविक भक्त थे; उन्होंने कृष्ण की संयोग-लीलाओं में रस लिया था तो वियोग-वार्ता में उससे भी अधिक रस-वर्षण किया है। कोई भी उत्तरकालीन शृंगारी कवि विरह-काव्य की रचना में इतना अधिक तल्लीन नहीं हुआ। जिस कवि ने कृष्ण को हाथ छुड़ाकर जाते देखकर यह कहने का साहस किया था कि हाथ छुड़ाकर भागना सहज है, पर हृदय निकल जाना बहुत कठिन है— मर्द

NMDC-065

तब समझूँगा यदि हृदय से निकल जाओगे— उसकी कविता में आप इस जनश्रुति को प्रत्यक्ष करके देख सकते हैं। इन किंवदन्तियों का अर्थ साहित्यिक मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए संग्रहणीय है। सूर के कृष्ण एक बार जब हाथ से छूटकर आँखों की ओट हुए, वियुक्त होकर चले गये—तब से अन्त तक सूर ने उन्हें हृदय से नहीं जाने दिया। संयोग में कृष्ण की मूर्ति आँखों में थी, वियोग में वह अन्तवस्त्र के निगूढ़ प्रदेश में छिपाकर रखी हुई है। दशम स्कन्ध के अन्त तक वियोग की मर्म कथा है जिसको सूर जैसे भावनावान भक्त ही सहन कर सकते थे, कोरे शृंगारी कवियों के लिए असाध्य-साधन था।

युग के मौलिक विचारकों और वास्तविक भावनावान कवियों की वाणी अपना स्वर अलग ही प्रकट करती है। पीछे से उनके अनुकरण में अधिक अलंकृत, अधिक सजीले पद कहे जा सकते हैं; पर जो नवीन उपमाएँ, जो नवीन मुद्राएँ, जो नवीन भाव-मूर्तियाँ— जो समस्त नवीनता, तल्लीनता और विशद भावना एक कवि में होगी वह दूसरे में नहीं ही होगी। सूर के पदों की अन्तिम पंक्तियाँ अधिकांश में आत्म-निवेदन के रूप में अपनी उत्कट-भावना का परिचय देती हैं। केवल काव्य की दृष्टि से इनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। परन्तु ये तो जैसे कवि की लेखनी से स्वत: ही उल्लिखित हो गयी हैं। ये न भी होतीं तो पूरे काव्य का अध्ययन करके प्रत्येक समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता कि इस कवि ने सम्पूर्ण वासना-जन्य शृंगार को भस्म करके लेखनी उठाई थी और इसके काव्य का एकमात्र आशय अनन्य भाव से भगवान की अलौकिक लीलाओं का सौन्दर्य-चित्रण करना है। इस कवि ने कृष्ण की जैसी भावना की थी वह स्वयं उसकी ही थी। परम्परा से प्राप्त साम्प्रदायिक भक्ति तो शुष्क बुद्धि के चक्कर लगाने का विषय बन जाती है। पर जो भक्ति सूर की थी वह मन को, बुद्धि को, विवेक को, ज्ञान को— सबको रुचिकर और सबके लिए हितकर सिद्ध हुई। यों तो सूर की कविता-मात्र में उनकी स्वच्छ, सजीव भावना विकसित हुई; किन्तु इस विरह-काव्य में तो वह अतिशय मनोरम बनकर हम पर अधिकार करती है और हम विनत होकर उसकी महिमा स्वीकार करते हैं।

NMDC-065

12. सूरदास का काव्य: अभिव्यक्ति का स्वरूप

मैनेजर पाण्डे

काव्य में कवि अनुभूति और विचार के विभिन्न तत्वों में अंतर्सामंजस्य स्थापित कर उसे अभिव्यक्त करता है। संवेदना और अनुभूतियों का मूल रूप अर्मूत होता है और उस अरूप संवेदना तथा अनुभूति के रूपात्मक बोध से ही कला का प्रादुर्भाव होता है। कला की रचना प्रक्रिया की दो अवस्थाएं होती हैं। एक तो अरूप भावनाओं की रूपात्मक अनुभूति जो पूर्ण मानसिक प्रक्रिया है। दूसरी, बिंबात्मक मानसिक अभिव्यक्ति की ध्वनि, रंग रेखाओं, शब्दों आदि के माध यम से बाह्याभिव्यक्ति, जिससे कलाकृति का निर्माण होता है। कला रूप (काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि) के सहारे अरूप (भाव, अनुभूति, विचार) की साधना है। मानव में अपनी अनुभूतियों को रूप प्रदान करने की सहज प्रवृत्ति होती है और आत्मानुभूति के रूपायन की यह सहज प्रवृत्ति कवि के संयत एवं तत्पर मानस के सहारे कलाकृति की रचना प्रक्रिया बन जाती है। काव्य में अभिव्यक्ति का अर्थ केवल बाह्याभिव्यक्ति नहीं है, अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है। कथात्मक काव्यों में अनुभूति और विचार के अतिरिक्त घटना क्रिया के बीच से विकसित मानव चरित्रों का भी निर्माण होता है। कथात्मक काव्य में एक विशिष्ट संरचना के भीतर ही मानव चरित्रों के क्रिया व्यापार के माध्यम से अनुभूति और विचारों की अभिव्यक्ति होती है। काव्य की रचना में कवि के व्यापक जीवन अनुभव, युग-जीवन के बोध, युग की सांस्कृतिक चेतना की पहचान, परंपरा के बोध, और उसकी सृजनशीलता का योग होता है। रचनाकार की मौलिकता उसकी संवेदनशीलता में ही नहीं होती, अभिव्यक्ति प्रणाली के नए विकास में भी होती है।

व्यक्ति की संवेदनशीलता उसके मानसिक स्वरूप, शक्ति, संस्कार, आग्रह और बाह्य परिवेश के अनुरूप निर्मित होती है और संवेदनशीलता के अनुसार ही उसकी भावना और बोधशक्ति का विकास होता है। संवेदनशीलता युगसापेक्ष होती है। एक युग, साहित्यिक आंदोलन और एक रचना प्रवृत्ति के रचनाकारों में संवेदनशीलता के स्तर पर समानताएं होती हैं। संवेदनशीलता की सामान्यता को विशिष्ट अनुभूति और निजी अभिव्यक्ति बनाने में ही रचनाकार की मौलिकता प्रकट होती है। टी.एस. इलियट ने लिखा है कि संवेदनशीलता पीढ़ी दर पीढ़ी बदलती रहती है लेकिन अभिव्यक्ति में परिवर्तन एक प्रतिभाशाली कवि ही कर सकता है।[1] अभिव्यक्ति में परिवर्तन का अर्थ है पूरी रचना प्रणाली में परिवर्तन। अभिव्यक्ति पद्धति में परिवर्तन नई अंतर्वस्तु के विकास और उसकी अभिव्यक्ति की आकांक्षा के कारण होता है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर एक कवि से दूसरे कवि का पार्थक्य स्पष्टत: परिलक्षित हो जाता है। अभिव्यक्ति के स्वरूप के अनुरूप टी. एस. इलियट के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते हैं[2]:

NMDC-065

(1) जो तकनीक (शिल्पविधि) का विकास करते हैं, (2) जो तकनीक का अनुकरण करते हैं और (3) जो तकनीक का आविष्कार करते हैं। काव्य में तकनीक का विकास ही आदर्श है क्योंकि अत्यंत नवीन शिल्पविधि का आविष्कार असंभव ही है। अभिव्यक्ति में शिल्पविधि के आदर्श की व्याख्या करते हुए एजरा पाउंड ने लिखा है कि उत्कृष्ट कवि (मास्टर्स) तकनीक के आत्म निर्मित स्वरूप के अतिरिक्त अपनी काव्य परंपरा में स्थित अनेक पूर्ववर्ती शिल्पविधियों को आत्मसात एवं समन्वित करते हैं। अपनी काव्य परंपरा में स्थित संपूर्ण शिल्पविधियों को समन्वित, आत्मसात और निजी विशिष्टता से परिपुष्ट करके उसे नए रूप में प्रस्तुत करने में ही कवि की सफलता है।[3] अकुशल कवियों के हाथ में पड़कर उत्कृष्ट शिल्पविधि भी बिखर जाती है और उत्कृष्ट कवियों के हाथ में पड़ने पर निम्न कोटि की शिल्पविधि भी निखर उठती है। अभिव्यक्ति में शिल्पविधि के आविष्कार, अनुकरण एवं विकास की विभिन्न स्थितियां होती हैं, परंतु आदर्श स्थिति विकास की है। इसमें परंपरा विकसित होती है और कवि की मौलिक रचनात्मक प्रतिभा भी व्यक्त होती है। अभिव्यक्ति की यह आदर्श स्थिति अपने उत्कृष्ट रूप में सूरसागर में उपलब्ध है। सूरसागर में अभिव्यक्ति के स्तर पर सूर की सृजनशीलता परंपरा के विकास में है, किसी नितांत नई शिल्पविधि के आविष्कार में नहीं। कृष्णकथा की परंपरा सूर से पुरानी है, शृंगार और भक्ति के समन्वय की परंपरा भी पुरानी है, गीतकाव्य की लिखित और मौखिक परंपरा भी नई नहीं है। सूर ने इन सभी परंपराओं को विकसित किया है।

उत्कृष्ट काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति, अंतर्वस्तु और रूप का पूर्ण सामंजस्य आवश्यक होता है। काव्य में अनुभूति के अंग हैं– विषयवस्तु, चरित्र, भावना, विचार, अभिप्राय, उद्देश्य या संदेश। अभिव्यक्ति के अंग हैं सरचना, रूप, शैली, शिल्पविधि, छंद और लय आदि। अनुभूति के विभिन्न उपादानों में आंतरिक सुसंगति तथा अभिव्यक्ति के बाह्याभ्यंतरिक तत्वों की पारस्परिक अंतर्योजना और इन दोनों के पूर्ण सामंजस्य से ही श्रेष्ठ काव्यकृति निर्मित होती है। सूरदास के काव्य में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के चार मुख्य पक्ष हैं: (1) काव्यवस्तु का संकल्पात्मक बोध, (2) रूप, लीला और भावों की सकल्पात्मक अनुभूति, (3) संगीत संवेदना, और (4) सामंजस्य ज्ञान। इनमें संगीत संवेदना और सामंजस्य ज्ञान अभिव्यक्ति के तत्व हैं। सूर की संगीत संवेदना के कारण ही अभिव्यक्ति के आभ्यंतरिक तत्व एकान्वित हैं और सामंजस्य ज्ञान के कारण अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का पूर्ण सामंजस्य सिद्ध हो पाया है। इस सामंजस्य ज्ञान के कारण ही सूरदास के काव्य में संगीत, चित्र नृत्य आदि कलाओं का भी समन्वित रूप अभिव्यंजित है। इससे सूर के काव्य में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की शक्ति का विकास हुआ है।

उत्तर भारत में पद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक कला के तीन रूपों– काव्य, संगीत और चित्रकला– का साथ-साथ विकास हुआ। उनमें विभिन्न शैलियों के द्वारा एक तरह के भाव

NMDC-065

और विचार व्यक्त हुए। कृष्ण का बहुमुखी एवं समृद्ध व्यक्तित्व, उनका चिंतनमय, रागमय एवं कर्मनिष्ठ जीवन कला का शाश्वत प्रेरणास्रोत बन गया। काव्य, संगीत, चित्रकला और नृत्यकला ने भारतीय जनमानस में राधाकृष्ण की भाव प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। राधाकृष्ण की मधुर रससिक्त लीलाओं ने भावुक भक्त कवियों को आकृष्ट किया और उनमें भक्तों की तन्मयता के लिए पर्याप्त अवसर मिला। राधाकृष्ण का लीलात्मक रूप और उससे प्रेरित कलाएं लोकमानस की देन हैं और लोकमानस की निधि हैं। काव्य, संगीत और चित्रकला में भागवत तथा अन्य पुराणों की कथाओं के धार्मिक अभिप्राय परिव्याप्त हैं, क्षेत्रीय भाषाओं के विभिन्न काव्यों एवं गीतों में इनकी पुनर्रचना हुई हैं। कवियों, संगीतज्ञों और चित्रकारों द्वारा जनसामान्य तक इनका प्रसार हुआ। डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने ठीक ही लिखा है कि 'किसी युग विशेष तथा देशवासियों के सामूहिक जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति के लिए कलाओं का जैसा सहयोग तत्कालीन उत्तर भारत में हुआ वैसा सहयोग विश्व की संस्कृति के इतिहास में बहुत कम हुआ है।'

पंद्रहवीं शताब्दी में विल्वमंगल की 'बाल गोपाल स्तुति' का चित्रांकन हुआ और जयदेव के गीतगोविंद का चित्रांकन तो पंद्रहवीं शताब्दी से अब तक विभिन्न शैलियों में निरंतर हो रहा है। मध्यकाल में राधाकृष्ण विषयक चित्रों के आधार पर पद और दोहों की रचना हुई तथा पदों और दोहों के अनुरूप चित्र बनें हैं। भारत वर्ष में विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल राग-रागनियां हैं, रागमालाएं है और संगीत के रागों के चित्र हैं। संगीत की चित्रकला में अभिव्यक्ति भारतीय कला परंपरा की एक विशेषता है। संगीत एक अमूर्त कला है और उनके संपर्क में आनें पर चित्रकला भी उस अमूर्तता की ओर उन्मुख हुई है। गीतात्मक काव्यों का बिंब विधान, रागों अथवा रागिनियों की मधुरता तथा चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों का अंकन समान रूप से मानवीयं मनोभावों की अभिव्यक्ति में सहायक हुए हैं।

काव्य भावों का शब्दचित्र है और चित्र रंगरेखाओं में व्यक्त भाव काव्य। अरूप अनुभूतियों या विचारों को रूपायित करने की प्रवृत्ति दोनों में है। संगीत ध्वनि का काव्य है और नृत्य गति का काव्य; काव्य में ध्वनि और गति दोनों का संयोग है। आंतरिक लय संगति काव्य, संगीत और नृत्य तीनों का प्राण है। इस प्रकार ये सभी कलाएं परस्पर पूरक हैं। भारतीय कलाओं के समन्वित विकास की इस अवस्था में ही सूरदास का आविर्भाव हुआ था। भक्त कवि ने अपने सामंजस्य ज्ञान के सहारे काव्य में संगीत, चित्र और नृत्य आदि सभी कलाओं का समन्वित स्वरूप उपस्थित करने में सफलता प्राप्त की है।

सूरदास शास्त्रीय संगीत और लोकगीत के सहयोग से निर्मित विशाल राग सागर है। सूरसागर के भावचित्रों तथा रूपचित्रों में रंग रूप रेखाओं का समन्वित बोध है। सूर के शब्दचित्रों में चित्रकला के अनिवार्य तत्वों का समुचित विन्यास दिखाई पड़ता है। सूरसागर के पदों के आधार पर चित्र

NMDC-065

रचना की अपार संभावनाएं हैं। सूरसागर में नृत्य के रास और कत्थक शैलियों के विभिन्न उपादानों का कलात्मक प्रयोग है। इस प्रकार सूरसागर अपने युग की कला चेतना तथा कला परंपरा का विशाल कोश बन गया है।

सूरसागर का काव्यरूप

किसी काव्यरूप के निर्माण में अभिव्यक्ति के तत्व दो प्रकार के होते हैं: (1) आंतरिक तत्व, जिसमें लय, छंद, रचनात्मक सुसंगति, रीति, बिंब एवं प्रतीक मुख्य हैं और (2) बाह्य तत्व; जिसमें संरचना, रूप, शैली तथा शिल्पविधि मुख्य हैं। अभिव्यक्ति के इन बाह्याभ्यंतरिक तत्वों के सामंजस्य से ही काव्य का रूप निर्मित होता है। काव्यरूप का निर्माण अनुभूति और अभिव्यक्ति के आंतरिक समन्विति का परिणाम है। जब तक रूप रचनाकार की रचनाशक्ति के साथ विकासशील और सर्जनात्मक होता है तभी तक उसकी जीवंतता एवं सजीवता कायम रहती है। काव्यरूप का स्वरूप शास्त्रीय बनते ही जड़ीभूत हो जाता है। उसमें विकास एवं आविष्कार की संभावना समाप्त हो जाती है। हरबर्ट रीड के अनुसार काव्य और दूसरी कलाओं के रूप (फार्म) के दो प्रकार होते हैं: (1) आवयविक रूप (आर्गेनिक फार्म) और (2) अमूर्त रूप (आब्स्ट्रैक्ट फार्म)।[5] जब किसी कलाकृति में वस्तु तथा संरचना की द्वंद्वात्मक-एकता से रूप का विकास होता है तो उसे आवयविक रूप कहा जाता है। जब कोई रूप स्थिर हो जाता है, उसका एक प्रतिमान के रूप में प्रयोग होने लगता है और कलाकार कला की अंतर्निहित आविष्कारशील प्रक्रिया की गतिशीलता को त्यागकर पूर्व निर्धारित रचना विधान के अनुरूप ही विषयवस्तु का स्वरूप निर्मित करता है तो रूप अमूर्त होता है। स्वच्छंदतावादी रचना में आवयविक रूप का आग्रह होता है, शास्त्रीयतावाद अमूर्त रूप का समर्थक है।

प्राय: काव्य का आवयविक रूप काव्यशास्त्र के रूढ़ नियमों से मुक्त और कवि की सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम होता है। एक समर्थ कवि अभिव्यक्ति के स्तर पर सर्जनशील होकर ही नवीन काव्यरूप की उद्भावना में सफल होता है। ऐसा आवयविक काव्यरूप काव्यशास्त्र के सम्मुख एक नया आदर्श उपस्थित करता है, एक नए सिद्धांत को जन्म देता है तथा काव्यरूप की व्याख्या के एक नए दृष्टिकोण की संभावना पैदा करता है। सूरसागर में ऐसा ही आवयविक काव्यरूप है, जिसमें मध्यकाल में प्रचलित अनेक काव्यरूपों का समन्वय और विकास है। सूरसागर में प्रबंध और मुक्तक का एक साथ विनियोग है और काव्य, संगीत चित्र तथा नृत्य आदि कलाओं का समन्वित रूप भी है। सूरसागर के काव्यरूप की यह विशेषता है कि वह अपनी संपूर्णता में एक महाकाव्य है, उसके भीतर अनेक खंड काव्यों का नियोजन है, उसके संदर्भ सापेक्ष पद गेय गीत के लक्षणों से युक्त हैं और विनय के पद विशुद्ध चिंतनमूलक अंतवृत्ति निरूपक गये मुक्तक हैं। गीतात्मक प्रबंधात्मकता सूरसागर के काव्यरूप की अपनी मौलिक विशेषता है।

NMDC-065

संगीत सूरसागर के काव्यरूप के निर्माण में नियामक तत्व हैं। सूरसागर की विशिष्ट गीतात्मक प्रबंधात्मक में श्रीकृष्ण की ब्रजलीला की रसात्मक अनुभूति, जीवन की कथा, चरित्र की घटनापूर्णता, कृष्ण का ऐश्वर्यमय एवं माधुर्यमय रूप, प्रेम और सौंदर्य का अमर संगीत, भावपूर्ण गोपियों का कृष्णार्पित जीवन तथा भावुक भक्त का आत्मनिवेदन आदि परस्पर घुलमिल कर एक रूप हो गए हैं। यही कारण है कि सूरसागर में प्रबंधात्मकता और प्रगीतात्मकता का सहज एकीकरण हुआ है। सूरसागर में प्रबंध का आधार लोकजीवन में प्रचलित कृष्णकथा है। इसमें कथा की पुनर्रचना और प्रगीत की तन्मयता की अभूतपूर्व एकता है, इसलिए पाठक कथारस और अनुभूति की तीव्रता का एक साथ अनुभव करते हैं।

क्या सूरसागर एक महाकाव्य है ?

महाकाव्य एक ऐसा काव्यरूप है जिसमें किसी देश के एक युग के जीवन के रागपक्ष, ज्ञानपक्ष और कर्मपक्ष का समन्वित रूप उद्घाटित होता है। उसमें एक राष्ट्र के मानस के अतीत और वर्तमान के अनुभव व्यक्त होते हैं। महाकाव्य में सामूहिक जीवन के भाव और अनुभूतियों की व्यंजना होती है। प्रबंधकाव्य में महाकाव्य श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अपने युग के सामूहिक मानस का विशाल चित्र होता है। महाकाव्य के आतंरिक और बाह्य विधायक तत्वों एवं लक्षणों के विषय में कवि तथा काव्यशस्त्रियों की धारणाएं बदलती रही हैं। भारतीय काव्य परंपरा में रामायण (बाल्मीकि), महाभारत (व्यास), रघुवंश और कुमारसंभव (कालिदास), शिशुपालवध (माघ), किरातार्जुनीय (भारवि), पृथ्वीराज रासो (चंद), पद्मावत (जायसी), रामचरितमानस (तुलसीदास), प्रियप्रवास (हरिऔध), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कामायनी (प्रसाद), आदि प्रमुख महाकाव्य हैं। यूरोपीय साहित्य में इलियड, ओडेसी (होमर), डिवाइन कामेडी (दांते), एनीड (वर्जिल), पैराडाइज लास्ट (मिल्टन), रिवोल्ट ऑफ इस्लाम (शेली) और द वेस्टलैंड (टी.एस. इलियट) को महाकाव्य या महाकाव्यात्मक कृतियां कहा जाता है। इन दोनों परंपराओं के महाकाव्यों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य की आत्मा और आकार में निरंतर परिवर्तन होता रहा है।

भारतीय महाकाव्यों की परंपरा में रामायण तथा महाभारत के समक्ष साकेत और कामायनी को रखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि रामायण महाभारत से साकेत और कामायनी की आत्मा और रूप में पर्याप्त भिन्नता है। अगर रामायण या महाभारत को ही महाकाव्य का आदर्श रूप माना जाए तो साकेत और कामायनी को महाकाव्य मानना कठिन होगा। किंतु यह सत्य है कि भारतीय महाकाव्य परंपरा में ये चारों काव्य महाकाव्य के रूप में स्वीकृत और समादृत हैं। इसलिए काव्यशास्त्र द्वारा निर्धारित स्थूल लक्षणों के आधार पर ही किसी काव्य ग्रंथ का महाकाव्यत्व निर्धारित नहीं किया जा सकता। महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं : (क) विकासशील महाकाव्य

NMDC-065

और (ख) कलाप्रधान महाकाव्य। अनेक आलोचकों ने विकासशील महाकाव्य को ही वास्तविक महाकाव्य माना है। रवींद्रनाथ टैगोर का मत है कि 'महाकाव्य हमारे ज्ञात साहित्य के अंदर केवल चार ही हैं..... इलियड, ओडेसी, रामायण और महाभारत। अलंकार-शास्त्र के कृत्रिम नियमों के आधार पर रघुवंश, भारवि, माघ या मिल्टन के पैराडाइज लास्ट, वाल्तेयर के हारियड आदि को महाकाव्य की पंक्ति में जबर्दस्ती बिठाया जाता है। प्राय: आलोचकों ने अलंकारशास्त्र के कृत्रिम नियमों के अनुकूल न पाकर तथा उसकी प्रकृति की सच्ची पहचान के प्रयास के अभाव में सूरसागर को महाकाव्य मानने से इनकार कर दिया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों का विस्तृत विवेचन हुआ है। महाकाव्य में मुख्य तत्व हैं – कथा, नेता या नायक, रस, प्रकृति एवं परिस्थितियों का वर्णन, सर्गबद्धता, छंद, शैली तथा उद्देश्य। वैदिक साहित्य से लेकर विभिन्न पुराणों तक तथा महाभारत से जयदेव के गीतगोविंद पर्यंत भारतीय वाङ्मय में परिव्याप्त कृष्णकथा भारतीय जनमानस का अविभाज्य अंग है। वह भारतीय जनमानस का एक प्रबल संस्कार बन गई है। सूरसागर में श्रीकृष्ण की कथा भागवत और महाभारत पर आधारित कथा ही है, लेकिन उसमें विदुर जन्म, जयविजय कथा, पार्वती विवाह, ध्रुवकथा, पुरंजन कथा, जड़भरत कथा, नारद उत्पत्ति, सुदामा चरित और जनमेजय आदि की कथाएं परवर्ती काल की हैं जो मूल कथा के साथ जुड़ी हुई हैं। सूरसागर की कृष्णकथा लोकजीवन में प्रचलित कृष्णकथा है। इसमें कथा के मिथकीय, ऐतिहासिक और लोकप्रचलित रूपों का समन्वय है। सूरसागर का कृष्णचरित्र स्फुट सामग्री का संकलन मात्र नहीं है। बल्कि उसमें कथा का विकसित रूप है। सूरसागर का कथानक सुसंबद्ध और सुघटित नहीं प्रतीत होता है। ब्रजेश्वर वर्मा के अनसुार इसके कथानक की विशृंखलता के तीन कारण हैं : (1) गीत पदों की शैली, (2) विभिन्न प्रकार के पदों, पद समूहों और खंडकथानकों की स्वतंत्र प्रकृति, और (3) सूरसागर के काव्यरूप की प्रकृति की सच्ची पहचान के बिना उसके पदों और कथाप्रसंगों में मनमाना परिवर्तन और संकलन।[7] सूरसागर की कथा की असंबद्धता का एक कारण कृष्णकथा की अत्यंत लोकप्रियता है। कवि ने कथा के विशृंखलित सूत्रों को कल्पनाशील सहृदय के बुद्धिविनियोग के लिए छोड़ दिया है। कथानक की असंबद्धता तो अनेक आधुनिक महाकाव्यों में भी है। सूरसागर का कथानक इतना असंबद्ध और विशृंखलित नहीं है जिससे पाठक को रस के आस्वादन में व्यवधान प्रतीत हो।

सूरसागर की कथा का संरचना की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसमें कथा विभाजन कांड (रामायण), पर्व (महाभारत), आश्वास या संधि (प्राकृत काव्य), खंड (पद्मावत), सर्ग (रघुवंश आदि), सोपान (रामचरितमानस) आदि में नहीं हुआ है। सूरसागर के द्वादश स्कंधात्मक रूप में कथा पुराणों की पद्धति के अनुसार स्कंधों में विभाजित है। लेकिन सूरसागर

NMDC-065

का यह रूप वल्लभ संप्रदाय के सेवकों के प्रयास के देन है। सूरसागर की कथा का विभाजन लीलाओं में हुआ है, इसलिए यह सर्गबद्ध न होकर लीलाबद्ध है। विनय के पद इस लीलाबद्ध महाकाव्य की भूमिका के रूप में प्रस्तुत हैं जिनमें वंदना, संत प्रशंसा, हरिविमुख (खल) निंदा, नाम महिमा तथा आत्मनिवेदन के द्वारा कवि ने अपनी मनोभूमिका एवं भावी काव्य की पृष्ठभूमि का उद्‌घाटन किया है। इस लीला क्रम के अनुसार सूरसागर को सात भागों में बांटा जा सकता है: (1) विनय के पद (2) बाललीला, (3) वृंदावनलीला (4) माधुर्यलीला (अनुराग, चीरहरण, पनघटलीला, दानलीला, रासलीला और विरहलीला), (5) मथुरालीला (6) द्वारिकालीला और (7) अवतार लीला। सूरसागर में कथा रस का अव्याहत प्रवाह उसके कथानक की एकात्मकता का प्रमाण है।

सूरसागर के नेता या नायक लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण हैं। सूरसागर में श्रीकृष्ण का दिव्य रूप है और उनका मानवीय रूप भी। यद्यपि सूरसागर में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का रागपक्ष ही प्रबल है किंतु उनके व्यक्तित्व में ज्ञानपक्ष और कर्मनिष्ठ पक्ष विस्मृत नहीं हैं। सूरसागर में लोकपीड़न असुरपक्ष है और असुरों के संहार में श्रीकृष्ण की लोकहित की चिंता व्यक्त हुई है। अवतार लीला के दो पक्ष हैं। (1) साधुहित, और (2) असाधु अहेर। सूरसागर के श्रीकृष्णलीला पुरुषोत्तम ब्रह्म ही हैं, किन्तु उनका मानवीय रूप इतना उदात्त है कि दोनों में अभेद ही दिखाई पड़ता है। सूरसागर में अभिव्यक्त ईश्वर की मानवीयता तथा मानव की ईश्वरता का अद्वैत ही कृष्णचरित्र की विशेषता है।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से सूरसागर में शृंगाररस ही अंगीरस है, शेष वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक आदि रस इसके सहायक हैं। वात्सल्य के रसत्व की प्रतिष्ठा सूर की प्रतिभा की देन है। भक्तिशास्त्र के अनुसार सूरसागर का प्रधान रस मधुर रस या उज्जवल रस है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की एक धारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरसागर का 'बीज भाव' प्रेम है। इस प्रेम के ही विभिन्न रूपों और पक्षों को जीवन संदर्भ के बीच सूरदास ने सूरसागर में व्यक्त किया है। सूर के कृष्ण जिनसे प्रेम करते हैं उनकी रक्षा भी करते हैं, इसलिए सूरसागर में लोकमंगल की साधनावस्था भी है, केवल सिद्धावस्था नहीं। सूरसागर का प्रेम मानव जीवन का प्रेम है। वह लोक से न्यारा नहीं है, सामंती समाज के बंधनों से मुक्त है, सामंती समाज से न्यारा है।

सूरसागर में वस्तु वर्णन का भी अभाव नहीं है। उसमें प्रकृति का वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार का वर्णन है। शृंगार में सूरदास ने प्रकृति का उद्दीपन विभाव के अंतर्गत वर्णन किया है, जिनमें पावस प्रसंग तथा चंद्रोपालंभ आदि मुख्य हैं। सूरसागर में प्रकृति का आत्मनिष्ठ वर्णन

NMDC-065

ही अधिक है। संयोग में प्रकृति का सुखद और वियोग में दुखद रूप चित्रित है। सारी ब्रजलीला प्रकृति की गोद में हुई है, इसलिए लीलावर्णन के साथ ही प्रकृति वर्णन भी है।

शैली की दृष्टि से सूरसागर स्पष्टत: गीतात्मक महाकाव्य है। इसमें राग रागिनी पर आधारित शास्त्रीय संगीत तथा लोकगीत की पद्धति का उपयोग है। सूरसागर के पदों में गेयता को कायम रखते हुए सूरदास के छंदों का प्रयोग किया है। प्राय: कवि ने छंदों के साथ टेक या ध्रुव को जोड़कर उसे गेय बनाया है। ऐसे गेय पदों में उपमान, कुंडल, शोभन, रूपमाला, सार, सरसी, समान, मत्त सवैया, विष्णुपद, हंसाल आदि छंदों का प्रयोग किया है।[8] वर्णनात्मक छंदों में चौपाई, दोहा, रोला आदि तथा उससे निर्मित अनेक नवीन छंदों का भी प्रयोग हुआ है। सूरसागर के दोहा चौपाई में लिखित-कथात्मक पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। सूरदास की यह अपनी विशिष्टता तथा मौलिकता है कि उन्होंने गेय पदों के अंतर्गत राग-रागिनी की शास्त्रीय संगीत पद्धति के भीतर ही छंदों का प्रयोग किया है। कवि का ध्यान सदा पदों की गेयता तथा भाव की सफल व्यंजना पर केंद्रित रहा है, इसलिए छंदों का रूप परिवर्तित हुआ है।

चंद्रबली पांडेय ने सूरसागर को लीला प्रबंधकाव्य या भाव प्रबंधकाव्य कहा है और उसे कथा प्रबंधकाव्य, वस्तु प्रबंधकाव्य या चरित प्रबंधकाव्य नहीं माना है।[9] लेकिन डा. ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर को कृष्णचरित का महाकाव्य लिखा है।[10] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार गीत काव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर है।[11]

सूरसागर को काव्यशास्त्रों के लक्षणों के आधार पर महाकाव्य कहा जा सकता है और हिंदी के आलोचकों ने उसे महाकाव्य माना भी है। वस्तुत: सूरसागर का महाकाव्य उसके आधार में कम, उसकी आत्मा के रूप में अधिक प्रकट हुआ है। महाकांव्य अपने युग की सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करता है। सूरसागर में मध्यकाल की जन संस्कृति के उत्थान की सफल अभिव्यक्ति है। उसमें वैष्णवधर्म और जन संस्कृति के तत्वों का समन्वय है, भक्ति आंदोलन के काल के विचारधारात्मक द्वंद्व का संश्लिष्ट चित्रण है। सूरसागर में तद्युगीन विलासपूर्ण सामंती जीवन का प्रतिबिंब है। और सामान्य जनता के जीवन का चित्र भी है। सूर की समतावादी जीवन दृष्टि में उस काल की जनता के सामाजिक जीवन की आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई है। सूरसागर में उस युग की समग्र कला चेतना और कला परंपरा का सामंजस्य है। सूरसागर अपने युग के जीवन, संस्कृति, विचारधारा और कला चेतना का प्रतिनिधि काव्य होने के कारण महाकाव्यात्मक रचना है। अपने विशिष्ट गीतात्मक स्वरूप के कारण सूरसागर एक नए प्रकार का महाकाव्य है। यह साहित्य की शास्त्रीय परंपरा से स्वतंत्र लोक जीवन के गीतों की संरचना के अनुसार रचित गीतात्मक महाकाव्य है।

NMDC-065

कथा, भाव विचार, संरचना, शिल्प और भाषा के स्तर पर लोकजीवन से गहरे संबंध के कारण ही सूर के पद आज भी जनजीवन में इतने लोकप्रिय है। सूरदास मनुष्य जीवन की समग्रता के कवि हैं। सूरसागर के महाकाव्यात्मक स्वरूप पर विचार करने के बाद अब उसके गीतात्मक रूप पर भी विचार करना जरूरी है।

गीतकाव्य का स्वरूप और परंपरा

गीतकाव्य व्यक्ति के संवेदनशील चित्त में रूपायित भावनाओं का आवेगमय लयात्मक सहज प्रकाशन है। भावनाओं की तीव्र आत्मानुभूति गीतकाव्य का प्राण है और लयात्मक निश्छल अभिव्यक्ति उसका सार्थक रूप। गीतकाव्य में कवि के व्यक्ति चित्र और लोक चित्त का एकात्म्य जरूरी होता है। इस एकात्म्य के कारण ही गीतकाव्य में 'तदाकार परिणति' की क्षमता होती है। गीतकाव्य में काव्यानुभूति के साथ गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता संभव होती है। गीतकाव्य वैयक्तिक अनुभूतियों की व्यंजना है, किंतु उसमें लोकहृदय का स्पंदन भी होता है, यही कारण है कि वैयक्तिक गीत समूहगीत बन जाता है।

गीतकाव्य में नाद तत्व या संगीत संवेदना से उद्‌भूत लयात्मक बोध अनिवार्य होता है। गीत और संगीत का संबंध आत्मिक है, आंतरिक है। गीतकाव्य में भावों की गति लयात्मक होती है। सूज़न के. लैंगर के अनुसार संगीत भावात्मक जीवन का सहधर्मी है। भावों के विकास और अवरोह, प्रवाह और संग्रह, द्वंद्व और संकल्प, गति, विराम, उत्तेजना, शांति, सूक्ष्म सक्रियता, स्वप्निल अगति, और आंतरिक अनुभूति की संपूर्ण प्रक्रिया की संगीत की स्वर संगति से घनिष्ठ समानता है।[12] यही कारण है कि संगीत गीतकाव्य का सहज अंग है। गीतकाव्य में कहीं संगति से गीत काव्यत्व दब जाता है और कहीं काव्यत्व से संगीत अनुशासित होता है लेकिन श्रेष्ठ गीतकाव्य में काव्य और संगीत का पूर्ण सामंजस्य होता है। गीतकाव्य में संगीत के तीन स्वर होते हैं: (1) शब्द संगीत, (2) नाद संगीत, (3) भाव या विचार संगीत। शब्द संगीत और नाद संगीत से क्रमशः अर्थ संगीत तथा लय संगीत की रचना होती है। लय चेतना तथा संरचना चेतना का बोध गीतकाव्य की रचना के लिए आवश्यक है।[13] लय चेतना के कारण ही गीतकाव्य के विभिन्न आंतरिक तत्वों से समन्विति होती है और संरचना चेतना से उसका स्वरूप निर्मित होता है। गीतकाव्य का लय तत्व ही सहृदय को प्रभावित करता है। लय से गीत की आत्मा और रूप में रूपात्मक संगति स्थिर होती है। भावों या विचारों की आंतरिक सुसंगति से ही भाव या विचार के संगीत का सृजन होता है। गीतकाव्य में संगीत की प्रधानता या न्यूनता के आधार पर उसके दो प्रकार होते हैं: गेय गीत और पाठ्य गीत। विषयवस्तु की दृष्टि से गीत के दो प्रकार होते हैं। भावात्मक गीत और चिंतन मूलक गीत।

NMDC-065

भारतीय काव्य परंपरा में काव्य और संगीत या गीत का आंतरिक संबंध अत्यंत प्राचीन है। वेदों में काव्य और संगीत का सहज संबंध प्रकट है। वैदिक ऋचाओं को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों में गाने की परंपरा प्राचीन है। सामवेद संगीत का आदि स्रोत है। वेद के सूक्तों में देवताओं की छंदमय स्तुतियां है और प्राकृतिक तत्वों का महात्म्य और महिमा गान है। ऋग्वेद के उषा विषयक मंत्रों में रूप सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य की प्रभावी व्यंजना है, उसमें प्रकृति की रूपात्मकता, सौन्दर्य एवं शक्ति की सजीव साकारता का आकर्षक वर्णन है। वेदों में काव्य के लयात्मक आनंद और चेतना की सुषमा का सुंदर संयोग है। वैदिक ऋषि कवि और मनीषी दोनों हैं, इसलिए वेदों में भावों के सौन्दर्य और आत्मा की विभिन्न दशाओं की व्यंजना है। वेदों में व्यक्त सत्य के सहज अनावृत्त सुंदर और प्रिय स्वरूप में ही काव्यत्व है। वैदिक गीत प्रधानत: गेय हैं, उनमें सामाजिक रागात्मक अनुभूति की व्यंजना है क्योंकि ये गीत सामूहिक उत्सवों में गाए जाते थे। वैदिक काल का जीवन सामूहिक था, वैयक्तिक भावना का विकास नहीं हुआ था इसलिए मंत्रों की भावधारा एवं विचारधारा का मुख्य स्वर सामूहिकता का है।

आदि कवि वाल्मीकि का प्रथम श्लोक वेदना, आकुल द्रवीभूत चितवृत्ति की स्वत: प्रवर्तित लयात्मक छंदोबद्ध व्यंजना है जिसमें संवेदना और सहानुभूति की प्रधानता है। क्रौंच की व्यथा से कवि की करुणार्द्र हततंत्री की कोमल झंकार से नि:सृत शोक ही श्लोक बन गया है। इस प्रकार तीव्र भावानुभूति की लयात्मक सहज व्यंजना में गीतकाव्य का मूल रूप प्रकट है। संभव है रामायण की कथा का कोई लोकप्रचलित गेय गीत रूप विद्यमान था क्योंकि लवकुश द्वारा राम के दरबार में वाल्मीकि रचित रामायण के गाए जाने की कथा प्रचलित है। परवर्ती काल के संस्कृत के नाटकों में गीतों की नियोजना है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम और विक्रमोर्वशीयम आदि नाटकों में भी प्राकृत और अपभ्रंश में लघु दीर्घ गीत हैं, जिनमें विभिन्न मनोदशाओं की अभिव्यक्ति है। कालिदास का मेघदूत तो एक सुदीर्घ विरह गीत ही है। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत और अपभ्रंश में गीत रचना की जो प्रकृति थी, वह निश्चय ही लोकगीतों से प्रभावित थी। प्राकृत और अपभ्रंश में प्रेम और सौंदर्य विषयक गीतों का प्राचुर्य है। प्राकृत और अपभ्रंश काल के गीतकाव्य की यह विशेषता है कि उसमें गीत और संगीत का पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य स्पष्ट होने लगा था। प्राकृत और अपभ्रंश काल में गीतकाव्य लोकगीत से प्रभावित होने के कारण भाव और अर्थ प्रधान है। उसमें संगीत्मकता है, लेकिन संगीत का आग्रह कम है। प्राकृत और अपभ्रंश काल के इस गीतकाव्य से प्रभावित जयदेव का गीतगोविंद है, जो संस्कृत गीतकाव्य की पराकाष्ठा है। कुछ विद्वानों का मत है कि जयदेव का गीतगोविंद पहले अपभ्रंश में लिखा गया था और बाद में संस्कृत में। जयदेव के गीतगोविंद में भावों के अनुकूल रागों का प्रयोग है, राग रागिनि तथा तालों का निर्देश है; भक्ति और शृंगार का समन्वय है और कोमल कांत पदावली में पद रचना है। गीतगोविंद में गीतिकाव्य और संगीत का सामंजस्य है। गीतगोविंद में नाटकीय संगीत है,

NMDC-065

इसलिए इसे ग्राम्य रूपक गीतिनाट्य या संगीतरूपक कहा जाता है। संगीत के शास्त्रीय विधान के अंतर्गत राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं के गान की जो पुष्ट परंपरा जयदेव के गीतगोविंद में मिलती है, उसी का विकसित रूप सूरसागर में उपलब्ध है।

लोकभाषाओं के गीतकाव्य की परंपरा का विकास सिद्धों के पदों में हुआ जिनकी भाषा को पुरानी हिंदी या हिंदी का प्राचीन रूप कहा जाता है। वास्तव में सिद्धों के पदों की भाषा में हिंदी के प्रारंभिक रूप के दर्शन होते हैं। इन बौद्ध सिद्धों ने चर्या गीतियों की रचना की, जिन्हें चर्यापद भी कहा जाता है। भुसुकपा (नवीं शताब्दी) की 'सहज गीति', लीलापा की 'विकल परिहारगीति' लुइपा की लुइपाद गीतिका' शबरपा की 'चित्तगुह्य गम्भीरार्थगीति', 'महामुद्रा-ग्वज्रगीति', सहजयानी सरहपा की 'दोहा कोश गीति', 'नामचर्यागीत', 'दोहा-कोशोपदेश गीति', तत्वोपदेश शिावर दोहागीतिका', वसंततिलक दोहाकोश गीतिका' कम्बलपा की 'कम्बल गीतिका आदि प्रमुख रचनाएं है। इसके अतिरिक्त डोम्मिपा, घामपा, महीपा, विरुपा, ककणपा इत्यादि के गीतिग्रंथों का उल्लेख तिब्बती स्तन्-ग्यूर में मिलता है।[24] इन चर्या गीतियों के पद मात्रिक वृतों में हैं और उनमें विशेषत: पादाकुलक, पज्झटिका, पद्धड़ी तथा चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। इनमें लयात्मकता तथा गेयता है और राग निर्देश भी। पद की दूसरी पंक्तियों को साधारणत: ध्रुव अथवा ध्रुवक कहा जाता है तथा पद के अंत में रचयिता का नाम भी है। इस प्रकार इन चर्या पदों में मध्यकाल के निर्गुण सगुण भक्तों की पद शैली की प्रमुख विशेषताओं की मूल परंपरा है। चर्या पदों में तत्वचिंतन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति की प्रधानता है। इनमें धार्मिक उपदेश, आचार मूलक उपदेश तथा तांत्रिक साधना के रहस्यों का व्याख्यान है। इन चर्या पदों में काव्यत्व का अभाव ही है, किंतु उनमें तद्युगीन भाषा का स्वरूप सुरक्षित है। इन सिद्धों की पद शैली का ही प्रभाव नाथों के योग साधनापरक पदों में दिखाई पड़ता है। किंतु नाथों के पदों में ध्रुवक को टेर या टेक कहा गया है और यही टेक मध्यकालीन संत कवियों के पदों में वर्तमान है। हिदी साहित्य के आदिकाल में गीतों में स्वर और भाव की समान प्रमुखता दिखाई पड़ती है। वीर-गाथाओं तथा वीरगीतों में युद्ध और प्रेम विषयक गीतों की रचना हुई, जिन पर लोकगीतों की गेयता एवं सहज भाव सौंदर्य का प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर अमीर खुसरो के संगीतपरक पदों में गीत और संगीत का संयोग दिखाई पड़ता है। अमीर खुसरो की संगीतपरक पद रचनाप्रणाली का स्पष्ट प्रभाव मध्यकाल के सूरदास जैसे कवियों के पद साहित्य पर पड़ा है।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में गीतकाव्य की दो धाराएं हैं : (1) निर्गुण पद साहित्य और (2) सगुण लीला पद साहित्य। निर्गुण संतों में कबीर, नानक और दादू आदि प्रमुख हैं। इन संत कवियों के पदों की रचना शैली पर सिद्धों और नाथों की पद परंपरा विषयवस्तु और रचनाशिल्प का प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर के 'सबद' गेय पद हैं। कबीर ने बसंत, चांचर

NMDC-065

बेलि, बिरहुली और हिंडोला आदि लोकगीतों को भी अपनाया और उनमें गीतों की रचना की। कबीर के 'सबद' के राग निर्दिष्ट हैं तथा पदों के रागों के निर्देश की यह परंपरा गुरुग्रंथ साहब में भी है और दादू के पदों में भी। राग निर्देष पूर्वक पद रचना की इस पद्धति को सूरदास ने भी अपनाया है 'सूरदास के विनय के पदों पर विषयवस्तु तथा रचनाशैली दोनों दृष्टियों से कबीर आदि संत कवियों के पद साहित्य का प्रभाव है। संत कवियों के पदों में तत्व चिंतन, योगसाधन रहस्यानुभूति, आत्मानुभूत भाव तथा प्रकृति के चेतन रूप की व्यंजना है। कबीर के पदों में वैयक्तिक चित्त और लोकचित्त का सामंजस्य है; आत्मचेतना तथा लोकचेतना की सुसंगत समर्थ अभिव्यक्ति है। कबीर के जिन पदों में तीव्र भावानुभूति है, निश्छल आत्मनिवेदन है, निर्मल विचार प्रवाह है वहां काव्यत्व है और गीतिकाव्य का उत्कर्ष है; परंतु जहां उलझाऊ तत्व चिंता है, आध्यात्मिक रहस्यानुभवों की प्रतीकात्मक व्यंजना है, कोरा उपदेश है या साधनापरक योग की चर्चा है वहां काव्यत्व का अभाव है। कबीर के पदों में अनुभूति प्रसूत भावधारा तथा चिंतनसिद्ध विचारधारा का समानांतर प्रवाह दिखाई पड़ता है। हिंदी साहित्य में चिंतनमूलक तथा रहस्यानुभूतिपरक पदों के प्रणेता के रूप में कबीर सदा समादृत हैं।

हिंदी साहित्य में गीतकाव्य का चरम उत्कर्ष ब्रजभाषा के राधाकृष्ण लीला विषयक पदों में दिखाई पड़ता है, जहां स्वर साधना और भावसौंदर्य का पूर्ण सामंजस्य है। राधाकृष्ण लीला की जो लोक प्रचलित गेय परंपरा हाल की गाथा सप्तशती में प्रस्फुटित हुई, क्षेमेंद्र के दशावतार वर्णन में सुरक्षित रही तथा जयदेव ने जिसे अपने प्राणरस से सींचकर पल्लवित पुष्पित किया, वह अपनी पूर्ण आत्मशक्ति तथा रूप सौंदर्य से सुसज्जित होकर अत्यंत मनोहर रूप मे विद्यापति की पदावली में अभिव्यक्ति हुई। विद्यापति के पदों में सौंदर्य चेतना का आलोक भावानुभूति की तीव्रता, घनत्व एवं व्यापकता और लोकगीत तथा संगीत की आंतरिक सुसंगति है। कुछ आलोचकों का मत है कि विद्यापति के गीत लोकगीत के अधिक निकट है और उनमें संगीत की शास्त्रीयता का अभाव है। विद्यापति के गीतों में संगीत के तत्वों का अभाव नहीं है क्योंकि लोचन कवि ने रागतरंगिनी में विद्यापति के गीतों की संगीतात्मकता का विशद विवेचन किया है। विद्यापति के गीतों का प्रभाव सूरदास के लीला पदों के रूप पर दिखाई पड़ता है। विद्यापति के पहले ही मैथिली में गीतों की रचना अमृतकर (चौदहवीं शती) ने की थी, जिनका एक पद रागतरंगिनी में प्राप्त है।[15]

विद्यापति के पूर्ववर्ती मैथिली कवि उमापति उपाध्याय ने अपने संस्कृत प्राकृत मैथिली मिश्रित कीर्तिनिया नाटक 'पारिजात हरण' में गेयपदों की रचना की है, जिसमें रागों का निर्देश है। इस नाटक में आए पदों के अतिरिक्त उनके कुछ स्फुट पद भी मिलते हैं।[16] विद्यापति के पश्चात पद्रहवीं शती में मैथिली गीतकाव्य की परंपरा समृद्धतर हुई। विद्यापति और सूरदास दोनों ही भक्ति आंदोलन के कवि है, दोनों के काव्य में, लोकगीत की मौखिक परंपरा का सर्जनात्मक

NMDC-065

रूप व्यक्त हुआ है। ये दोनों ही हिंदी जगत के दो जनपदों की भाषा के ग्रामगीतों के कलात्मक रूप के निर्माता और उन गीतों में जन संस्कृति के रचनाकार हैं।

सूरदास के गीतकाव्य के स्वरूप के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान सूरपूर्व ब्रजभाषा के कवियों का है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला विषयक पदों के रचयिताओं में निबार्क संप्रदाय के तीन कवि श्री भट्ट (सं. 1352), हरिव्यास देवाचार्य (सं. 1320 वि.) और परशुराम देव (सं. 1450 वि.), उल्लेखनीय है।[17] इन तीनों भक्त कवियों का समय विवादग्रस्त हैं, किंतु सूरदास के पहलें उनकी स्थिति कुछ विद्वानों ने मानी है।[18] इनके पदों में रागों का निर्देश है तथा काव्य और संगीतात्मकता का सुंदर सामंजस्य है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णालीला गायक कवि विष्णुदास (संवत 1492 वि.) हैं।[19] जिन्होंने सूरदास के लगभग अर्द्धशताब्दी पहले ऐसे पदों की रचना की जिसमें भक्त हृदय की भावप्रवणता और श्रीकृष्ण की ब्रजलीला की व्यंजना है। विष्णुदास के पदों के राग भी निर्देशित हैं। सूरसागर के पदों की संगीतात्मकता के स्वरूप निर्माण में ब्रजभाषा के सूरपूर्व संगीतज्ञ कवियों के पद साहित्य का विशेष महत्व है। ऐसे संगीतज्ञ कवियों में गोपाल नायक, बैजू बाबरा तथा तानसेन का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी उच्च कोटि के संगीताकार थे। इनके पदों में काव्यत्व का अभाव है। किंतु, संगीत का आग्रह प्रबल है। तानसेन ने अपने पदों में संगीत के विभिन्न अंग उपांगों का उल्लेख किया है। सूरदास ने भी अपने अनेक पदों में संगीत की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, शास्त्रीय संगीत के अंत उपांगों का उल्लेख किया है तथा दो या दो से अधिक रागों के संयोग से नए रागों का निर्माण किया है। सूरसागर में संगीत के तीन तत्व[20] — गीत, वाद्य तथा नृत्य के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया गया है। सूरदास के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्वामी हरिदास के ध्रुपद विशेष विख्यात हैं। स्वामी हरिदास के केवल 126 ध्रुपद मिलते हैं ; जिनमें से 18 उपदेशात्मक हैं जो सिद्धान्त के पद कहे जाते हैं और शेष 108 राधाकृष्ण की निकुंजलीला विषयक है, जिनका संग्रह श्री केलिमाला नाम से हुआ है। स्वामी हरिदास के ध्रुपद संगीत की शास्त्रीय परंपरा के अनुरूप है।[21] इनके पदों में तन्मयता और तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं। सूरसागर में ध्रुपद पर रचना की शैली का प्रभाव है।

सूरदास के गीतों की रचनाशैली का एक स्रोत उस काल के ग्राम गीत हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही अनुमान किया है कि सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परंपरा का — चाहे वह मौखिक रही हो — पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।'[22] सूरसागर के गीतकाव्य के स्वरूप के निर्माण में भारतीय गीतकाव्य परंपरा के अनेक ज्ञात अज्ञात कवियों का प्रत्यक्ष परोक्ष प्रभाव है। सूरसागर के मानस में संचित गीत संस्कार उनकी अपनी संगीत संवेदना, गीतकाव्य की परंपरा के प्रभाव और लोकगीतों की मौखिक परंपरा के योग से उनके गीतकाव्य का स्वरूप निर्मित हुआ है। सूरसागर में कवि का लक्ष्य आत्मनिवेदन या आत्माभिव्यक्ति है।

NMDC-065

गीतकाव्य की आत्मा और रूप के विधायक तत्वों का विश्लेषण आलोचकों ने किया है। सारत: गीतकाव्य के निम्नांकित तत्व माने गए हैं :

(1) आत्मानुभूति, (2) भाव घनत्व एवं भाव ऐक्य, (3) वैयक्तिकता, (4) संक्षिप्तता – अनुभूति और अभिव्यक्ति की, (5) संगीतात्मकता-शब्द, स्वर और भाव का संगीत, (6) कलात्मकता, (7) कृत्रिमता का अभाव, और (8) रूप वैविध्य।

सूरसागर के पदों में गीतकाव्य के ये सभी तत्व विद्यमान हैं। सूरसागर के विनय के पदों में कथा और विचार, अनुभूति के अंग बनकर व्यक्त हुए हैं। विनय के पद विशुद्ध गीत हैं, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में भक्त कवि की आत्मा का संगीत प्रतिध्वनित हो रहा है। उसमें कवि की तन्मयता, उसका आत्मसमर्पण तथा सघन भावानुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति की निष्कपटता और अभिव्यक्ति की सहजता का सूरसागर के विनय के पदों में चरम उत्कर्ष है। इन पदों में कहीं भी आरोपित भाव या कृत्रिम शैली नहीं है।

सूरसागर के लीला विषयक पद गीतकाव्य के एक नवीन स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। लीला के पदों में कथा तत्व भी विद्यमान है और सघन अनुभूति भी। वास्तव में सूरदास को लीलागान की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति से उपलब्ध हुई थी, उसकी मुख्य विशेषताएं है : (1) तीव्र भावानुभूति, (2) मनोरागों के अनुकूल संगीत की राग रागनियों का प्रयोग, (3) कृष्ण की ललित लीलाओं की रसात्मक व्यंजना (4) भक्ति और शृंगार का समन्वय, और (5) कोमलकांत पदावली। सूरसागर के लीला विषयक पदों में ये सभी विशेषताएं विद्यमान हैं। कृष्ण की लीलाओं को अपने गीतकाव्य का विषय बनाने के कारण उसमें कथातत्व का समावेश सूर ने किया है। सूर के गीतकाव्य में कथातत्व बाधक नहीं, साधक ही सिद्ध हुआ है। यहां कथा गीताकाव्य की पृष्ठभूमि है। गीतकाव्य में केवल भाव व्यंजना ही अनिवार्य नही है, उसमें कथा भी हो सकती है।[23] लेकिन कथा को भाव व्यंजना और रसानुभूति में बाधक नहीं होना चाहिए। सूरसागर के पदों में कंथा है, किंतु वह भावों की सघनता में डूबी हुई है।

सूरसागर के पदों में भाव और स्वर, काव्य और संगीत का आदर्श संयोग है। सूर की भावसाधना और स्वरसांधना के सहयोग से ही उनकी काव्यसाधना सफल हुई है। सूरसागर मे संगीत की राग रागिनी पद्धति का उपयोग है, उसमें भावों के अनुकूल रागों का प्रयोग है। मध्यकाल में प्रचलित सभी राग रागिनियों का प्रयोग सूरसागर में हुआ है, जिससे वह विशाल राग सागर बन गया है। उसमें शब्द संगीत, स्वरसंगीत और भावसंगीत का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। गीतकाव्य का आदर्श रूप जहां भाव व्यंजना और स्वरसाधना का सायुज्य हो, सूरसागर के पदों में प्रकट है।

NMDC-065

एक सफल गीतकार ईश्वर की भांति अपनी रचना में अपनी सत्ता की अदृश्य गोपनीयता कायम रखता है। वह अपनी रचना के भीतर, बाहर, परे या ऊपर स्थित होता है।[24] गीतकार का लक्ष्य है आत्मानुभूति को लोकानुभूति में परिणत करना। गीत में कवि की प्रत्यक्ष उपस्थिति रसात्मक बोध में बाधक सिद्ध होती है। सूरदास ने लीला विषयक पदों में आत्मसत्ता को यशोदा या गोपियों की सत्ता में विलीन कर दिया है या कहिए कि सूर की आत्मा ही कभी यशोदा और गोपियों के रूप में मूर्तिमती होकर लीला का गान करती है। यशोदा और कभी गोपियों के हर्ष विषाद में सूर की आत्मा का स्पंदन दिखाई पड़ता है। अपनी सृष्टि के साथ स्रष्टा की यह तदाकारता काव्य के सृजन की प्रक्रिया का एक विशेष गुण है।

सूरदास ने लीला के पदों में मन की सूक्ष्म तथा जटिल गतिविधियों का सटीक अंकन किया है और आत्मा की गतिविधि की भी व्यंजना की है। सूर के काव्य में मन की दशाएं ही नहीं हैं, आत्मा की भी दशाएं है। सूर के गीतकाव्य का मूल विषय है प्रेम; सौंदर्य उसका पूरक है। प्रेम के मानवीय और अलौकिक रूपों की आंतरिक संगति का ऐसा सिद्ध स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम के विविध रूपों की कलात्मक व्यंजना के कारण सूरदास के पदों में रूप वैविध्य का प्राचुर्य है।

सूरदास के गीतों में तीव्र भावुकता है, मनोरागों के रूप तथा गति के चित्र है सौंदर्य के आकर्षक बिंब है, प्रकृति की रूपात्मक छवियां है और अंत:चेतना का साकार रूप है। इन गीतों में तन्मयता और विदग्धता का पूर्ण संयोग है। सूरसागर के गीतों का भाव जगत अत्यंत व्यापक है। उसमें शांत, दास्य, वात्सल्य, संख्य और दांपत्य प्रेम के विविध रूपों की व्यंजना है। इन गीतों में कवि की आत्मीयता, सर्वत्र व्याप्त है। सूरसागर के लीलापदों में श्रीकृष्ण के जीवन के माध्यम से मानव जीवन के शाश्वत आकर्षण बिंदुओं का उद्घाटन है, उसमें बाल्यकाल, किशोर जीवन तथा यौवन के रूप और रस, भाव और कर्म तथा सौंदर्य और शील की प्रभावी अभिव्यंजना है। कवि की प्रबल आत्मीयता, भाव तन्मयता और अनुभूति प्रवणता के कारण ही सूरसागर के पदों का गीत सौंदर्य अत्यंत निखरा हुआ है। सूरसागर में शांत एवं दास्य के चिंतनमूलक गीत, वात्सल्य और श्रृंगार के भावात्मक गीत, प्रकृति संबंधी वर्णनात्मक गीत, दृष्टि कूट के प्रतीकात्मक गीत तथा लीला संबंधी आख्यानक गीत हैं। प्रेम सूरदास के गीतों का प्राण है, इसलिए सूरदास के अधिकांश गीतों की प्रेमगीत कहा जा सकता है।

लीला काव्य

सूरदास ने महाकाव्य और गीतकाव्य के अतिरिक्त अपने युग में प्रचलित दूसरे महाकाव्यों का भी प्रयोग किया है। सूरसागर में प्रयुक्त इन काव्यरूपों की संक्षिप्त चर्चा जरूरी है। लीलाकाव्य मध्यकाल का एक लोकप्रचलित काव्यरूप है। सूरसागर में लीला काव्य का प्रयोग है। सूरदास

ने सूरसागर के आरंभ में सगुण लीला पदों के गान का व्रत लिया है और उसका अंत तक निर्वाह किया है। लीला काव्य की सैद्धांतिक मान्यता है कि संपूर्ण सृष्टि रसरूप लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सच्चिदानंद स्वरूप के आविर्भाव तिरोभाव का परिणाम है। श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ नित्य लीला में सदैव रत रहते हैं और इस शाश्वत लीला का प्रकट रूप ही ब्रजलीला है। ब्रजलीला को भी नित्य माना गया है। भगवान की लीला के दो रूप हैं : माधुर्यमयी लीला और ऐश्वर्यमयी लीला। मथुरा और द्वारिका की लीला ऐश्वर्यमयी लीला है और ब्रजलीला माधुर्यमयी लीला है। ब्रजलीला के मुख्य उपादान हैं ब्रजभूमि, गौवें, गोपाल, मुरली, गोप और गोपी। ये सभी राधाकृष्ण लीला में भाग लेते हैं। यह लीलामार्ग या प्रेममार्ग है। राधाकृष्ण की ब्रजलीला के गान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। राधाकृष्ण की लीला के गान की परंपरा का मूल स्रोत लोकजीवन है, किंतु इसका वाङ्मय रूप भी प्राचीन रूप है। लीला काव्य की परंपरा का अत्यंत पुष्ट रूप जयदेव के गीतगोविंद में अभिव्यक्त हुआ है : जयदेव के गीतगोविंद के आधार पर लीला काव्य की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है :

(1) राधाकृष्ण की प्रेमलीला विषयवस्तु है (2) काव्य, संगीत और नृत्य का संयोग, (3) मनोरागों के अनुकूल रागों का प्रयोग, (4) नाटकीय संगीत और काव्य का योग, (5) कोमलकांत पदावली, (6) भक्ति और शृंगार का समन्वय और (7) छंदोबद्ध गेयपद शैली का उपयोग।

जयदेव के लीलाकाव्य की परंपरा का विकास विद्यापति के पदों में व्यक्त हुआ और ब्रजभाषा के काव्य में इसका चरम उत्कर्ष हुआ। सूरदास के पूर्ववर्ती ब्रजभाषा के अनेक भक्त कवियों ने लीलापदों की रचना की, जिनमें स्वामी हरिदास विशेष स्मरणीय हैं। उनकी केलिमाला निकुंज लीला के मुग्ध और विदग्ध रूपों की रसभीनी अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। बल्लभ संप्रदाय के अष्टछाप के सभी कवियों ने लीला काव्य की रचना की। परंतु भाषावणता और कला सौष्ठव की दृष्टि से सूरसागर में लीला काव्य का उदात्त रूप विद्यमान है। वैसे तो संपूर्ण सूरसागर लीला काव्य है, किंतु उसमें अनेक लीलाओं की अपनी स्वायत्तता है और वे अपने आप में लीला काव्य की सभी विशेषताओं से सम्पन्न हैं। सूरसागर की ऐसी लीलाओं में पनघटलीला, दानलीला, चीरहरणलीला, रासलीला तथा भ्रमरगीतलीला आदि प्रमुख हैं। इन लीलाओं में सूरदास की नाटकीय कल्पना शक्ति का विकास दिखाई पड़ता है। सूरसागर में श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाएं भी हैं जिनमें ब्रह्मा द्वारा बालक वत्स हरणलीला, नागलीला दावानलपानलीला, गोवर्धनलीला तथा मथुरा एवं द्वारिका की लीलाएं है। इन लीलाओं में भगवान के शक्तिमय तथा ऐश्वर्यमय रूप के दर्शन होते हैं और इनमें विस्मय एवं रहस्योन्मुखता के साथ-साथ भक्तिभावना का पुट है।

रासलीला में माधुर्यमयी ब्रजलीला की पराकाष्ठा है और लीला काव्य का चरम उत्कर्ष है। रासलीला रसमयी लीला है। रास मूलत: एक प्रकार का नर्तकी प्रधान गेय नृत्य रूपक है। रास

NMDC-065

का ही एक रूप हल्लीसक नृत्य है। कामसूत्र में उसे गेय रासक कहा गया है और उसके क्रीड़ारूप की ओर संकेत है। हल्लीसक स्त्रियों का मंडलकार नृत्य है जिसमें एक नेता होता है। हरिवंश पुराण में हल्लीसक का उल्लेख है और रासलीला का भी। हरिवंश में रासलीला शरद रास है। श्रीमद्भागवत में रासलीला का विषद वर्णन है। हरिवंश पुराण तथा भागवत पुराण की रासलीला में राधा का अभाव है। ग्वालियर के बाघ की गुफाओं के चित्र (छठी या सातवीं शताब्दी) में हल्लीसक गेय रूपक का चित्र होता है।[25] भोज के सरस्वती कंठाभरण में भी हल्लीसक का उल्लेख है। ऐसा ज्ञात है कि रास हल्लीसक दोनों गेय नृत्य रूपक हैं और परवर्तीकाल में हल्लीसक का रास में समावेश हो गया। बाद में केवल रासलीला ही प्रचलित हुई है निश्चय ही भागवंत पुराण के रासपंचाध्यायी के अत्यंत लोकप्रचलित होने के कारण हल्लीसक के तत्वरास में मिलकर विलुप्त हो गए। रास का उल्लेख भास के बालचरित नाटक में है और बाणभट्ट के हर्षचरित में भी।

रास एक प्रकार का गेय नृत्य रूपक माना जाता है इसलिए इसकी उत्पत्ति लास्यनृत्य से मानी जाती है। नृत्य दो प्रकार के होते हैं : तांडव और लास्य। लास्य नर्तकीप्रधान श्रृंगारपरक मधुर नृत्य है और राधाकृष्ण की रासलीला लास्यनृत्य है।[26] इस गेय नृत्य रूपक रास की काव्याभिव्यक्ति ब्रजभाषा में लीला काव्य के रूप में हुई है। रासलीला के काव्यरूप पर रास का रासक गेय रूपकों का भी प्रभाव पड़ा है।[27]

उत्तर भारत में रासलीला की दो परंपराएं प्राप्त होती हैं। एक परंपरा हरिवंश विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण की है और दूसरी जयदेव के गीतगोविंद की। हरिवंश और भागवत पुराण की रासलीला शरद रास है और उसमें राधा का अभाव है; किंतु गीतगोविंद की रासलीला बसंत रास है और राधा उसमें प्रमुख गोपी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि उत्तर भारत में रासलीला की ये दो परंपराए अलग-अलग विद्यमान थीं।[28] सूरदास की रासलीला में इन दोनों परंपराओं का समन्वय है। सूरसागर की रासलीला शरदकालीन रास है और उसमें राधा रसेश्वरी हैं। सूरदास ने रासलीला में राधाकृष्ण के विवाह का आयोजन किया है और राधा को श्रीकृष्ण की स्वकीया के रूप में उपस्थित किया है। सूर की राधा रासलीला की नायिका है। वे कृष्ण के रासमंडल के मध्य में विराजमान है। सूरदास ने रासलीला का अत्यत चित्रात्मक वर्णन किया है। प्रत्येक गोपी के साथ श्रीकृष्ण हैं, लगता है बादल के बीच में बिजली का प्रकाश हो। यहां घनश्याम और दामिनी का ऐक्य है। सूरदास के रासलीला वर्णन में नृत्य की पद गति, संगीत की स्वर गति और काव्य की भाव गति की अदभ्त सुसंगति है :

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकुट-पटकनि, भृकुटि भटकनि, धरे नटवर अंग।
चलत गति कटि कुनित किकिनि, घुंघुरू झनकार।

NMDC-065

मनौ हंस रसाल बानी, अरस परस विहार।
लसति कर पहुंची उपाजै, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौं भुज फिरत जबहीं, तबहिं सोभा होति।
कबहु नृत्यत नारि-गति पर, कबहुं नृत्यत आपु।
सुर के प्रभु रसिक के मनि, रच्यो रास प्रतापु ।।

रासनृत्य में पदों की गति, अंग विक्षेप, आंगिक अभिनय की मुद्राओं तथा हाव भाव का बिंबात्मक वर्णन है :

गति सुधंग नृत्यतिव्रज नारि।
हाव भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर धारि।
पग पग पटकि भुजनि लटकावति, फूंदा फरनि अनूप।।
चंचल चलत झुमका, अंचल, अद्भुत है वह रूप।
दुरि निरखत अंग, रूप परस्पर दोउ मनहीं मन रीझत।
हसि हंसि बदन बचन रस बरषत, अंग स्वेद जल भीजत।
बेनी छूटि लटै बगरानी, मुकट लटकि लंटकानौ।
फूल खसत सिर तै भंए न्यारे, सुभक स्वाति सुत मानौ।
गान करति नागरि, रीझे पिय, लीन्ही अंकम लाइ।

रास में नृत्य, गीत और वाद्य संगीत की एकता है। श्याम गोपियों के साथ नृत्यरत हैं, स्वरवाद्य और तालवाद्यों की संगति है, मूरज रबाब, बीना और किन्नरी के स्वरों में मृंदग के ताल का मेल है। गोपियां कभी गाती हैं और कभी नांचती हैं। मुरली की सप्तस्वर लहरी में रासलीला की आत्मा बसी है। रासलीला का चित्रात्मक वर्णन सूर ने इस पद में किया है :

बिराजत मोह मडंल रास।
स्यामा स्याम सुधा सर मानौ, क्रीडत विमल विलास।
ब्रजवनिता सत जूथ मंडली मिलि कर परस करै।
भुज मृनाल भूषन तौरन जुत, कंचन खंभ खरे।
मृदु पद न्यास, मंद मलयानिल बिगलित सीस निचोल।
बाजत जाल मृदंग बांसुरी, उपजाति तान तरंग।
बिथकित उड़पति व्योम विराजत, श्री गुपाल अनुराग।

सूरदास ने रासलीला के बाद जलक्रीड़ा की योजना की है। उस पर हरिवंश का प्रभाव परिलक्षित होता है। सूरसागर की जलक्रीड़ा संयत और उदात्त है, उसमें हरिवंश की जलक्रीड़ा की ऐंद्रिकता

NMD-005

और ऐंद्रियासक्ति का अभाव है। सूर में भक्त हृदय की तन्मयता और भावप्रवणता है; जबकि हरिवंश में ऐंद्रिय भोग-वासना का उन्मुक्त विलास। सूर की रासलीला में भक्ति भावना का उत्कर्ष है, उसमें नृत्य और गीत तन्मयता के साधन हैं। यहां नृत्य और संगीत जीवन की उप पन्न साधनाओं के प्रतीक है।

लोकगीत तथा सूर का काव्य

लोकगीत कोई शास्त्रीय काव्य रूप नहीं है। यह किसी एक काव्य का भी काव्यरूप नहीं है। मौखिक लोकगीतों की अपनी लंबी परंपरा है, जिसमें जीवन पद्धति में परिवर्तन के कारण परिवर्तन और विकास संभव होता है। लोकसाहित्य, लोकचित्त में संचित सामूहिक चेतना तथा अनुभूति का साहित्य है। लोकसाहित्य में जीवन के राग विराग, संयोग वियोग और हर्ष विषाद का जीवंत प्रतिबिंब होता है। अनुभूतियों का स्वच्छ, निष्कपट, सरल रूप लोकसाहित्य में प्रकट होता है। लोकसाहित्य में जातीय संस्कृति और परंपराएं संचित होती हैं। व्यक्ति के जीवन से लेकर मृत्यु पर्यंत संस्कारों के गीत हैं तथा सामूहिक कर्मों, उत्सवों, त्योहारों और पर्वों के गीत है। इन लोकगीतों में लोकजीवन का सच्चा चित्र और लोकसंस्कृति का मूल रूप सुरक्षित रहता है। लोकगीतों में मानव और प्रकृति के साक्षात संपर्क से उत्पन्न भावनाओं की व्यंजना होती है। इसमें प्रकृति के कोमल और कठोर, मंगलमय और अनिष्टकारी सभी रूपों के गीत हैं। लोकगीतों में विभिन्न ऋतुओं के प्रति मानव मन की क्रिया प्रतिक्रिया तथा संवेदनात्मक अनुभव की भावस्निग्ध व्यंजना होती है। बारहमासा तथा होली के गीतों में समाज की सामूहिक भावना प्रकट होती है। लोकगीतों में नारी जीवन की प्रेम और करुणामिश्रित गाथा का ललित रूप भी मिलता है।

लोकसाहित्य लोक प्रतिभा की देन है और उसमें रचयिता का आत्मगोपन प्रधान है। लोकसाहित्य में धर्मगाथा, लोकगाथा, परंपरागत कथाओं, अवदान, तंत्राख्यान, लोकवार्ता, लोकगीत, प्रहेलिकाओं और चुटकुलों आदि का समावेश होता है। लोकसाहित्य में भावों का सहज रूप अभिव्यक्त होता है और उसमें शिष्ट साहित्य के आभिजात्य, संस्कार शास्त्रीयता, पांडित्य और कृत्रिम कलात्मकता का अभाव होता है। गीतात्मकता लोकगीतों का प्राण है क्योंकि अपनी गेयता के कारण ही वे अमर हैं। कभी कभी शिष्ट साहित्य का वह अंश जिसमें जनमानस की दशाओं की व्यंजना होती है, लोकसाहित्य का अंग बन जाता है। कबीर, सूर और तुलसी के पदों के लोकप्रचलित होने का यही कारण है। लोकभाषा में लोक भावनाओं की अभिव्यक्ति के कारण इन भक्त कवियों की कविता लोक कविता बन गई है।

लोक साहित्य के विविध रूपों में लोकगीत सर्वाधिक प्राचीन हैं। संभवत: साहित्य का यह प्राचीनतम रूप है। मानव सभ्यता के विकास के प्रारंभिक काल में हर्षोल्लास की अनुभूति की

NMDC-065

अभिव्यक्ति सर्वप्रथम गीत के रूप में ही हुई होगी। लोकगीतों में सामूहिक भावनाओं की व्यंजना होती है और संसार के प्राचीन साहित्यों में सामूहिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही दिखाई देती है। कविता साहित्य रूपों में सबसे प्राचीन है और लोकगीत कविता का प्राचीनतम रूप है। लोकगीतों में जीवतंता, ताजगी और सहजता होती है। लोकगीतों में कुछ पुरुषों के गीत हैं, कुछ नारियों के गीद्र हैं, कुछ काम के गीत हैं, कुछ आराम के गीत हैं, कुछ उत्सवों से संबंधित उल्लास और खुशी के गीत है; कुछ वेदना विरह तथा शोक के गीत हैं; कुछ सामूहिक गीत हैं और कुछ व्यक्तिगत गीत हैं।

लोक साहित्य में अक्षय जीवन शक्ति, सजीवता और ताजगी होती है, इसलिए शिष्ट साहित्य सदा लोकसाहित्य से जीवन रस ग्रहण करता है। एक प्रतिभशाली कवि शास्त्रबद्ध अभिव्यक्ति रूप को छोड़कर सदा लोकसाहित्य से संवेदना के उपादान एवं अभिव्यंजना के रूप को संचित करता है। भारतीय काव्य परंपरा में संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के साहित्य में अनुभूतियों, विचारों तथा अभिव्यक्ति रूपों के विकास में लोकसाहित्य का पर्याप्त योगदान रहा है। हिंदी का भक्तिकाव्य लोकभाषा का साहित्य होने के कारण लोकसाहित्य का उन्नत रूप है। प्रेम और युद्ध, नीति और धर्म, रीति और उपदेश के साहित्य का अधिकांश लोकसाहित्य से प्रभावित है। लोकसाहित्य में विशुद्ध गीतकाव्य, लोकवार्ता में नाटकीय गीत, विनय, मंगल एवं प्रार्थनापरक गीत, आशीर्वादात्मक गीत, संदेश तथा चरित्रचित्रण के आख्यानक गीत और ऋतु संबंधी गीत भी हैं। मध्यकाल के संत तथा भक्त कवियों ने लोकसाहित्य के विविध रूपों, विशेषत: लोकगीत का भरपूर उपयोग किया है और यही कारण है कि अब भी भक्तिकाल के काव्य में ताजगी और लोकजीवन की आभा है। संत और भक्त कवियों का साहित्य लोकचेतना तथा लोकभावना का साहित्य है। संपूर्ण भाक्तिकाल की काव्यसाधना का लक्ष्य है लोकचित्त से तादात्म्य स्थापन। कबीर, सूर और तुलसी ने लोक प्रचलित अनेक समकालीन काव्य रूपों का उपयोग और विकास किया है।

ब्रजभूमि की प्राकृतिक सुषमा, ब्रज की मर्मस्पर्शी तान तथा ब्रजभाषा का माधुर्य लोकविख्यात है। वैसे तो प्रत्येक क्षेत्र की अपनी क्षेत्रीय संस्कृति तथा अपनी परंपराएं होती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति वहां के लोक साहित्य में होती है; किंतु राधाकृष्ण की लीला भूमि ब्रज की संस्कृति संपूर्ण उत्तर भारत की वैष्णव संस्कृति का लगभग चार शताब्दियों तक केंद्र रही है। ब्रज के धर्म, दर्शन, कला, साहित्य और भाषा का लोकव्यापी रूप भक्तिकाल में दिखाई पड़ता है। ब्रज संस्कृति के विभिन्न अंग दर्शन, धर्म, कला, साहित्य और भाषा का संपूर्ण उत्तर भारत की सांस्कृतिक निधि के संरक्षण और विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। राधाकृष्ण की लीलाभूमि के जड़ चेतन से भक्तों का आत्मीय संबंध दिखाई पड़ता है। ब्रज के लोकसाहित्य का ब्रजभाषा के शिष्ट साहित्य पर बहुत अभाव पड़ा है। सूरदास ने लोकसाहित्य के अनेक रूपों को विकसित किया है। सूरदास ने कृष्ण

NMDC-065

जन्मोत्सव के समय स्त्रियों के गीत बधायौ, सोहिलौ, मंगलगीत, गारी गीत आदि का उपयोग किया है। यशोदा कृष्ण के जागरण का गीत गाती है और सुलाते समय लोरी गाती हैं। सूर के ब्रजवासियों का जीवन संगीतमय है। कृष्ण के जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ और कर्णच्छेदन के गीत हैं। सूरसागर में विवाह के भी गीतमय वातावरण का चित्रण है। गोवर्धन पूजा, दीपमालिका, अन्नकूट के उल्लास और दूसरे गीतमय उत्सवों का वर्णन है।

शरदोत्सव में रासलीला तथा जलक्रीड़ा के अवसर के अनुकूल गीतों की रचना हुई है। झूलन प्रसंग में झूलने के साथ-साथ गीत भी है। इन गीतों को सावन के गीत भी कहा जाता है। प्रकृति के मनोहर वातावरण में राधाकृष्ण के साथ गोपियों के गीतमय और नृत्यमय झूलनोत्सव का सूरदास ने वर्णन किया है। सूरसागर में वसंतोत्सव तथा फाग के प्रसंग में लोकगीतों का अधिक प्रयोग हुआ है। ब्रज की होली आज भी उत्तर भारत में प्रसिद्ध है। बसंत में संपूर्ण लोकमानस उल्लसित दिखाई देता है। और लताओं तथा पुष्पों से सुसज्जित प्रकृति नई प्रीति को उद्दीप्त करती है। यह ऋतु ही प्रेम और संयोग की ऋतु है। इसमें प्रकृति के कण कण में काम का प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रज की प्रेम रंगभीनी ग्वालिनें और रागरंजित चित्त वाले गोप ग्वाल प्रेमोन्मत्त होकर फाग खेलते हैं और चांचर, झुमका, होरी धमार आदि गाते हैं। सूरदास ने लोकगीतों को भी संगीत की राग रागिनी पद्धति में आबद्ध किया है और उनके भीतर अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार छंदोबद्ध राग रागिनी से संयमित लोकगीतों का प्रयोग सूरदास की अपनी विशिष्टता है।

भ्रमर गीत काव्य

भ्रमरगीत सूरसागर का एक अंश है, लेकिन यह एक स्वतंत्र काव्यरूप भी है। इसकी परंपरा सूरदास से पुरानी है और सूरदास के भ्रमरगीत के बाद इसकी लंबी परंपरा है। भ्रमरगीत काव्य सूरदास के काव्य और कला की सिद्धावस्था है। भ्रमरगीत में भारतीय काव्य परंपरा के उपालंभ काव्य और दूत काव्य की परंपरा के तत्वों का समावेश है। गोपियों के विरहगीत में सूरदास की काव्यकला निखर उठी है और गोपियों की भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। सूरदास ने भ्रमरगीत में भारतीय विरह काव्य परंपरा के अनेक तत्वों को आत्मसात कर एक अभिनव काव्य परंपरा का उन्मेष किया हैं जो परवर्ती काल में अनेक कवियों की रचनाओं से समृद्ध हुई है। सूरदास ने इस भ्रमरगीत काव्य परंपरा को इतनी शक्ति और गति प्रदान की है कि यह परवर्ती चार सौ वर्षो तक निरंतर गतिशील और विकासोन्मुख हुई है। भ्रमरगीत काव्य में सूरदास परंपरा के संरक्षक संस्कारक और निर्माता के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

सूरसागर का गोपी चरित एक दुखांत काव्य है। कहा जाता है कि भारत वर्ष में दुखांत काव्य की परंपरा का अभाव है, किंतु महाभारत में इस परंपरा के बीज विद्यमान हैं। संपूर्ण महाभारत

NMDC-065

एक दुखांत काव्य है, जिसमें अनेक प्रकार के बाह्य और आभ्यंतरिक संघर्षों के बीच से विकसित होती हुई कथा दुखांत ही है। भीषण भौतिक, मानसिक और आत्मिक संघर्षों के पश्चात् भी चित्त की शांतावस्था का उसमें प्रयास हैं, किंतु उस शांतावस्था के प्रयास में भी चेतना का आंतरिक द्वंद्व विद्यमान है। सूरदास के गोपी विरह में संयोग की स्मृति की सुंगधि है, संयोग की आशा का संचार है, किंतु यह विरह इतना विशाल, दीर्घकालीन और कारुणिक है कि उसमें छिपा आनंद क्षीण ही है। सूरदास ने कुरुक्षेत्र में कृष्ण और गोपियों में संयोग की योजना निर्मित्त की है किंतु उसमें संयोगकालीन उल्लास और आनंद का प्रबल वेग नहीं है। यहां गोपियां अपने प्रिय से संयोग में समान स्तर पर तादात्म्य का अनुभव नहीं करती हैं क्योंकि वहां कृष्ण का आलोकित रूप है। कृष्ण के मानव रूप के साथ संयोग सहज और स्वाभाविक था। उनका चतुर्भुज रूप अलौकिक है। इस प्रकार अनुभूति के स्तर पर विरहजनित वेदना का भाव ही गोपी चरित का स्थायी भाव है। गोपियों की यह सर्वातिशयी वेदना इतनी घनीभूत और व्यापक है कि स्मृतिजन्य या क्षणिक संयोगजन्य सुख इसमें पूर्णत: निमग्न हो जाता है और सहृदय के चित्त पर उस कारुणिक वेदना का ही चिरस्थाई प्रभाव कायम रहता है। गोपीचरित को दुखांत काव्य मानना उचित प्रतीत होता है। गोपीचरित के रूप में इस वियोगांत काव्य की रचना से सूरदास की सर्जनात्मक प्रतिभा की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। नंददुलारे वाजपेयी[29] और विजयेंद्र स्नातक[30] ने भी गोपीचरित को दुखांत रचना माना है।

कीर्तन काव्य

कीर्तन नवधा साधन भक्ति में एक साधन माना गया है। कीर्तन गेय पदों में भगवान की लीला और गुणों का गान ही है और इसका मुख्य लक्ष्य भावोद्रेक या रस प्रतीति है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'कीर्तन भगवान के अनंत सौंदर्य, अनंत शक्ति और अखंड शील की सर्वसाधारण के बीच रसमयी घोषणा है।[31] कीर्तन भक्त द्वारा भगवान के रूप, लीला और गुणों की आत्मानुभूति की संगीतमय अभिव्यक्ति है। उसके दो रूप होते हैं : व्यष्टि कीर्तन और समष्टि कीर्तन। भक्त जब स्वांत: सुखाय भावावेश की अवस्था में कीर्तन गाता तो वह है व्यष्टिकीर्तन है और जब कीर्तन के माध्यम से जनसमुदाय में सामूहिक भावानुभूति को जगाने की कोशिश होती है तब समष्टि कीर्तन होता है। आचार्य शुक्ल ने कीर्तन को जनसमुदाय की मर्मानुभूति मानकर उसके समष्टिगत रूप को ही स्वीकार किया है और वैयक्तिक अनुभूति को बंदन या स्तवन माना हैं।[32] वैयक्तिक मर्मानुभूति और उसकी संगीतमय व्यंजना के अस्तित्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसके केवल वंदन या स्तवन नहीं माना जा सकता है। नवधा भक्ति में बंदन और स्तवन (स्मरण, अर्चन) से भिन्न कीर्तन की स्थिति मानी गई है। वास्तव में भक्तिभावना की अनुभूति के वैयक्तिक और सामूहिक दोनों रूप होते हैं। भक्त का व्यक्ति चित्त भक्ति की साधना और सिद्धावस्था में लोक चित्त का अभिन्न अंग बन जाता है।

NMDC-065

भारत में कीर्तन का इतिहास पुराना है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार बौद्धों का महायान मत ही कीर्तन प्रथा का मूल उत्स है।[33] विद्यापति के पूर्ववर्ती मैथिली के नाटककार कवि उमापति उपाध्याय के 'पारिजातहरण' को कुछ विद्वानों ने कीर्तनिया नाटक माना है।[34] 'आइने अकबरी' में भी कीर्तनियों के कीर्तन पदों के गायन की चर्चा है। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव और चैतन्य मत के विकास के साथ ही कीर्तन की परंपरा विशेष समृद्ध हुई। संकीर्तन या नगर कीर्तन की परंपरा चैतन्य मत में विशेष प्रचलित हुई। बंगाल के भक्त कवियों के पद साहित्य को कीर्तन पदावली की संज्ञा दी गई है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की सेवा विधि में कीर्तन सेवा का विशेष महत्व है।

कीर्तन पदों के रूप में लिखा गया काव्य कीर्तन काव्य कहा जाता है, जिसका प्रधान लक्ष्य भावोद्रेक ही है। कथा की पीठिका भी उसमें वर्तमान रहती है। कीर्तन काव्य की विषयवस्तु भगवान की विविध लीलाएं होती हैं और उसकी रचना शैली पदप्रधान होती है। इसलिए कीर्तन काव्य में एक पद या पदसमूह में एक भाव की व्यंजना होती है। सत्येंद्र के अनुसार कीर्तन काव्य के दो अंग है : एक प्रधान पदसमूह जो विविध रागों में रचित होते हैं और दूसरा अंग है कथा की पीठिका।[35]

कीर्तन काव्य में पदसमूह में एक भाव के उत्कर्ष के लिए अनेक पदों की रचना होती है इसलिए कभी-कभी पुनरावृत्ति भी हो जाती है। किंतु पदों में अनुभूति की गहनता के कारण पुनरावृत्ति रसबोध में बाधक नहीं होती है। सूरसागर में भी एक ही भाव की अभिव्यक्ति के अनेक पद हैं जिनमें अलग अलग भावोद्रेक की क्षमता है। एक प्रकृति एवं भाव के पदों में भावानुभूति की एक आंतरिक अन्विति के कारण इनकी रसमयता सदैव कायम रहती है। एक भाव की सम्यक व्यंजना के लिए रचित अनेक पदों की अखंड भाव चेतना के कारण उनकी आंतरिक सुसंगति खंडित नहीं होती है। ऐसे पदों में अखंड भाव चेतना की व्यंजना में ही कीर्तनकार कवि की प्रतिभा का प्रकाश दिखाई पड़ता है। कीर्तन काव्य में कथा पीठिका के पोषक पद विवरणात्मक और कभी-कभी वर्णनात्मक भी होते हैं, किंतु कथासूत्र की एकान्विति के लिए उनका महत्व है। कीर्तन काव्य की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. भगवान का रूप, गुण और लीला ही इसकी विषयवस्तु है।

2. इसकी रचना शैली पदप्रधान होती है।

3. कीर्तन पदों में **संगीतात्मकता** होती है, राग रागिनी का प्रयोग होता है और उनमें गेयता की प्रधानता होती है।

4. पद रचना का प्रधान लक्ष्य भावोद्रेक होता है।

5. इसमें कथा की पीठिका होती है, इसलिए प्रबंधात्मकता भी होती है।

सूरसागर में कीर्तन काव्य के रूप का भी प्रयोग है। सूरसागर में कृष्ण के रूप, गुण और लीलाओं की अनुभूति की ही अभिव्यक्ति हुई है। इसमें श्रीकृष्ण के बालरूप, किशोर रूप, प्रेममय रूप और ऐश्वर्यमय रूप की झांकी है। इसमें उनके दिव्य गुणों का वर्णन है तथा उनकी माधुर्यमय लीलाओं का चित्रण। सूरसागर की रचना शैली पदप्रधान है। कभी-कभी एक ही भाव के अनेक पद हैं जिनमें भावोद्रेक तथा भाव उत्कर्ष की सिद्धि हुई है। सूरसागर के सभी पद राग रागिनी में आबद्ध है, उनमें छंदों का प्रयोग है तथा गेयता उनका प्रमुख गुण है। कथासूत्र की एकता के लिए कथात्म्क पदों का प्रयोग है। सूरसागर में कथात्मक पद प्राय: बिलावल राग में रचित है। डा. सत्येंद्र ने सूरसागर को कीर्तनकाव्य मानते हुए लिखा है कि सूरदास ने सूरसागर को कीर्तन काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें कथा काव्य का ढांचा है, किंतु प्रधान तत्व है वह भावोद्रेक जो गेय पदों में प्रस्तुत है और जिसमें पद अथवा छंदों और प्रकरणों की सीमा का कोई प्रतिबंध नहीं है।[36] सूरसागर में कीर्तन काव्य का जो रूप है उसमें काव्य और संगीत का पूर्ण सामंजस्य है।

मध्यकाल में दशावतार चरित वर्णन की परंपरा विद्यमान थी। क्षेमेंद्र के दशावतार चरित वर्णन में इसका सुंदर रूप व्यक्त है। जयदेव के गीतगोविंद में भी राग ताल निबद्ध अष्टपदी में दशावतारों का गुणगान है। सूरदास ने सूरसागर में कीर्तन काव्य के रूप के अंतर्गत ही प्राय: बिलावलराग में अवतारों का गुणगान किया है। सूरसागर में मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अवतारों का उल्लेख हुआ है :

मच्छ, कच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि।
वामन, बहुरौ परसुराम, पुनि राम रूप करि।।
वासुदेव सोई, भयौ, बुद्ध भयौ पुनि सोई।
सोई कल्की होई है, और न द्वितिया कोई।[39]

सूरसागर की दशावतार चर्चा केवल परंपरा का निर्वाह है, इसमें सूर के कवित्व का अभाव ही है। कृष्ण सूर के आराध्य देव हैं और उनकी लीलाओं के कीर्तन से ही सूरसागर भरा हुआ है। सूरदास ने कृष्ण के बाद रामचरित को ही विशेष महत्व दिया है और पद शैली में रामचरित की मार्मिक व्यंजना की है। सूर के रामचरित में अनेक पद भावोद्रेक और अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से अत्यंत सुंदर है। सूरदास ने रामचरित में वाल्मीकि रामायण की कथा का अनुसरण किया है। पदप्रधान गीतकाव्य की शिल्प विधि का प्रयोग करने के कारण सूरदास के रामचरित में भावात्मक स्थल ही विशेष मार्मिक है और उन्हीं में सूर की वृत्ति रमी है। सूरदास ने राम

NMDC-065

के जन्म और बाल्यकाल को विशेष कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। राम की क्रीड़ा और रूप का बिंबात्मक चित्रण एक पद में है :

करतल-सोभित बान धनुहियां।
खेलत फिरत कनकमय आंगन, पहिरे लाल पहनियां।।
दसरथ कौसिल्या के आगै, लसत सुमन की छहियां।
मानौ चारि हंस सरवस तै बैठे आइ सदेहियां।
रघुकुल-कुमुद चंद चितामनि, प्रगटे भूतल महियां।
आए ओप देन रघुकुल कौ, आनंद-निधि सब कहियां।
यह सुख तीन लोक में नाहीं, जो पाए प्रभु पहियां।।
सूरदास हरि बोलि भक्त कौ, निरबाहत गहि बहियां।।

राम की बाललीला को सूरदास न कृष्ण की बाललीला से भिन्न रूप में वर्णित किया है। राम के बाल रूप के साथ ही उनका शक्तिस्वरूप भी प्रकट है और राजसी रूप भी। सूरदास ने संक्षेप में रामकथा का वर्णन किया है, किंतु श्रृंगार और करुण रस के भावात्मक स्थलों पर सूर की प्रतिभा विशेष मुखर हुई है।

सूर ने सीताहरण के पश्चात विरही राम की वेदना विकल हृदय का प्रभावशाली चित्रण किया है। सीता के वियोग में संतप्त राम की हार्दिक विकलता में उनका मानोवीय रूप दिखाई पड़ता है। सूरसागर के रामचरित में करुण रस के दो स्थल विशेष रमणीय बन पड़े है। एक स्थल तो वह है जहां दशरथ की मृत्यु के बाद राम और भरत के मिलन के प्रसंग में शोकाकुल राम की अपार वेदना की मार्मिक व्यंजना हुई है। दूसरे, लंका में लक्ष्मण को संघातिनी शक्ति लगने के बाद राम की हार्दिक विकलता और मानसिक द्वंद्व का चित्रण सूरदास ने अत्यंक विदग्धता से किया है :

निरखि मुख राघव धरत न धीर।
भए अति अरुन, विलास कमल-दल-लोचन मोचन नीर।
बारह वरष नींद है साधी तातै विकल शरीर।
बोलत नहीं मौन कहा साध्यौ, विपति बंटावन बीर।
दसरथ मरन, हरन सीता को, रन बैरिनि की भीर।
दूजौ सूर सुमित्रा सुत बिनु कौन धरावै धीर।।

NMDC-065

स्तुति काव्य

स्तुति काव्य कीर्तन की तरह ही धार्मिक परंपरा का काव्य रूप है। इसमें धर्मभावना प्रबल होती है और काव्य चेतना गौण। काव्य के ढांचे के धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति इसकी प्रमुख विशेषता है। स्तुति काव्य की परंपरा का उत्स तो वैदिक मंत्रों के द्वारा देवताओं के स्तवन में ही माना जा सकता है। स्तुति काव्य परंपरा में बोधस्रोत, शाक्तस्रोत आदि हैं तथा महाभारत और विभिन्न पुराणों में ईश्वर की अनेकश: स्तुतियां विद्यमान हैं। संस्कृत में बाण का चंडीशतक, मयूर का सूर्यशतक, और पुष्पदंत का शिवमहिम स्रोत स्तुतिकाव्य की परंपरा में विशेष उल्लेखनीय कृतियां है। शंकराचार्य की सौंदर्यलहरी एवं पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी में स्तुतिकाव्य का उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है, जिनमें स्तवन और काव्यात्मकता दोनों का सामंजस्य है।

सूरदास ने सूरसागर में स्तुति काव्य की परंपरा का भी उपयोग किया है। सूरदास ने विनय के पदों में श्रीकृष्ण का स्तवन किया है। विनय के पदों में सूरदास ने परमेश्वर के अनेक रूपों और अवतारों की स्तुति की है तथा उसमें राम, कृष्ण, वासुदेव, विष्णु, शिव आदि में अभेद दर्शाया है। किंतु सूर की मनोवृत्ति अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की स्तुति में ही विशेष रमी है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यमय और प्रेममय दोनों स्वरूपों की विविध लीलाओं में वंदना की है। द्रौपदी द्वारा की गई श्रीकृष्ण स्तुति में स्तुतिकाव्य का सौंदर्य निखरा है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने नवम स्कंध में गंगा की स्तुति की है। गंगा की स्तुति पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी में है और विद्यापति पदावली में भी। सूरसागर में गंगास्तुति का एक पद अत्यंत काव्यात्मक है।

सूरदास ने विभिन्न देवताओं और ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों पर श्रीकृष्ण की स्तुति कराई है। इनमें गोवर्धनलीला में देवताओं द्वारा कृष्ण की स्तुति, कंसवध के बाद देवस्तुति, ऋषियों के द्वारा स्तुति और वेदस्तुति विशेष महत्वपूर्ण हैं। नारद द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति में श्रीकृष्ण का अवतारी रूप और उनकी शक्ति, शील तथा सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना है :

प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।
जग सिरजत पालत संहारत, पुनि क्यों बहुरि करै।
ज्यों पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।
त्योंही सब जग प्रगटत तुम तैं पुनि तुम माहिं बिलाइ।
माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहि कोइ।
नाम जहाज चढ़ै, जो कोऊ, तुव पद पहुंचै सोई।

....

NMDC-065

थावर जंगम सब तुव सुमिरत, सनक सनंदन ताहीं।
ब्रह्मा सिव अस्तुति न सकैं करि, मैं बपुरा केहि माहीं।
जोग ध्यान करि देखत जोगी, भक्त सादा मोहि प्यारौ।

सूरदास ने अपने युग में लोकप्रिय अनेक काव्यरूपों का प्रयोग और विकास किया है। उन्होंने साहित्यिक परंपरा, धार्मिक परंपरा और लोकजीवन में प्रचलित विभिन्न काव्यरूपों का अपने रचनात्मक प्रयोजन के अनुसार उपयोग करते हुए ही उनका विकास किया है। यद्यपि सूरदास ने अनेक काव्यरूपों का प्रयोग किया है, लेकिन उनकी सर्जनात्मक कल्पना मुख्यत: प्रगीतात्मक ही है। उनकी काव्यानुभूति का स्वरूप प्रगीतात्मक है, इसलिए प्रगीत रचना में ही उनकी कवि प्रतिभा और कला कौशल का उत्कर्ष दिखाई देता है।

अभिव्यक्ति का सौंदर्य

भक्ति आंदोलन के नए ऐतिहासिक संदर्भ और नई सांस्कृतिक चेतना से उस काल की कविता का स्वरूप निर्मित हुआ। कविता की नई रचना दृष्टि और नई अतंर्वस्तु के साथ नई अभिव्यक्ति पद्धति का भी विकास हुआ । भक्ति-कालीन काव्य की नई अभिव्यक्ति पद्धति के अंतर्गत नए काव्य रूप, नए छंद, बिंब, प्रतीक नई संरचना, शैली, शिल्प विधि और नई काव्य भाषा का जो विकास हुआ उसके विवेचन के बाद ही भक्तिकाव्य के कलात्मक मूल्य और सौंदर्यबोधी महत्व का उद्घाटन हो सकता है। यहां इन सब बातों की विस्तृत चर्चा का अवसर नहीं है। हमारा उद्देश्य सूरदास की कविता की अभिव्यक्ति पद्धति की कुछ मुख्य विशेषताओं की चर्चा करना है। सूरसागर के काव्यरूप की पहले ही चर्चा हो चुकी है। अब हम सूरदास की कविता की अभिव्यक्ति पद्धति के स्वरूप और सौंदर्य संबंधी विशेषताओं के विवेचन का प्रयास करेंगे।

सूरदास ने जिस कथा को अपनी कविता का आधार बनाया है, वह ऐतिहासिक नहीं है, वह पूरी तरह काल्पनिक भी नहीं है। वह कथा मुख्यत: मिथकीय पौराणिक और लोकमानस में बसी हुई कथा है। लोकमानस में जीवित और विकसित होने के कारण वह कथा ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों और लोकजीवन के परिवर्तनों से बराबर प्रभावित होती रही है। इस मिथकीय कथा में कल्पना के सहारे प्रकृति, मानव जीवन और समाज संबंधी भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति होती रही है। कृष्णकथा का विकास इतिहास से अनुशासित हुआ है। इस कथा के विकास में मिथक और इतिहास का द्वंद्वात्मक संबंध देखा जा सकता है। सूरदास ने अपने समय के जनजीवन में प्रचलित कृष्णकथा को स्वीकार किया है, लेकिन उनकी दृष्टि कथा से अधिक उसके माध्यम से व्यक्त होने वाले मानवीय संबंधों, भावों और विचारों पर है। वे घटनाओं के विस्तृत ब्यौरों, कथा के प्रवाह और उसकी संरचना पर उतना ध्यान नहीं देते जितना मानवीय संबंधों, भावों, संवेदनाओं और जीवन की वास्तविकताओं के चित्रण पर देते हैं।

NMDC-065

राधाकृष्ण की कथा लोकमानस में बसी हुई कथा है। इसलिए सूरदास कथा के निर्माण के बदले लोकप्रचलित कथा का रचनात्मक उपयोग करते हुए उसे मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साधन बनाते हैं। यही कारण है कि वे राधाकृष्ण की कथा के भावाभिव्यंजक प्रसंगों का बार-बार उपयोग करते हैं और घटनाप्रधान प्रसंगों की ओर केवल संकेत करते हैं। कथारचना सूर की काव्यरचना का उद्देश्य नहीं है, उनका उद्देश्य है मानवीय संबंधों और जीवनानुभवों के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति करना। सूर के पदों के पाठक अपनी कल्पना से पदों के कथा-सापेक्ष संदर्भ का निर्माण कर लेते हैं और इस प्रक्रिया में पदों में व्यक्त अनुभूतियों के बोध का वस्तुनिष्ठ कथात्मक आधार भी निर्मित हो जाता है। सूरदास मानवीय संबंधों और मानव जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति के दौरान ही मिथकीय कथा को इतिहास से जोड़ते है; क्योंकि मानव जीवन के अनुभव और मानवीय संबंध समाज के इतिहास से प्रभावित होते हैं मानवीय संबंधों और जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति के साथ ही सूरदास अपने युग के जीवन यथार्थ की अभिव्यंजना भी करते हैं। वे अपने युग के जीवन यथार्थ, मानवीय संबंध, भाव और विचार आदि की अभिव्यक्ति यथार्थवादी ढंग से भी करते हैं और प्रतीकात्मक ढंग से भी। मिथकीय चेतना और ऐतिहासिक चेतना की एकता से भक्तिकालीन काव्य चेतना का निर्माण हुआ है। सूरदास की कविता में यही काव्य चेतना प्रकट हुई हैं। उनके काव्य में कृष्णकथा के माध्यम से जातीय चेतना की परंपरा और अपने युग के जीवनानुभवों की रचनात्मक एकता दिखाई देती है।

भक्तिकालीन कविता की अभिव्यक्ति पद्धति की एक विशेषता प्रगीत के विकास में देखी जा सकती है। यह प्रगीतात्मकता भारतीय कविता के इतिहास में भक्ति आंदोलन और उसके काव्य की एक विशिष्ट देन है। इसका मूल स्रोत संस्कृत काव्य नहीं है। यह प्रगीतात्मकता लोकजीवन में जीवित लोकगीतों की मौखिक परंपरा का विकास है। भक्ति आंदोलन और उसके साहित्य में सामंत विरोधी जनसंस्कृति के व्यापक उत्थान की अभिव्यक्ति हुई है। भक्तिकाल मे प्रगीत का विकास सामंतवाद विरोधी सांस्कृतिक चेतना की उपज है। भक्तिकाल की कविता में प्रगीत के विकास से यह सिद्ध होता है कि साहित्यिक विधाओं और साहित्य के रूपों के विकास में सामाजिक आधार और सांस्कृतिक चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भक्तिकाल में विकसित प्रगीतात्मकता उसके सामंत विरोधी रचनात्मक दृष्टिकोण का प्रमाण हैं। यह प्रगीतात्मकता संस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र की रूढ़ियों से मुक्त और जनसंस्कृति की सृजनशीलता की देन है। मौखिक रूप में प्रचलित गीतों की परंपरा उतनी ही पुरानी है जितना देशी भाषाओं का अस्तित्व। लिखित रूप में लोकभाषा में जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति करने वाले गीतकाव्य की परंपरा के निर्माता विद्यापति हैं। सूरदास के काव्य में गीतकाव्य की मौखिक और लिखित दोनों परंपराओं का विकसित रूप दिखाई पड़ता है।

NHDC-095

सूरदास भक्तिकाल के सबसे बड़े प्रगीतकार हैं। वे प्रेम के विविध रूपों और पक्षों के गायक कवि हैं। उनकी कविता की मुख्य अंतर्वस्तु प्रेम ही है। इस प्रेम की अनुभूति का स्वरूप प्रगीतात्मक है। सूरसागर में वात्सल्य, सख्य और दांपत्य प्रेम की अनुभूति का प्रगीतात्मक स्वरूप बार-बार कथा की संरचना को तोड़ देता है। सूर की कविता का प्रेम सामंती व्यवस्था के बंधनों, रूढ़ियों और सामंती नैतिकता के आग्रहों से मुक्त है। इस प्रेम का स्वरूप सामंत विरोधी है और इसकी अभिव्यक्ति करने वाले प्रतीक का स्वरूप भी सामंतवाद विरोधी है। यह प्रेम लोकजीवन का सहज स्वच्छंद प्रेम है और इसकी अभिव्यक्ति करने वाली प्रगीतात्मक लोकगीतों का ही विकसित रूप है। सूर की कविता की अंतर्वस्तु मुख्यत: सामंतवाद विरोधी तथा जनवादी है और उसका रूप भी सामंत विरोधी तथा जनवादी हैं उनकी कविता के रूप की जनवादिता काव्यरूप के अतिरिक्त काव्य भाषा के स्वरूप में भी देखी जा सकती है।

यूरोपीय साहित्य में सामंतवाद विरोधी स्वच्छंदतावाद के साथ प्रगीत का विकास हुआ। प्रगीतात्मकता स्वंच्छदतावादी रचना दृष्टि की बुनियादी विशेषता है। प्रगीतात्मकता संपूर्ण भक्तिकाव्य में है, लेकिन सूर काव्य में इसका चरम विकास हुआ है। प्रगीत की एक अनिवार्य विशेषता यह है कि उसमें कवि के व्यक्तित्व की गहरी छाप होती है उसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति प्रमुख होती है प्रगीत में कवि की वैयक्तिक्ता की व्यंजना सामंतवाद विरोधी प्रवृत्ति है। भक्तिकाल के सभी प्रमुख कवियों के गीतों में उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन सूरदास के गीतों में कवि की वैयक्तिकता और तन्यमता का चरम उत्कर्ष व्यंजित है। रूप के स्तर पर सूर के प्रगीतकाव्य में उस युग की उत्थानशील सांस्कृतिक चेतना अभिव्यक्त हुई। यह सूर के काव्य का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष है। जो लोग मानवीय भावों की कल्पित शाश्वतता की अभिव्यक्ति को कलाकृतियों की शाश्वतता का कारण मानते हैं और अंतर्वस्तु तथा रूप की ऐतिहासिकता को कलाकृतियों की सीमा समझते हैं, उनको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सूरदास की कविता के निर्माण में उस युग के समाज के इतिहास का महत्वपूर्ण योगदान है। कुछ लोग महाकाव्य में समाज और इतिहास की उपस्थिति स्वीकार करते हैं, लेकिन प्रगीत को इतिहास के बंधनों से मुक्त मानते हैं। ऐसे लोगों की सेवा में गैटे का यह कथन निवेदित है कि श्रेष्ठ प्रगीत निश्चित रूप से ऐतिहासिक होता है।[37] प्राय: सूरदास की कविता की अंतर्वस्तु के सामंतवाद विरोधी मानवतावादी स्वरूप की चर्चा होती है, लेकिन उनके गीतों की संरचना के ऐतिहासिक चरित्र और मूल्य की बात नहीं होती। सूरदास का सामंतविरोधी और जनवादी रचनात्मक दृष्टिकोण उनकी कविता में व्यक्त अनुभूति, विचार नैतिक चेतना में ही नही है, वह उनकी कविता की प्रगीतात्मकता और काव्यभाषा में भी है।

सूरदास के पगीत के स्वरूप के निर्माण में उनकी संगीत संवेदना का विशेष योगदान है। उनके

NMDC-065

गीतों की संरचना संगीत से अनुशासित है। इस संगीत संवेदना के मूल में शास्त्रीय संगीत का अनुशासन और लोकगीत की सहजता का योग है। सूरदास ने जातीय भाषा और जातीय जीवन के छंदों के अपनी संगीत संवेदना से नए रूप में ढालकर गीतों की रचना की है। संगीत संवेदना से काव्यानुभूति की संरचना प्रभावित हुई है और अभिव्यक्ति का स्वरूप भी। सूरसाहित्य की असीम लोकप्रियता का एक कारण उनके गीतों की संगीतमयता भी है। मानवतावादी दृष्टि, संगसमयता और लोकभाषा की सहजता के कारण सूर का काव्य धार्मिक काव्य होते हुए भी धर्म, संप्रदाय, जाति, देश और काल की संकुचित सीमाओं को तोड़ता हुआ ससीम मनुष्य में निहित असीम मनुष्यत: को जगाने और विकसित करने में आज भी सक्षम है। इसी क्षमता के कारण सूर का काव्य कालजयी है। यह कालजयीपन भक्तिकाल के ऐतिहासिक संदर्भ, सामाजिक आधार और सांस्कृतिक चेतना की उपज है।

भक्ति आंदोलन के साथ जनपदीय भाषाओं के विकास और जातीय भाषाओं या आधुनिक भारतीय भाषाओं के निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई। दसवीं-ग्याहवीं सदी की जनपदीय भाषाओं में साहित्य रचना के आरंभ के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन भक्ति आंदोलन के पहले जनपदीय भाषाओं में साहित्य रचना की परंपरा का कोई विशेष विकास हुआ हो, इसके बहुत प्रमाण नहीं मिलते। सूरदास के पहले ब्रजभाषा में लिखित काव्य की कोई समृद्ध परंपरा नहीं मिलती। सामंती समाज व्यवस्था में समाज का अभिजनवर्ग संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की रचना और आस्वादन में भी रुचि लेता था और सामान्य जनता के जीवन व्यवहार में प्रचलित जनपदीय भाषाएं उपेक्षित थीं। भक्ति आंदोलन के काल में जनसंस्कृति के उत्थान के साथ जनपदीय भाषाओं का भी उत्थान हुआ और उनमें साहित्य रचना की शुरुआत हुई। सूरदास ब्रजभाषा में साहित्य रचना की परंपरा का निर्माण करने वाले महत्वपूर्ण कवि हैं। यही कारण है कि कुछ विद्वान सूरदास को ब्रजभाषा का बाल्मीकि कहते हैं। सूरदास ब्रजभाषा के 'आदि कवि' भले ही न हों, लेकिन वे ब्रजभाषा के पहले महान कवि अवश्य हैं। सूरदास की कविता में ब्रजभाषा की अभिव्यक्ति की शक्ति और सौंदर्य का जो रूप है, वह आश्चर्यजनक है। सूरदास के पहले ब्रजभाषा में लिखित काव्य की कोई समृद्ध परंपरा नहीं थी, लेकिन लोकगीतों की मौखिक परंपरा सूरदास को मिली थी। इसी मौखिक परंपरा का उन्नत तथा विकसित रूप और रचनात्मक प्रयोग सूर की कविताओं में मिलता है। जनसंस्कृति के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति करने वाली जनभाषा की सृजनशीलता का विकास करे। यह काम सूरदास ने इस कौशल और सफलता के साथ किया कि ब्रजभाषा सूर के बाद लगभग चार सौ वर्षों तक हिंदी जाति की काव्य भाषा बनी रही।

भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के विकास का प्रमुख लक्षण है। भाषा में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, उससे संस्कृति का निर्माण भी होता है। भाषा चिंतन का माध्यम

NMDC-065

है और चिंतन की अभिव्यक्ति का साधन भी। साहित्य में भाषा मनुष्य की चेतना को समाज, संस्कृति और इतिहास के अनुभवों से जोड़ती है। साहित्य में रचना की भाषा का स्वरूप रचनाकार की सांस्कृतिक चेतना से निर्मित होता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'काव्यभाषा के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना का महत्व अप्रतिभ है। काव्यभाषा का अपने प्रयोगकर्ताओं की संस्कृति से घनिष्ठ से संबंध रहता है। वस्तुत: उसका स्वरूप एक बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक आधार पर गठित होता है।[33] भक्ति आंदोलन और उसके काव्य में जनसंस्कृति के विकास का प्रमाण काव्यभाषा के रूप में लोक भाषाओं का विकास भी है। इस काल की कविता में भारतीय कविता के इतिहास में संभवत: पहली बार जीवन व्यवहार की भाषा साहित्य की भाषा बनी। प्राय: रूपवादी आलोचक जीवन व्यवहार की भाषा से साहित्य की भाषा की भिन्नता में ही साहित्य की साहित्यिकता देखते हैं। ऐसे दृष्टिकोण वाले आलोचक कविता की भाषा की 'कृत्रिमता' और जीवन व्यवहार की भाषा से भिन्न विचलन के कौशल को काव्य भाषा का प्रमुख लक्षण मानते हैं। भक्तिकाल के कवियों की काव्यभाषा से इस धारणा का खंडन होता है। भक्तिकाल की कविता में जीवन व्यवहार की भाषा और काव्यभाषा की एकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों में कोई फर्क नहीं है। कविता में जीवन व्यवहार की भाषा का विशिष्ट प्रयोग होता है। कविता में सामान्य भाषा के सर्जनात्मक रूप और सौंदर्यपरक प्रयोजन का विकास होता है। भक्तिकाल की कविता की काव्यभाषा में ये विशेषताएं हैं। लेकिन भक्तिकाव्य की भाषा न तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की तरह केवल 'कवि समय सिद्ध भाषा' है, न रीतिकाल की काव्यभाषा की तरह कृत्रिम भाषा है और न छायावादी काव्य भाषा की तरह अत्यंत साहित्यिक भाषा। रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह मान्यता विचित्र है कि 'कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ने 'कृत्रिम बोली' का प्रयोग अपने काव्य में किया है।'[39] भक्तिकाल की काव्यभाषा में जनभाषा का ही सर्जनात्मक रूप है, वह गढ़ी हुई कृत्रिम साहित्यिक भाषा नहीं है।

सूरदास की कविता में ब्रजभाषा का काव्यात्मक रूप जीवन व्यवहार की भाषा से अलगाव सूचित नहीं करता। वह काव्यभाषा सामाजिक जीवन के यथार्थ के विभिन्न संदर्भों, संकेतों और सूचनाओं से भरी हुई है। वह साहित्य धर्म और दर्शन की परंपराओं के संदर्भों से भी अनेक रूपों में जुड़ी हुई है। इसमें जातीय जीवन के इतिहास की स्मृतियां भी सुरक्षित हैं। सूर की काव्यभाषा की सृजनशीलता का मुख्य स्रोत उस समय के समाज और जनजीवन का यथार्थ ही है, क्योंकि कविता की भाषा जीवन व्यवहार की भाषा है। सूर की काव्यभाषा का विश्लेषण करके उस युग के समाज, इतिहास और संस्कृति को जाना जा सकता है। विनय के पदों में दार्शनिक भाषा में समाज का चित्रण है और भ्रमरगीत में दैनिक जीवन के व्यवहार तथा अनुभव की वास्तविकताओं से निर्मित काव्यभाषा है। सूर की कविता में काव्यभाषा और जीवन व्यवहार की भाषा में एकता है, इसलिए वह काव्यभाषा अपने युग के सामाजिक जीवन के यथार्थ को अनुभव के स्तर पर ही व्यक्त नहीं

NMDC-065

करती, संरचना के स्तर पर भी अभिव्यक्त करती है। यहां कविता के शब्द और सामाजिक जीवन के अनुभव के बीच कोई दूरी नहीं है। यही कारण है कि सूर की कविता का सत्य उस युग का सामाजिक सत्य है, वह ऐतिहासिक सत्य है।

सूरदास की काव्यभाषा रूपक प्रधान भाषा है। यहां रूपक केवल अलंकार मात्र नहीं है। भाषा का रूपात्मक चरित्र एक विशेष प्रकार की चिंतन पद्धति का लक्षण है। चूंकि भाषा में ही चिंतन संभव है इसलिए भाषा का स्वरूप चिंतन के स्वरूप को जाहिर करता है। सूरदास के रूपकप्रधान या लाक्षणिक चिंतन के अनुरूप ही उनकी काव्यभाषा की संरचना निर्मित हुई है। इसी रूपक प्रधान भाषा में वे जीवन के यथार्थ अनुभूति, विचार आदि की पुनर्रचना और अभिव्यक्ति करते हैं। वे राधा और कृष्ण के चरित्र, व्यवहार, सौंदर्य, भाव आदि की व्यंजना भी लाक्षणिक भाषिक संरचना में ही करते हैं। भ्रमरगीत में भावों की गहराई और वैचारिक द्वंद्वों की जटिलता की अभिव्यक्ति रूपकप्रधान भाषा में हुई है। सूरदास रूपात्मक चिंतन के सहारे ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं और बिंब, प्रतीक, अन्योक्ति आदि की रचना भी करते हैं। इस रूपात्मक चिंतन से ही काव्यभाषा में वाग्विदग्धता, उपचार वक्रता और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का विकास हुआ है।

सूरदास के पदों की रूपकप्रधान संरचना के दो स्तर हैं। प्राय: पदों की बाहरी संरचना रूपकात्मक है, लेकिन भीतर अनुभूतियों, विचारों, वस्तुओं और स्थितियों की अभिव्यंजना यथार्थवादी है। सूरदास के रूपक निर्माण का आधार बहुत व्यापक है। प्रकृति, मानवजीवन, समाज, मिथक, इतिहास और संस्कृति आदि के क्षेत्र उनकी रूपक रचना के मुख्य स्रोत हैं। सूरदास रूपकप्रधान चिंतन के सहारे अपनी कविता में परस्पर विरोधी और असंबद्ध प्रतीत होने वाले भावों विचारों और स्थितियों को परस्पर संबद्ध रूप में व्यक्त कर पाते हैं। राबर्ट बाइमान ने ठीक ही लिखा है कि 'रूपक में भौतिक और आध्यात्मिक, मूर्त और अमूर्त, सामान्य और विशिष्ट, सामाजिक और वैयक्तिक के बीच संबंध स्थापित करने की क्षमता होती है।' रूपकप्रधान चिंतन और रूपात्मक काव्यभाषा की इस सामंजस्य शक्ति का प्रमाण सूर के काव्य से बेहतर और कहां मिल सकता है।

सूर की काव्यभाषा केवल इंद्रियबोध और भावों की व्यंजना में ही सक्षम भाषा नहीं है। वह केवल बिंब निर्भर काव्यभाषा भी नहीं है। यह काव्यभाषा गहरे स्तर पर विचारप्रधान है। प्रतीकों के प्रयोग में विचारशीलता का एक स्तर दिखाई देता है और अलंकारों के प्रयोग तथा वाग्विदग्धता में दूसरा स्तर। इस काव्यभाषा में अर्थ की गहराई, अनेकार्थता, संदर्भ संपन्नता, संरचनात्मक सुसंगति और रूपात्मक संयम आदि के मूल में बौद्धिकता ही है। अनेक भावों की एक साथ व्यंजना करने की क्षमता के पीछे गहरी विचारशीलता है। सूरदास की काव्यभाषा में अपने युग के बौद्धिक

NMDC-065

द्वंद्वों (ज्ञान और भक्ति तथा सगुण और निर्गुण के द्वंद्वों) की अभिव्यक्ति है, उसमें सामाजिक जीवन के विविध रूपों और स्तरों का बोध है, युग की कला चेतना की अभिज्ञता है, युग की नैतिक चेतना के द्वंद्व की पहचान है और एक विशेष प्रकार के दार्शनिक चिंतन की अभिव्यक्ति है। इन सब के बावजूद, क्या यह कहना सही है कि सूर की कविता में केवल इंद्रियबोध और भावों की व्यंजना है और यही उसके स्थायित्व का कारण है? सूर की कविता का सौंदर्यबोधात्मक महत्व उसके ज्ञानात्मक पक्ष, नैतिक चेतना और अभिव्यक्ति के सौंदर्य से अलग नहीं है।

भारतीय कविता के इतिहास में रचना पद्धति की दृष्टि से तीन तरह के कवि हैं : स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार। वैसे तो प्रत्येक सार्थक कवि स्रष्टा होता है, लेकिन कुछ कवियों की सर्जनात्मक प्रतिभा मनुष्य के जीवन जगत के आधार पर इसके समानांतर कल्पना के नए संसार की सृष्टि करने में विशेष सक्षम होती है। इस कल्पना के संसार के कर्मशील मानव चरित्रों में मानजीवन की वास्वविकता और आकांक्षा की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविकता और संभावनाओं के द्वंद्व से निर्मित कथा और चरित्र परवर्ती काल में मिथक और इतिहास के रूप में जातीय स्मृति के अंग बन जाते हैं। भारतीय कविता में वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही कवि है। ऐसे कवियों को ही काव्यसंसार का प्रजापति कहा गया है। कुछ दूसरे मनीषी कवि मानव चरित्रों के कर्म, ज्ञान और भावना के नए संसार की सृष्टि के बदले अपने युग के यथार्थ और चेतना की पहचान करते हुए पीड़ित मानवता की मुक्ति की वैचारिक प्रेरणा देते हैं। ऐसे कवि पीड़ित मानवता की आवाज बनकर दमनकारी सत्ता, समाज व्यवस्था और विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह की चेतना जगाते हैं। ऐसे कवि कविता को सामाजिक परिवर्तन और वैचारिक क्रांति का साधन बनाते है। ये कवि अपने युग की चेतना के विकास के मार्गदर्शक, युगद्रष्टा और भावी युग के स्रष्टा होते हैं। कबीर ऐसे ही युगद्रष्टा कवि हैं।

इन दोनों से भिन्न कुछ ऐसे भी कवि होते हैं जो वास्तविक संसार के समानांतर कल्पना का नया संसार नहीं रचते और न मनीषी कवियों की तरह युगद्रष्टा होते है; लेकिन जो परंपरा से प्राप्त कथा तथा मानव चरित्रों की अपने युग की सांस्कृतिक चेतना के संदर्भ में पुनर्रचना करते है। उनकी इस पुनर्रचना में ही उनकी कला प्रकट होती है। यह पुनर्रचना पुरानी रचना को दोहराना या उसका अनुकरण नहीं हैं, यह पुनर्रचना नई रचना है। परंपरा की पुनर्रचना करने वाली नई सृष्टि दृष्टि में कलाकार कवियों की कला और रचना कौशल की शक्ति अभिव्यक्ति होती है। ऐसे कवियों की कला परंपरा के विकास, साहित्यिक विधा और रूप संबंधी आविष्कार और नई शिल्प विधि के विकास में दिखाई देती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ऐसे कवियों की कला केवल रूप पर निर्भर होती है। रूप संबंधी प्रत्येक आविष्कार के मूल में नई अंतर्वस्तु की कलात्मक अभिव्यक्ति की आकांक्षा होती है। कालिदास और सूरदास

NMDC-065

ऐसे ही कलाकार कवि हैं। स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार कवियों की पारस्परिक भिन्नता की बात करने का उद्देश्य इनकी रचना दृष्टि संबंधी विशिष्टताओं को समझने का आग्रह करना है, इनकी रचना दृष्टियों में आत्यंतिक पृथकता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं है।

ये तीनों रचनादृष्टियां कई बार एक ही कवि में मिल सकती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये तीनों रचनादृष्टियां सार्थक कवियों की रचनाशीलता में कमोबेश मौजूद रहती हैं। फिर भी, रचनादृष्टियों की प्रधानता-अप्रधानता के आधार पर स्रष्टा, द्रष्टा और कलाकार कवियों की रचनाशीलता में निहित अंतर की समझ से बेहतर काव्य विवेक की संभावना बनती है। भारतीय कविता के इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि सूरदास कालिदास की तरह मानवीय प्रेम और सौन्दर्य के कलाकार कवि हैं। उनकी कलाकृति की रचना के अधिकांश उपादन परंपरा और लोकजीवन के हैं, लेकिन कृति की रचनादृष्टि सूर की अपनी है। रचनादृष्टि का यही निजीपन सूर की काव्यकला की महानता का मुख्य कारण है। सूरदास की रचनादृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें अनुभूति की तन्मयता, निश्छलता, सच्चाई और पवित्रता तथा लोककला के सरल सहज सौन्दर्य से स्वाभाविक एकता है। यही सूर की कविता की सार्वभौम लोकप्रियता का बुनियादी कारण है।

संदर्भ

1. जान हेवार्ड (सं.), 'टी.एस. इलियट सलेक्टेड प्रोज', (लंदन, 1965)
2. टी.एस. इलियट (सं.), 'एजरा पाउड सेलेक्टेड पोयम्स', (लंदन, 1948) पृ. 9
3. टी.एस. इलियट (सं.), 'लिटरेरी एसेज आफ एजरा पाउंड', पृ. 23
4. राधाकमल मुखर्जी, 'दि फ्लावरिंग आफ इंडियन आर्ट', पृ. 254
5. हरबर्ट रीड, 'क्लेक्टेड एसेज इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म', (लंदन, 1950) पृ. 19
6. रवींद्रनाथ ठाकुर, 'साहित्य', बंबई, 1949, पृ. 109
7. ब्रजेश्वर वर्मा, 'सूरदास', पृ. 334
8. वही, पृ. 71-72
9. चंद्रबली पांडेय, 'हिंदी कवि चर्चा', पृ. 210
10. ब्रजेश्वर वर्मा, 'पूर्वोद्धृत', पृ. 342
11. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्मसाधना', पृ. 150
12. सूज़न के. लैंगर, 'फीलिंग ऐंड फार्म', लंदन, 1953 पृ. 27
13. जान हेवार्ड (सं.) 'पूर्वोद्धृत', पृ. 63
14. शिवपूजन सहाय (सं.), 'हिंदी साहित्य और विचार', खंड एक पटना, 1960) पृ. 3-18
15. वही, पृ. 32

NMDC-065

16. वही, पृ. 34
17. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, वही, पृ. 86
18. शिवप्रसाद सिंह, 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', वाराणसी, 1958, पृ. 20
19. वही, पृ. 149
20. के. वासुदेव शास्त्री, 'संगीतशास्त्र', सूचना विभाग, उ.प्र., 1958, पृ. 1
21. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 187
22. रामचंद्र शुक्ल, 'सूरदास', पृ. 114
23. डब्ल्यू. पी. केर, 'फार्म ऐंड स्टाइल इन पोयट्री' लंदन, 1928, पृ. 159
24. जेम्स ज्वायस, 'ए पोट्रेड आफ दि आर्टिस्ट एज ए यंग मैन', लंदन, 1964, पृ. 215
25. पर्सी ब्राउन, 'इंडियन पेंटिंग', 1947, पृं. 37
26. रागिनी देवी, 'डांसेज आफ इंडिया', कलकत्ता, 1953, पृ. 56
27. शिवप्रसाद सिंह, 'पूर्वोद्धृत', पृ. 229
28. हरिप्रसाद द्विवेदी, 'पूर्वोद्धृत', पृ. 145
29. नंददुलारे वाजपेयी, 'महाकवि सूरदास', पृ. 121
30. विजयेंद्र स्नातक, 'सूरदास' (आलोचना, वर्ष सात, अंक एक जनवरी, 1959) पृ. 64
31. रामचंद्र शुक्ल, 'पूर्वोद्धृत', पृ. 74
32. वही, पृ. 74
33. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'सूर साहित्य', पृ. 86
34. शिवपूजन सहाय (सं.), 'हिंदी साहित्य और बिहार', पृ. 34
35. सत्येंद्र, 'सूर की झांकी', आगरा, 1956, पृ. 145
36. वही, पृ. 148
37. गाल्वानो डेल्ला बोल्पे, 'क्रिटीक आफ टेस्ट', लंदन, 1978, पृ. 25
38. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और संवेदना', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964, पृ. 46
39. वही, पृ. 50
40. राबर्ट वाइमान, 'स्ट्रक्चर ऐंड सोसाइटी इन लिटरेरी हिस्ट्री', लंदन, 1977, पृ. 195

NMDC-065

13. मीरा और गिरधर नागर

विश्वनाथ त्रिपाठी

हमारे मध्यकालीन भक्तकवियों का प्रामाणिक जीवनवृत्त तो उपलब्ध नहीं, लेकिन उनकी कविता पढ़ते समय कविता में उनका व्यक्तित्व बार-बार उभर आता है। वे अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं को लिए-दिए इष्ट को समर्पित होते हैं। अपने इष्ट की जो मूर्ति ये कवि अपनी वाणी द्वारा गढ़ते हैं, उसमें इनका व्यक्तित्व भी घुला-मिला होता है। मीरा ने अन्य महान कवियों की तुलना में – कबीर, जायसी, सूर, तुलसी की तुलना में – कम लिखा है किंतु अपने विषय में उन्होंने पर्याप्त संकेत दिए हैं। केवल तुलसी ने ही अपने जीवन के विषय में मीरा से अधिक लिखा होगा।

मीरा की कविता में लोकलाज, कुल की मर्यादा को तोड़ने या लांघने की बात बार-बार कही गई है। यह अकारण नहीं। इसके सामाजिक कारण हैं। मीरा अपने इष्ट को समर्पित तो होती हैं लेकिन इस समर्पित होने की प्रक्रिया में जो विघ्न-बाधा आती है उसका संकेत भी वह दे देती हैं। यह भी देखने की चीज है कि तुलसी के समान मीरा की कविता में भी 'दुर्जन', 'खल' आते हैं। विषमता का बोध मीरा के यहां प्रकट है। कबीर, तुलसी ने अपने समकालीन किसी 'खल' का नाम लेकर उल्लेख नहीं किया। मीरा ने 'राणा' का नाम लिया है। मीरा की कविता में अमृत-विष साथ-साथ अकसर आते हैं। कहा गया है कि उन्हें विष दिया गया था, उन्होंने पी लिया तो अमृत हो गया। पता नहीं यह सत्य है या असत्य। लेकिन इसका प्रतीकार्थ जरूर है। विषपान मीरा का –मध्यकालीन नारी का – स्वाधीनता के लिए संघर्ष है और अमृत उस संघर्ष से प्राप्त तोष है जो भावसत्य है। मीरा का संघर्ष जागतिक, वास्तविक है, अमृत उनके हृदय या भावजगत में ही रहता है।

मध्यकालीन समाज में अवर्णों को सवर्णों के समान होने के लिए जातिप्रथा से टकराना पड़ता था तो नारियों को रूढ़िग्रस्तता और छद्म कुलमर्यादा से। भक्ति आंदोलन में आर्थिक समानता की बात नहीं थी, बात केवल भक्ति की दृष्टि से समानता की थी। लेकिन इस भावजगत की समानता के अनुकूल आचरण करने पर जातिप्रथा और नारीपराधीनता की रूढ़ि रास्ता रोककर खड़ी हो जाती थी। मीरा जब कविता में बार-बार लोकलाज, कुल की मर्यादा को तोड़ने की बात कहती हैं तब वह उसी बाधा का संकेत करती हैं। ऐसे उल्लेख मीरा के यहां बहुत ज्यादा हैं। जैसे तुलसीदास को जहां अवसर मिलता है भूख, अकाल, महामारी और कामदेव के प्रभाव का उल्लेख कर देते हैं, कबीर 'जाति जुलाहा मति का धीर' जैसा उल्लेख कर देते हैं, वैसे ही मीरा लोकलाज, कुल की मर्यादा तोड़ने का अदबदा कर उल्लेख करती हैं :

NMDC-065

लोक लाज कुलराँ मरजादाँ जग माँ णेक णा राख्याँ रीं
साज सिंगार बाँध पग घूँघर लोकलाज तज नाची।
लोकलाज की काण न मानूं।
लोग कह्यां मीरां बावरी सासु कह्या कुल नासाँ री।
लोकलाज कुलकाण जगत की दइ बहाइ जस पाणी।
थोर कारण जग जण त्यागाँ लोकलाज कुल डाराँ।

मीरा ने यह भी लिख दिया कि लोकलाज तो मैंने तोड़ दी, लेकिन इसके लिए लोग मुझे बुरा कहते हैं, निंदा करते हैं, तरह तरह की बातें करते हैं। सास लड़ती है, ननद खिजाती है, पहरा बिठला दिया गया है, ताला जड़ दिया गया है, ताकि मीरा बाहर न जा सके :

हेली म्हासूं हरि बिन रह्यो न जाय।
सास लड़े मेरी ननद खिजावै राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठारयो तालो दियो जड़ाय।

सास-ननद ही नहीं, लोग भी कड़वे बोल बोलकर हंसी उड़ाते हैं :

कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्यां म्हारी हाँसी।
आबाँ की डालि कोइल इक बोले मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी।

सास बुरी है ननद हठीली है लड़ लड़ के मुझे ताड़ती है :

सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि मोहि तारी।

कहा जा सकता है कि सास-ननद, ताला, चौकी, पहरा आदि का उल्लेख उस युग की स्त्रियों की अभिव्यक्ति का मुहावरा था। ठीक है, लेकिन यह तो पता चलता ही है कि मीरा की कविता उस युग के सामान्य नारी-मन की विवशता को प्रस्तुत कर रही है। यद्यपि मीरा ने जिस ढंग से बात लिखी है, उससे साफ पता चलता है कि यह मुहावरा नहीं मीरा की आपबीती है। सास-ननद, पहरा, चौकी, ताला, मुहावरा है, 'राणा' तो मुहावरा नहीं : 'सास लड़े मेरी ननद खिजावै राणा रह्या रिसाय।'

यह राणा मुहावरा नहीं बल्कि मीरा को पीड़ित करने वाला शासक है। मीरा की कविता संबोधित कविता है। वह 'राणा' को अनेकश: याद करती हैं। कभी उसे संबोधित करती हैं, कभी उसके अत्याचारों का वर्णन करती हैं।

मीरा के आचरण में यह कौन सी बात थी जो 'राणा' को नापसंद थी, जिससे कुल की मर्यादा

NMDC-065

नष्ट होती थी। मीरा का व्यक्तित्व मध्यकालीन नारी जीवन को देखते हुए, इतना असामान्य है कि उनके विषय में नाना प्रकार की कहानियां और किंवदतियां प्रचलित रहीं। इतना तय है कि उनका गृहस्थ जीवन उनके पति की मृत्यु के कारण छिन्न भिन्न हो गया था। यह भी तय है कि वह घर की चारदीवारी में रहकर सामान्य विधवा जीवन ही नहीं बिताना चाहती थीं, साधुसंगति भी करना चाहती थीं।

मीरा भक्त थीं। भक्त होना न तो बुरी बात है, न आपत्तिजनक। यदि वह सभी लोगों की तरह घर में रहकर पूजा पाठ करके भक्ति करके अपना वैधव्य काटती रहतीं तो राणा को क्या आपत्ति होती ! आपत्ति का कारण साधुसंगति ही ज्ञात होता है। मीरा केवल भक्त ही नही थीं, वह राणाकुल की वधू भी थीं। वह सामान्य भक्तिन की तरह सामान्य लोगों से मिलती-जुलती थीं, तो राणाकुल की मर्यादा कैसे न भंग होती ?

मीरा ने लोकलाज, कुलमर्यादा की ही तरह इस साधुसंगति का भी उल्लेख अपनी कविताओं में अनेकशः किया है। वह 'राणाकुल' को शृंखला का प्रतीक मानती हैं और इस कुल से बाहर निकलकर दो काम करना चाहती हैं : साधुसंगति करना चाहती हैं और (कविताओं मे) कृष्ण से मिलना चाहती हैं। साधुसंगति और कृष्णमिलन ये दोनों वस्तुतः एक ही उद्देश्य हैं। कृष्ण से मिलन का अर्थ भावजगत में कृष्ण का मिलन। अर्थात साधुसंगति में कृष्णगुण कीर्तन। इस उद्देश्य की पूर्ति राणाकुल से बाहर आकर सामान्य जीवन में घुलने मिलने से ही हो सकती है। मीरा ने लिखा :

मीराँ तो गिरधर बिन देखे, कैसे रहे घर बसिके।

मीरा का अपना कोई नहीं, केवल गिरधर गोपाल है। मीरा ने भाई-बन्धु सगे-साथी सब छोड़ा। साधुओं के साथ बैठ बैठ कर लोकलाज खो दी। भक्तों को देखकर वे प्रसन्न होतीं, जगत को देखकर रोतीं। आंसुओं से सींच सींच कर उन्होंने प्रेमबेल बोई। राणा ने विष का प्याला भेजा। मीरा ने मगन होकर पी लिया। मीरा को लगन लग गई अब जो होना है, हो :

म्हाराँ री गिरधर गोपाल दूसरा णाँ कूयाँ।
दूसरा णाँ कूयाँ साधाँ सकल लोक जूयाँ।।टेक।।
भाया छाँड्याँ बन्धा छाँड्याँ छाँड्या सगा सूयाँ।
साधाँ ढिग बैठ बैठ, लोक लाज खूयाँ।
भगत देख्याँ राजी हुयाँ जगत देख्याँ रूयाँ।
असवाँ जल सींच सींच प्रेम बेल बूयाँ।

NMDC-065

दध मथ घृत काढ़ लयाँ डार दया छूयाँ।
राणा विषरो प्यालो भेज्याँ पीय मगन हूयाँ।
मीरां री लगण लग्याँ होणा हो जो हूयाँ।

इस पद में मीरा ने अपनी बाह्यांतर स्थितियों का सम्यक परिचय दिया है। वे इस जगत में अकेली हैं। कोई उनका नहीं है, पति मृत हो चुका है। विधवा के साथ भाईबंधु-भतीजे कैसा व्यवहार करते हैं, यह विदित है। सभी को मीरा ने बाद में छोड़ा होगा, सभी ने मीरा को छोड़ना, उपेक्षित करना पहले शुरू किया होगा। इस जगत को देखकर वे रोती हैं, इस दुखी और असंग जगत में सार्थकता साधुसंग से ही संभव थी जिससे कि रिक्त हृदय में हरि को बसाया जा सके। जीवित रहते तो हृदय खाली रह नहीं सकता। कोई न कोई उसमें रहेगा ही। मीरा ने उसमें हरि को बसाया। साधुसंग इसका कारण और इसके लिए आवश्यक था। हरि के प्रति समर्पित हृदय ने बहुत वेदना सहकर और उसे सहने की प्रक्रिया में ही प्रेम को पल्लवित किया। राणा इससे नाराज हुए उन्होंने मीरा को दंड दिया, दुखी किया। लेकिन मीरा पथ की बाधाओं और संकटों को प्रसन्नतापूर्वक सहने के लिए तैयार हैं। इस जीवन की सार्थकता को उन्होंने पहचान लिया है। वह प्रेम में हैं, उनका साधन साधुसंगति है, राणा का महल नहीं।

कुमति गई तो उन्होंने साधुसंगति ग्रहण की: 'गया कुमत लयाँ साधाँ संगत श्याम पीत जग साँची!'

'साधाँ संगत हरि सुख पास्यूँ जगसूँ दूर रह्याँ' अर्थात मीरा जगत से दूर रह साधुसंगति में हरि सुख पाती हैं। मीरा को राणा से यह शिकायत भी थी कि उसके देश में साधु नहीं हैं, बुरे लोग बसते हैं।

थारे देसाँ में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।

मीरा को साधु अच्छे लगते थे। लेकिन दिक्कत यह थी कि जगत में–जिस जगत को देखकर मीरा को रोना आता था, उसमें–दुर्जन भी कम नहीं थे, शायद सज्जनों से कहीं ज्यादा संख्या में थे। मीरा ने साधुओं को ही नहीं इन दुर्जनों को भी याद किया–मैं सत्संग में ज्ञान सुनती हूँ। दुर्जनों ने यह देखा। देखकर क्या प्रतिक्रिया व्यक्त की इसे कहने की जरूरत मीरा ने कहीं समझी। कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त की होगी–इसका अनुमान करना हम मध्यवर्गीय भारतीयों के लिए, विशेषत: हिंदी क्षेत्र के मध्यवर्गीय भारतीयों के लिए, दुष्कर नहीं। 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्लनो जन:' लिखने वाले महान करुणावान कवि भवभूति ने इसी देश के लोगों के विषय में यह पंक्ति लिखी थी। दुर्जनों ने जो कुछ किया, कहा उनका निवारण मीरा ने गिरधर नागर की छाया-शरण में जाकर किया। उद्वेलित, लमता है, वह काफी थीं, इसलिए कटुता गिरधर नागर

NMDC-065

भी पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाए, मुंह से निकल ही गया–दुर्जन जाकर अंगीठी में जल जाएं:

सतसंगति मा ज्ञान सुणै छी दुरजन लोगाँ नै दीठी।
मीराँ रो प्रभु गिरधर नागर, दुरजन जलो ना अँगीठी।

लोग कड़वे बोल बोलते हैं, हंसी उड़ाते हैं। यह नहीं देखते कि मीरा तो हरि के हाथ बिक गई है, उनकी शरण में चली गई है:

कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्याँ म्हारी हाँसी।
मीराँ हरि रे हाथ बिकाणी जणम जणम री दासी।

सासु ने कहा–मीरा कुल का नाश करने वाली है: 'सासु कह्या कुल नासाँ री।'

मध्यवर्गीय भारतीय समाज की स्त्रियों के पीड़न में स्त्रियों का भी योगदान होता है। सासु-पतोहू, ननद-भौजाई का कलह भारतीय स्त्रीसमाज की बहुत बड़ी विशेषता है। यह संयुक्त परिवार की विशेषता है। सासु-बहू, ननद-भौजाई में कलह ही नहीं होता, प्रेम भी होता है, किंतु विख्यात कलह ही है। मीरा के जीवन के विषय में तो लोकसाहित्य प्राप्त होता है, उससे मीरा ने 'सासु-ननद' या 'राणा' के विषय में जो लिखा है, वह समर्थित होता है। लोकसाहित्य को प्रामाणिक नहीं मान सकते। लेकिन इसका कुछ न कुछ आधार होना चाहिए। संभावना यही है कि मीरा के साथ जो कुछ घटित हुआ था वह लोकसाहित्य के माध्यम से अब तक लोकचित में सुरक्षित है। डा. पद्मावती 'शबनम' ने रूपक गायकों की शैली में प्राप्त ऐसे पदों का संकलन किया है जो उनके ग्रंथ 'मीरा व्यक्तित्व और कृतित्व' में प्रकाशित हैं। इन पदों में 'ऊदा' और 'मीरा' का संवाद कराया गया है। कहते हैं ऊदा मीरा की ननद का नाम था। डा. शबनम का विचार है कि ऊदा या ऊदौ मीरा की ननद नहीं मीरा के देवर का नाम था।[1] पदों में मीरा को भाभी का संबोधन किया गया है। 'मीरा' को भाभी देवर भी कह सकता था ननद भी। जो हो इन संवादात्मक पदों का अध्ययन कम से कम इस बात को प्रकट कर देता है कि वह 'कुल' कैसा हो जिसकी 'शृंखला' तोड़कर मीरा बाहर आना चाहती थीं। यह भी द्रष्टव्य है कि मीरा की विरह वेदन के माध्यम से अपनी रचनाओं में जिन स्थितियों को अभिव्यक्त किया है, उनका ये संवादात्मक पद समर्थन करते हैं:

ऊदौ: थाणे बरज मैं हारी, भाभी मानो बात हमारी।
राणे रोस किया था पर साधो में मत जारी।
कुल को दाग लगे छै भाभी, निन्दा हो रही भारी।
साधो रे संग बन बन भटको लाज गमाई सारी।
बड़ा घराँ में जनम लियो छै नाच्यो दे दे तारी।

NMDC-065

तुम्हें बरज बरज कर मैं हार गई, भाभी मेरी बात मानो। राणा ने रोष किया था–तुम साधुओं में मत जाओ, भाभी, कुल को दाग लगता है, भारी निंद हो रही है, तुम साधुओं के संग वन वन भटकती हो, सारी लाज गंवा दी है। इतने बड़े घर में तुम्हारा जन्म हुआ। और तुम ताली दे दे कर नाचती हो! (या तुम्हें ताली दे दे कर इस प्रकार सबके बीच में नाचना शोभा नहीं देता)

मीरा ने कुछ उत्तर दिया तो ऊदा फिर कहती है:

भाभी ! बोलो बात बिचारी।
साधो की संगत दुख भारी, मानो बात हमारी।
छाया तिलक गलहार उतारों; पहिरों हार हजारी।
रतन जड़ित पहिरो आभूषण, भोगो भोग अपारी।
मीरा जी थे चालो महल में थाणे सोगन म्हारो।

मीरा ने उत्तर दिया :

ऊदा बाई मन समझ जाओ अपने धाम।
राज पाट भोगो तुम ही हमसे न तासूँ काम।

ऊदा ने मीरा को दुनियादारी समझाते हुए कहा–भाभी तुम्हारी जात उत्तम है। यह ऊँच-नींच में तुम्हारा बैठना ठीक नहीं, तुम्हें राणा सा वर मिला है, जिसका नौ कोट (किले) में राज है। खीर-खांड का भोजन करो, दखिनी चीर पहनो। अगर तुम नहीं मानोगी (साधुसंगत करोगी और फलस्वरूप राणा तुम्हें छोड़ देंगे) तो बासी-कूसी टुकड़ा मिलेगा, खट्टी छाछ मिलेगी, भाभी भूखी मर जाओगी। तुम्हारे भगवान नहीं आएंगे तुम्हें सुखी करने।

ऊँचा नीचा बेसणा ये भाभी उतम तिहारी जात।
राणा सो वर पाइयो हे भाभी नौ कूँटा में थारो राज।
खीर खाँड को भोजन जीमो भाभी ओढ़ो दिखणी चीर।
राणा सो बर पाइयो ये भाभी, सब महलायें थाँरो सीर।
बास्या कूस्या टूकड़ा ये भाभी और मिलेगी खाटी छाय।
रो रो भूखा मरो ये भाभी, नहीं मिलेगी हरि आय।

जाति प्रथा, स्त्रीपराधीनता, आर्थिक विषमता किस प्रकार परस्पर संबद्ध हैं यह हमारे अनेक आधुनिक चिंतक नहीं समझ पाते। इन लोकगीतों के रचयिताओं ने समझ लिया था। उनकी यह

NMDC-065

समझ किताबें पढ़कर नहीं विकसित हुई है, समाज में जो कुछ होता है उसे देखकर आई है—'तू कहत्ता है कागद लेखी मैं कहता हूं आंखिन देखी'।

जो दुर्जन मीरा को घर में कैद रखना चाहते थे या बाहर निकलने पर निंदित करते थे, हंसी उड़ाते थे, कड़वा बोल बोलते थे, उनके सिरमौर 'राणा' थे। पता नहीं ये 'राणा' कौन थे। इन्हें मीरा ने अपनी रचनाओं में अनेक बार संबोधित किया है। कई पद तो इन्हीं को संबोधित हैं। फिर भी पता नहीं चलता कि ये मीरा के रिश्ते में क्या लगते थे। पति तो नहीं ही थे क्योंकि यह मत प्राय: मान्य है कि मीरा के पति की मृत्यु जल्दी हो गई थी। मीरा ने अपने एक पद में ऐसा संकेत भी दिया है कि वह पति की सेवा करने वाली पत्नी को बहुत आदर की दृष्टि से देखती हैं। आगे चलकर हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि मीरा पति प्रेम को सदाचार मानने वाली महिला थीं। मीरा के विषय में कभी-कभी जो अतिरिक्त आधुनिक चिंतन किया जाता है, वह बेहूदा है। ऐसे छद्म आधुनिक विचारक यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य शारीरिकता से ऊपर उठ सकता है। मीरा के समय में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। जैसे छद्म आधुनिक वैसे छद्म भक्तभंड। मीरा को राणा के साथ-साथ एक अतिचारी, मूल्यांध अति क्रांतिकारी (?) से भी टकराना पड़ा था। कुछ लोगों के सोचने समझने में औदात्य का प्रवेश ही नहीं हो सकता। ऐसे ही एक विषयी साधु मीरा के पास पहुंचे।

विषयी कुटिल एक भेष धरि साधु लियो,
कियो यों प्रसंग मों सों अंगसंग कीजिए।
आज्ञा मोकों दई आप लाल गिरिधारी,
'अहो शीश धरि लई करि भोजन हूं लीजिए।'
असभनि समाज में बिछाय सेजि बोलि लियो।
'सक अब कौन की निसंक रस भीजिए।
सेत मुख भयो, विषै भाव सब गयो,
नयो पायन पै आय, 'मोकों भक्तिदान दीजिए।'

'वार्तिक प्रकाश' में इस पद का गद्यानुवाद इस प्रकार किया गया है:

एक दिन की विचित्र वार्ता सुनिए, एक कुटिल विषयी दुष्ट साधु का भेष धारण किए हुए आके आपसे बोला कि मुझे गिरिधर लाल ने स्वयं आज्ञा दी है कि तुम जाके मीरा को पुरुष-संग का सुख दो। सो तुम मुझसे अंग-संग करो। श्री मीराजी ने उत्तर दिया कि 'आज्ञा मेरे शीश पर है, प्रथम आप प्रसाद भोजन तो कर लीजिए। मैं सेवा को उपस्थित हूं।'

NMDC-065

आप संतों के समाज के मध्य में सेज बिछवाकर उस विषयी से बोली कि 'आप पर्यंक पर सुखपूर्वक विराजिए और मुझे जो आज्ञा हो। जब प्रभु की आज्ञा है ही तो अब किसकी शंका है। आइए निशंक रस रंग में डूब के अंग-संग कीजिए।'

श्री मीराजी के वचन सुन उसका मुख फीका पड़ गया; विषयभाव तज आपके चरण में पड़ गिड़गिड़ाने लगा और कहने लगा कि मुझे अब हरि भक्ति दान दीजिए।[2]

कोई भी ऊँची साधना असामाजिक नहीं हो सकती, वह नितांत व्यक्तिगत या समाज निरपेक्ष नहीं हो सकती। संयम साधना की पहली शर्त है।

लेकिन जिस दुर्जन ने मीरा को दंडित और सबसे ज्यादा पीड़ित किया था, वह राणा थे। कहते हैं मीराबाई का विवाह महाराणा सांगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ हुआ था। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार:

मीरा मेड़ते से अपनी ससुराल मेवाड़ आकर, प्रथानुसार महल में 'मेड़तणी' कहलाकर प्रसिद्ध हो चली। उनका वैवाहिक जीवन भी अपने पति के साथ सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा; परन्तु कुंवर भोजराज अधिक दिनों तक जीवित न रह सके।... पतिदेव का वियोग होते ही उन्होंने सारे लौकिक संबंधों के बन्धन सहसा छिन्न भिन्न कर दिए और चारों ओर से चित्त हटाकर, अपने इष्टदेव के प्रति वे और भी अनुरक्त हो गईं।[3]

चतुर्वेदीजी का यह मत सुसंगत और मान्य लगता है। मीराबाई पतिप्रेम का आदर्श निभानेवाली महिला थीं—वह कोई उच्छृंखल या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असामान्य महिला नहीं थीं। मीरा ने लिखा है:

छैल विराणो लाख को हे, अपणे काज न होइ।
ताके संग सीधारताँ है भला न कहसी कोइ।
वर हीणो अपणों भलों हे कोढ़ी कुष्टी होइ।
जाके संग सीधारताँ है, भला कहै सब लोइ।

मीरा को पीड़ित करने वाले 'राणा' उनके पति नहीं, उनके देवर विक्रमाजीतसिंह थे। विक्रमाजीतसिंह के गद्दी पर बैठने के समय तक मीराबाई के पिता रतनसिंहजी की मृत्यु हो चुकी थी।[4] उनके पति और पिता दोनों की मृत्यु हो चुकी थी। मीरा निस्संतान थीं और देवर उद्दंड तथा परपीड़क था। महाराणा विक्रमाजीतसिंह यों भी अयोग्य और छिछोरे शासक थे।[5] वे क्षयिष्णु सामंती प्रवृत्ति के प्रतीक थे। मीरा को उन्होंने ही पीड़ित किया था। मीरा की कविताओं में संबोधित राणा 'महाराणा विक्रमाजीतसिंह' हैं। 'राणा' पर ही आरोप लगाना भी ठीक नहीं।

NMDC-065

वर्णव्यवस्था, जाति-पांति का ऊच-नीचपन, नारीपराधीनता की जो सामाजिक परंपरा उस समय विद्यमान थी उसमें देवर शासक अपनी युवती भाभी को साधुसंगति कैसे करने देता। सामंती व्यवस्था ना को मुख्यत: शरीर ही समझती है। पृथ्वी और नारी दोनों भोग्या हैं। पृथ्वी माता है यह आदर्श सामंत का नहीं होता। उसका आदर्श है – वीरभोग्या वसुंधरा। इसलिए 'राणा' उस संकुचित और असहिष्णु व्यवस्था के प्रतीक थे – वह खुद अच्छे या बुरे थे, इस पर किसी बहस की जरूरत नहीं।

'राणा' से संबंधित या राणा को संबोधित जो पद मीराबाई ने रचे हैं, उनमें व्यक्तिगत कटुता का भाव मौजूद है, वह उनका अनुभव था। मीराबाई ने विपुल साहित्य की रचना नहीं की, फिर भी उनकी रचनाओं में आत्मकथात्मक उल्लेख बहुत अधिक है। लगता है कि भक्तकवियों का जीवन अपेक्षाकृत अधिक विषम अनुभवों वाला था। दुर्जन उल्लेख भी सबसे ज्यादा तुलसी और मीरा के यहां ही हैं। अस्तु।

मीरा बहुत निर्भीक-निडर रही होंगी। हम जानते हैं कि 15वीं-16वीं शताब्दी में उदयपुर के राणा कहना न मानने वाली विधवा के साथ क्या सलूक कर सकते थे। ऐसे अवसरों पर अच्छे लोग भी, ईमानदार लोग भी विनय, चातुर्य एवं नीति से काम लेते हैं। अन्य संत-भक्त कवियों ने भी तत्कालीन शासकों-सामंतों की उपेक्षा की, आलोचना भी की है – लेकिन नाम लेकर बिलकुल नहीं। तुलसी ने लिखा – 'जाँचै को नरेस देस देस को कलेश करैं' देश को कलेश देने वाले नरेश से कौन याचना करे। लेकिन कौन सा नरेश देश को क्लेश पहुँचा रहा है, यह नहीं लिखा। मीरा को एक नरेश क्लेश पहुंचा रहा था। उन्होंने साफ लिखा – सीसौदिया (राणा) रूठकर मेरा क्या कर लेगा। राणा रूठेगा तो अपना देश अपने पास रख लेगा। लेकिन हरि के रूठने से तो मैं कुम्हला जाऊगी :

सीसोद्यो रूठ्यो म्हाँरो कोई कर लेसी
राणोजी रूठ्याँ बाँरो देश रखासी।
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्याँ, हो माई

राणा! तुम मुझसे बैर क्यो रखते हो। तुम तो आदमियों में इतने गुणहीन लगते हो जैसे वृक्षों में कैर का वृक्ष –

राणा जी थे क्याँने राखो म्हाँसूँ बैर।
थे तो राणा जी म्हाँने इसड़ा लागो ज्यों ब्रच्छन में कैर।

मुझसे हरि के बिना नही रहा जाता। सास लड़ती है, ननद खिजाती है, राणा क्रुद्ध है, उसने पहरा बिठा रखा है, चौकी बिठा रखी है, ताला जड़वा दिया है :

NMDC-065

हेली म्हाँसू हरि बिन रह्यो न जाय।
सास लड़े मेरी ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो, चौकी बिठार्‌यो तालो दियो जड़ाय।

मीरा की कविता का परिवेश सीमित और व्यक्तिगत है। लेकिन वह इस व्यक्तिगत और सीमित परिवेश को तोड़कर बाहर आना चाहती हैं, बाहर आने से रोकी जाती है–बाहर न आ पाने की व्यथा का वर्णन-चित्रण करती है, तो परिवेश अपनी विषमता से युक्त बाह्य समाज का भी संकेत कर देता है। मीरा ने विधाता की सृष्टि की असंगति के विषय में भी एक पद लिखा है। यह विषय मध्यकाल का काफी प्रिय विषय प्रतीत होता है–प्रसिद्ध पंक्ति है–'नाम चतुरानन पै चूकते चले गए।' मीरा ने लिखा–मृग के दीर्घ नयन हैं, मारा मारा फिरता है मृगजाल देखकर,बगुले को उजले पंख, कोयल काली, नदी का जल निर्मल, समुद्र का खारा। सिंहासन पर बैठे हैं, विद्वान द्वार द्वार मारे फिरते हैं। फिर लिखा–राणा भक्तों का संहार करता है।

मूरख जण सिंघासण राजा, पंडित फिरताँ द्वाराँ
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर राणा भगत संधाराँ।

मूर्ख सिंहासनासीन है–ऐसी सीधी और कटु उक्ति भक्तकवियों में से कम ने की होगी। मीरा को अन्य भक्तकवियों की अपेक्षा सिंहासनसीनों की मूर्खता को अनुभव करने का मौका अधिक निकट से मिला था। उन्होंने इस मूर्ख राजा की मूर्खता प्रत्यक्षत: झेली थी। सिंहासनसीन मूर्ख ही अन्यायी भी है। उसमें मूर्खता और नीचता का विरल संयोग है। वह मूर्ख भी है और भक्तों का संहारक भी। हिंदी में लिखने वाले ऐसे कई लोग हैं जो राजनीतिक इतिहास की तरह साहित्यिक इतिहास को भी सांप्रदायिक दृष्टि से देखते हैं। ऐसे लोगों का मत है कि भक्त कवि विधर्मी शासन यानी मुस्लिम शासन के विरुद्ध थे। मुस्लिम शासन के विरुद्ध होना एक बात है और शासन के विरूद्ध केवल इसलिए होना कि वह 'मुस्लिम' है दूसरी बात। ऐसे साहित्य विचारकों का बहुत जोर इस बात है कि तुलसी ने रावण या राक्षसों का जो रूप खींचा है वह मुगल शासकों का है। मुगल शासक भी अत्याचार करते थे इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन उस समय देश में अनेक हिंदू सामंत शासक भी थे। वे कैसे थे? इसके विषय में विचारक कुछ नहीं कहते। तुलसी ने राक्षसों के विषय में लिखा है कि रावण के राज्य में राक्षसों के उपद्रव के कारण न कहीं भक्ति रह गई न जप, तप, ज्ञान–'नहि हरि भगति जग्य तप ग्याना'। मीरा ने गिरधर नागर से निवेदन करते हुए लिखा कि राणा भक्तों का संहार करता है : 'मीरा रे प्रभु गिरधर नागर राणा भगत संघारां।'

स्पष्ट है कि रावण या राक्षस कौन है भक्तकवियों की निगाह में। सामंती शासक मात्र रावण और राक्षस हैं। हिंदू-मुसलमान दोनों रावण-राक्षस बन सकते हैं। 'रावण' ब्राह्मण था–उत्तम

NMDC-065

कुल पुलस्त्य का नाती, मुगल या मुसलमान तो वह नहीं था। ऐसे विचारकों की ही पंक्ति में वे विचारक भी आते हैं जो मुगल शासकों की आलोचना करने वाले को सांप्रदायिक घोषित कर देते हैं। निराला ने 'तुलसीदास' में लिखा : 'शासन करते हैं मुसलमान' या 'मोगल दल बल के जलद-यान बस शीघ्रगामी चिंतकों ने घोषित कर दिया–'निराला में भी सांप्रदायिकता है।' यह निर्णय भी इतिहासबोध के अभाव के कारण है।

भक्तों, सूफियों, संतों को पीड़ा जो सामंत देते थे–वे हिंदू-मुसलमान दोनो थे। राणा विक्रमाजीत यदि मीराबाई को जहर का प्याला पिलाता था तो आलमगीर सरमदी सूफ़ी को कत्ल करवाता था।

इसी से निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि भक्ति आंदोलन सामंती व्यवस्था का समर्थक नहीं विरोधी था। भक्तकवियों ने मध्यकाल में सामंती व्यवस्था के विरुद्ध कोई राजनीतिक-सामाजिक संगठन नहीं खड़ा किया। वे ऐसा नहीं कर सकते थे। वे समाज का राजनीतिक-आर्थिक विश्लेषण करने वाले सेमिनारशूर आधुनिक समाजविज्ञानी नहीं थे जो अपने वैज्ञानिक ज्ञान से बैंकबैलेंस बढ़ाने में माहिर हैं। भक्तों की यह कमी बताना कि वे राजनीतिक संगठन नहीं करते थे, अनावश्यक है। विशिष्ट संगठन तब बनते हैं जब उनके उपयुक्त स्थिति और बोध उत्पन्न हो जाता है। भक्तकवि भावना की साधना करते थे। उनकी साधना मुख्यत: व्यक्तिगत थी। लेकिन चूंकि वे अपनी निष्ठा के अनुसार आचरण भी करते थे इसलिए ह्रासोन्मुखी रूढ़ियां उनका विरोध करती थीं। भक्तकवि इन विरोधों से टक्कर लेते थे। इस टक्कर का वर्णन-चित्रण उन्होंने अपनी कविता में कर दिया है। जो ह्रासोन्मुखी रूढ़ियां उनके सदाचार का विरोध करती थी वे सामंती व्यवस्था की समर्थक थीं। हम भक्तकवियों को इसी दृष्टि से और इसी अर्थ में सामंती व्यवस्था का विरोधी कहते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं हि इस विरोध का स्तर भावनात्मक था। यह कोई राजनीतिक-आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर स्थित विरोध नहीं था। इस विरोध का आधार भक्तकवियों का व्यक्तिगत अनुभव था, इसके पीछे कोई सजग व्यवस्थाविरोध नहीं था। वे विरोध उस अमानवीयता का करते थे जो भक्ति, सदाचार और करूणा के आड़े आती थी। सामंती राजदरबार में यदि वे नहीं जाते थे, उसकी उपेक्षा करते थे तो इसी करुणा के कारण। मीरा ने जन्म ही राजकुल में लिया था। वह भक्ति कैसी थी जिसने समस्त राजपरिवार को मीरा के विरुद्ध खड़ा कर दिया? वह भक्ति सामंती व्यवस्था की समर्थक थी या विरोधी जो भक्तकवियों को दरबारों में जाने से रोकती थी और यदि कोई राजकुल में जन्मा भी तो उसे राजकुल छोड़ने पर विवश कर देती थी। कच्चे समाजविज्ञानी सब कुछ समझ लेते हैं सिर्फ भावना की शक्ति और प्रवृत्ति नहीं समझ पाते। भक्ति इस भावना पर आधारित एक व्यापक आंदोलन था, अत: वह सामाजिक भी था। सामाजिक न होता तो समस्त भारत को सहस्त्र वर्षों तक प्रभावित न किए रहती।

NMDC-005

जनश्रुति है कि राणा विक्रमजीत ने मीरा को विष दिया था। मीरा की रचनाओं में इसका बहुश: उल्लेख है। मीरा ने लिखा है कि वह विष मीरा के लिए अमृत बन गया। 'मान्य है कि मीरा के साधु-समागम के कारण होते लोकापवाद के कारण त्रस्त हो राणा विक्रमादित्य ने अपने बीजावर्गी मुसाहब की सलाह से उसी के द्वारा फूलों की डालियों में सांप-बिच्छू तथा चरणामृत के व्याज से विष का प्याला भेजा। एक मान्यता तो यह भी है कि मारा की मृत्यु विषपान से हुई। 'मीराबाई का शाप बीजावर्गी कौम को अब तक लगा हुआ है और वे मानते हैं कि उस शाप से हमारी औलाद और दौलत में तरक्की नही होती।

स्पष्ट है कि विषपान से मीरा की मृत्यु हो गई होती तो वह उस घटना का उल्लेख न कर पातीं। संभव है कि यह प्रयत्न कई बार हुआ हो और एक-दो बार बच जाने के बाद अंतत: मीरा की मृत्यु विषपान से हो गई हो। मीरा की मृत्यु के विषय में जो अनिश्चय है उसे देखते हुए यह असंभव नहीं जान पड़ता। जो हो, इस विषय में केवल अनुमान लगाया जा सकता है। सच यही है कि मीरा को राणा ने बहुत प्रकार से पीड़ित किया था। विषपान मीरा के संघर्ष का प्रतीक बन गया है, अमृत भी।

मीरा को भारी लोकनिंदा सहनी पड़ी होगी। संरक्षणशील असहिष्णु भारतीय समाज के तत्वों ने क्या क्या कहा-सुना होगा–हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। मीरा जब कहती हैं–मुझे यह बदनामी मीठी लगती है, चाहे कोई निंदा करे चाहे स्तुति मैं तो अनूठी चाल चलूंगी :

राणी जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी।
कोई निन्दा कोई बिन्दो मैं चलूंगी चाल अनूठी।

तो मानना चाहिए कि बदनामी उन्हें कड़वी भी जरूर लगती रही होगी। ऐसा न होता तो वह दुर्जनों को अंगीठी में जल जाने की कामना न करतीं। वह निंदा करने वालों का कुछ बिगाड़ तो सकती नहीं थीं। कभी-कभी स्त्रियोचित अबलामुद्रा में उन्हें सरापती हैं–निंदा करोगे तो नर्ककुंड में जाओगे, आधे अपंग हो जाओगे : 'निन्दा करसे नरक कुंड माँ जासे थासे आँधला अपंग रे'।

मीरा को अपनी असहायता का तीव्र बोध है। यह बोध जितना तीव्र है उतना ही हरि के प्रति समर्पण की भावना है। इस असहायता के बोध कहीं न कहीं अबलात्व का बोध और यह अहसास कि स्त्री सचमुच अबला होती है, मिला है। पति की मृत्यु, सास-ननद की ताड़ना, पिता की मृत्यु देवर राणा का पीड़न और ऊपर से दुर्जनों की लोकनिंदा–इन सब ने मीरा की बहुत असहाय मनस्थिति में डाला होगा। लोकनिंदा की हालत तो यह है कि विश्वप्रसिद्ध और भारत की

NMDC-09

सर्वाधिक प्रसिद्ध भक्त कवयित्री होने के बावजूद आज भी राजस्थान में ऐसे लोग हैं जो मीरा को अच्छी निगाह से नहीं देखते। पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने मीरा पर काम करने के सिलसिले में राजस्थान यात्रा का अनुभव बताते हुए लिखा है : 'हां, इस बात की सूचना मुझे अपनी उदयपुर की यात्रा के ही समय मिली थी कि वहां मीरा के प्रति आदरबुद्धि कम है। मुझसे इसकी चर्चा चित्तौड़ दुर्ग के रहने वाले लोगों तक ने की थी।'[7] यह हालत आज की है जबकि मीराबाई के मंदिर राजस्थान में ही निर्मित हो चुके हैं। मीरा के जीवनकाल में लोकनिन्दा का क्या रूप रहा होगा? इसीलिए मीरा कृष्ण को निवेदित पदों में यह कहना नहीं भूलती कि वह अबला हैं :

म्हा अबला बल म्हारों गिरधर।
मैं अबला बल नाहिं, गोसाई, राखो अबकै लाज।
मुज अबला ने मोती नीराँत थई रे।
अरज कराँ अबला कर जोर्‌या स्याम तुम्हारी दासी।

इस अबलापन का स्वाभाविक परिणाम था कि मीरा अपनी सजातीय अर्थात अन्य स्त्रीजनों का उल्लेख पुरुष भक्तकवियों की तुलना में अधिक करती हैं। मीरा आत्मनिवेदन करते हुए बार बार 'द्रुपद-सुता, द्रौपदी को याद करती हैं। अहल्या, कुबजा, गोपियों गणिका भक्तिन को याद करती हैं। मीरा ने पौराणिक कथाओं पर स्वतंत्र रूप से पद कम लिखे हैं। जो थोड़े से पद लिखे हैं उनमें से पूरा एक पद 'भीलनी' शबरी पर है :

अच्छे मीठे चाख चाख बेर लाई भीलणी।
ऐसी कहा अचारवती रूप नहीं एक राती।

इस पद में मीरा दो बातें कहना नहीं भूली–एक तो यह कि भीलनी नीची जाति की थी मैले कुचैले वस्त्रों वाली थी : दूसरे यह वही प्रभु हैं जिन्होंने गोकुल की अहीरनों को भी पवित्र किया। अहीरन भी कोई ऊंची जाति की नहीं थी :

नीचे कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी
पतित पावन प्रभु गोकुल अहीरणी।

मीरा ने मध्यकाल की एक अन्य कवयित्रि 'करमा बाई' का सादर उल्लेख किया है : 'करमा बाई को खींच आरोग्यो होइ परसण पाबन्द'।

इन भक्त कवयित्रियों के साथ मीरा जिस पौराणिक पात्र का नामोल्लेख बार-बार करती हैं, वह हैं सुदामा। शबरी के साथ-साथ सुदामा पर भी पूरा पद मीरा ने रचा है :

NMDC-065

देखत राम हँसे सुदामाँ, देखत राम हँसे।
फाही तो फूलड़ियाँ पाँव उभाणे चलते चरण धँसे।
बाँलपणे का मित सुदामा, जब क्यूँ दूर बसे।
कहा भावज ने भेंट पठाई, तन्दुल तीन पसे।
कित गई प्रभु मोरी टूटी टपरिया, हीरा, मोती, लाल कसे।
कित गई प्रभु मोरी गउवन बछिया, द्वार बिच हँसती फसे?

अंतिम दो पंक्तियों में गरीब से धनी बने सुदामा के मन का आश्चर्य प्रकट किया गया है कि टूटा छप्पर, गाय-बछड़े कहां चले गए? मीरा ने भीलनी शबरी के साथ सुदामा पर भी एक पूरा गेय पद रचा तो इसमें आश्चर्य की तो कोई बात नहीं। लेकिन यह तो कहा ही जा सकता है कि निर्धनता के प्रतीक सुदामा की धनहीनता मीरा का ध्यान आकृष्ट करती थी। यह अकारण नहीं। भक्ति आंदोलन मुख्यत: धार्मिक आंदोलन जरूर था। लेकिन यह भी सच है कि वह लोकोन्मुख आंदोलन था। सभी भक्तकवियों में जो बात समान मिलेगी वह लोकोत्तर, असामान्य को सामान्य धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित करना। भक्तकवियों ने राम और कृष्ण का जो रूप खींचा है उसमें इष्ट लोक के बीच घुले-मिले दिखाए गए हैं। राम दीनबंधु हैं। जो जितना असहाय है वह राम के उतना ही निकट। भक्ति आंदोलन इस दृष्टि से अत्यंत लोकोन्मुख और करुणापूरित आंदोलन है। कृष्ण के सर्वाधिक प्रिय ग्वालबाल हैं, वे दुर्योधन के घर का मेवा त्याग कर विदुर के घर साग खाने वाले सुदामा के मित्र हैं। तुलसी नें 'विनय पत्रिका' में रामनाम की महिमा बताते हुए लिखा कि राम कुलीन के कुल, अभागे के भाग्य, अंधे की आंख, गरीब के गाहक, गुणहीन के गुण, पंगु के हाथ-पांव, भूखे के मां-बाप, बेसहारे के सहारे हैं:

संबल निसंबल को, सखा असहाय को
भाग है अभागेहु को, गुन गुन हीन को
गाहक गरीब की, दयालु दानि दीन को
कुल अकुलीन को, सुन्या है बेद साखि है
पांगुरे का हाथ-पांव, आंधरे को आंखि है
माय बाप भूखे को, अधार निराधार को

भक्ति सांसरिक ऐश्वर्य की जो उपेक्षा करती है, उसका कारण सांसारिक धन-दौलत की कोई बुराई नहीं। बुराई इस बात में है कि उसमें लिप्त रहकर या उसे अर्जित करने के चक्कर में व्यक्ति परमार्थ को भूल जाता है। इसीलिए कनक और कामिनी दोनों की उपेक्षा भक्ति करती है वरना पेट भरने का धन तो कबीर साफ साफ मांगते हैं– 'सांई इतना दीजिए जामें कुटुम समाय।' ये भक्त आर्थिक विषमता के वे कारण नहीं जानते थे जिन्हें आज के अर्थशास्त्री जानते हैं। लेकिन

NMDC-065

वे इस विषमता को देखकर उसकी पीड़ा संभवत: आज के अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा अधिक अनुभव करते थे। आज ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं। भक्त जानते कम थे, अनुभव ज्यादा करते थे और आचरण के क्षेत्र में तो उनकी आज के अर्थशास्त्रियों से क्या तुलना। सामाजिक विषमता पर शोधग्रंथ लिखने वाले अनेक आधुनिक चिंतक वस्तुत: पूंजीवादी व्यवस्था के पुरोहित हैं जो ज्ञान के बूते पर माल काटते हैं। इस ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता अवश्य भक्तिकाव्य से अधिक है।

मीरा को भी यह राजवैभव छोड़ना पड़ा होगा। लोक में घुलने-मिलने के लिए साधुसंगति करने के लिए उन्हें सामंती वैभव का मोह त्यागना पड़ा था। राणा के देश में सब कुछ था—गहना, गांठी, हाथ का चूड़ा, काजल, टीका, महल, अटारी, नगरनिवास; नहीं थे तो साधू। इसलिए वह देश कूड़ा था। मीरा ने यह सामंती वैभव त्यागकर भगवी चादर पहनी:

महल अटारी हम सब त्यागे, त्याग्यो थारो बसनों सहर
कागज टीकी राणा हम त्यागा भगवी चादर पहर।

लोकलाज कुल की मर्यादा त्यागने पर यह त्यागना अनिवार्य था। जाति-पांति की व्यवस्था को तोड़ने पर आर्थिक दंड पाना अनिवार्य था। कुल, वर्ण, जाति-पांति की व्यवस्था का आधार अर्थव्यवस्था थी।

ऐसी स्थिति में मीरा का सुदामा की कथा से प्रभावित होना आश्चर्यजनक नहीं, स्वाभाविक लगता है। भक्तव्यक्तित्व सांसारिकता से ऊपर उठने की बात जरूर करता है किंतु संसार के दुखों की उपेक्षा नहीं करता। जितने भी प्रकार के—दैहिक, दैवी, भौतिक ताप हैं, भक्त उन सबकी आंच से झुलसता है। इसलिए मीरा द्रुपद-सुता, अहल्या, शबरी, गणिका के साथ-साथ सुदामा की कथा को भी महत्व और सहानुभूति देती हैं। नारी का दुख उसकी पराधीनता और दरिद्रता का दुख उनके बोध में अलग रहा भी हो तो उनकी भावपरिधि में सिमटकर वे एक हो गए। कभी-कभी अनुभूति बोध की कमी पूरी कर देती है। जैसे बोध अपनी अनुभूति को छिपाए रहता है, वैसे अनुभूति में भी बोध के सूक्ष्म तंतु सक्रिय रहते होंगे।

मीरा ने यह सब सहने और त्यागने की शक्ति कहां से पाई? निस्संदेह भक्ति-भावना और भक्ति आंदोलन से। मीरा की रचनाओं में भक्ति की भावना उनकी विरह भावना से अभिन्न होकर अभिव्यक्त हुई है। कहते हैं भगवान भाव का भूखा है। आपके जो मनोविकार हैं उन्हें उसको समर्पित कर दें तो वह उन्हें ग्रहण करके अलौकिक बना देता है। भक्ति का मेरी जानकारी में अभी तक मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ। कहते हैं भक्त को भगवान के पास निश्छल होकर जाना चाहिए। निश्छल यानी जो कुछ तुम्हारे मन में अच्छा बुरा है, उसे लेकर भगवान के पास

NMDC-065

जाओ। भक्तकवियों–विशेष रूप से सगुण भक्तकवियों की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनके इष्ट की मूर्ति का उनके जीवनसंघर्षों से गहरा संबंध है। यह बात जीवनसंघर्षों के विषय में प्रचलित झूठी-सच्ची कहानियाँ और उन्हीं की रचनाओं में प्राप्त साक्ष्य दोनों से पुष्ट होती है। तुलसीदास अपनी रचनाओं में 'काम-बाय' से ग्रस्त होने की बात बहुत करते हैं, 'मृग-नयनी के नयन सर को अस जाहि न लाग' लिखते हैं, भूख की बात बहुत करते हैं तो उनके राम कामदेव 'कोटि मनोज लजावन हारे' और पेट की अग्नि बुझाने वाले घनश्याम हैं–'तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें, आगि बड़वागि ते कठिन है आगि पेट की।' इसी प्रकार सूरदास अंधे हैं तो वे बांसुरी के बारे में बहुत ज्यादा लिखते हैं 'छबीले मुरली नैंकु बजाउ।' सूर की प्रार्थना की टेक है। मीरा के भी इष्ट की मूर्ति उनकी जीवनस्थिति के मेल में है। उनका काव्यसंघर्ष उनके जीवनसंघर्ष का सहचर है। उनके द्वारा प्रस्तुत विभाव, भाव और उनके अभाव में परस्पर संबंध है।

नाभादास ने 'भक्तमाल' में मीरा के विषय में लिखा : 'सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कल जुगहिं दिखायो।' गोपिकाएं द्वापर में हुई थीं। द्वापर में गोंपिकाओं जैसा अनन्य प्रेम, उसके लिए घर-द्वार, कुल, परिवार का त्याग होना संभव था। वह आदर्श था। मीरा ने कलियुग में वैसा कर दिखाया। जो आदर्श–भाव जगत की बात थी, उसे जीवन-आचरण में कर दिखाया। नाभादास के महत्व प्रदान का आधार यह था।

मीरा का जीवनसंघर्ष उनके वैधव्य से प्रारंभ हुआ। मीरा पति की मृत्यु पर सती नहीं हुई और भक्तिन हो गई। उनकी रचनाएं जो प्रधानत: विरहभावना की अभिव्यक्ति है, पति की मृत्यु और उनकी मृत्यु के बीच लिखी गई। मीरा ने जो आलौकिक विरहवर्णन किया है, उसका कोई लौकिक आधार अवश्य होगा। इस विरहभावना को बहुत तीव्र बना देता था राणा और दुर्जनों का अमानवीय व्यवहार। मीरा की कविताओं में अलौकिक प्रियतम को पाने की आतुरता, न पा सकने की व्यथा, उसके पास पहुंचने से रोके जाने का आक्रोश, अपनी असहायता उसे भावजगत में प्राप्त कर लेने की पुलक–सब कुछ विद्यमान है। पता नहीं जहर दिया गया था या नहीं, वह जहर अमृत बना था या नहीं; लेकिन उनका काव्य उनके दुख के सुख में परिणत हो जाने का दस्तावेज जरूर है। विष उनका लौकिक यथार्थ है और अमृत उनके भावजगत का परमार्थ है। मीरा की कविता में विष और अमृत अपना प्रतीकार्थ प्राप्त कर लेते हैं। विष मीरा के संघर्ष में तप कर अमृत बन जाता है। जिसे अन्य विष समझते हैं वह मीरा के लिए अमृत बन जाता है। मीरा की कविता में अमृत और विष के जो इतने उल्लेख हैं, वे निश्चित रूप से उनकी भावना और जीवन आचरण के संघर्ष से बहुत गहरे तौर पर जुड़े हैं। हमारे युग के कवि मुक्तिबोध के विष और अन्न से मीरा का विष और अमृत बहुत भिन्न नहीं:

NMDC-065

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूं।
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है।
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।

मीरा का प्रेम अज्ञात प्रियतम–भगवान के प्रति था। लेकिन क्या दीर्घ वैधव्य में उन्हें मृत पति की याद बिलकुल न आई होगी?

हम देख चुके हैं कि मीरा के मन में पतिव्रता के प्रति सम्मान की भावना थी। वह तुलसीदास की ही शब्दावली में कहती हैं पति चाहे जैसा हो विकलांग हो–हीन हो, कोढ़ी हो–उसी के साथ चलने में सभी लोग भला कहते हैं। बिराना छैल अपने काम का नहीं। यहाँ इस प्रसंग में मीरा सामाजिक या कुल की मर्यादा तोड़ने की बात नहीं करतीं। इस मर्यादा को वह शिरोधार्य समझती हैं। मीरा के साथ उनके पति का संबंध कैसा था, इस विषय में पं. परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि मीरा का वैवाहिक जीवन सुखी था। 'वार्तिक प्रकाश श्री भक्त माल सटीक' का खड़ी बोली में गद्यानुवाद करने वाले ने अपनी ओर से कोष्ठक में लिख दिया है कि मीरा के पति ने दूसरा विवाह कर लिया था।[8] मीरा के पति की अकाल मृत्यु लगभग सर्वमान्य है।

मीरा के विरह निवेदन में प्रिय का जो रूप सामने आता है उससे यही लगता है कि वह कहीं चला गया है, कहकर नहीं आया है, किसी दूसरी के घर चला गया है।[9] वह प्रियतम आया, आंगन में घूमकर लौट गया, जब वह आया तो अभागिन विरहिणी सो गई।[10] मीरा ने प्रिय के लिए 'जोगी' का संबोधन भी किया है। उनके कई पद 'जोगी' को संबोधित हैं। यह 'जोगी' कौन है?

इस योगी से प्रीति करने पर दुख होता है, वह किसी का मीत नहीं। उसकी प्रतीक्षा मीरा रात-दिन करती है। वह नगर में आया, मीरा उसे रोक रख नहीं पाई, उसे रोकने से कोई लाभ नहीं, वह रुकेगा नहीं, बोलता मधुर है लेकिन प्रीति नहीं जोड़ता। धूर्त जोगी एक बार भी हंस कर बोल। इसी जोगी को रोकने की प्रार्थना करती हुई मीरा ने प्रसिद्ध पद लिखा : 'जोगी मत जा, मत जा, मत जा।' एक ही पंक्ति में न जाने की तीन बार कातर याचना–मत जा, मत जा, मत जा, पांव पड़ूं मैं तेरे। अगर जाना ही है तो मीरा को भस्म कर दे। उसी भस्म को अपने अंग लगा ले। इस प्रकार जोत में जोत मिल जाएगी।[11] उसके वियोग में काले केश श्वेत हो गए।[12]

निस्संदेह इस 'जोगी' का वर्णन और इसके प्रति आत्मनिवेदन आत्मीयता के साथ किया गया है। डॉ. पद्मावती 'शबनम' ने इस विषय में साहसपूर्वक कहा है : 'संभव... है प्राप्त सामग्री की मनोवैज्ञानिक विवेचना तथाकथित मीरा के पदों में प्राय: सर्वत्र प्राप्त किसी जोगी-विशेष के प्रति गहरे व्यक्तिगत दाम्पत्य-संबंध को व्यक्त करने वाले अन्त: स्रोत का स्पष्टीकरण कर सके।[13]

NMDC-065

मीराबाई ने 'जोगी' के अलावा 'रावल' का उल्लेख किया है: 'रावल कण बिलमाई राखा' 'रावल' को किसने बिलमा रखा है? चतुर्वेदीजी का कहना है: 'रावल शब्द का अर्थ जोगी होता है और इस प्रकार के नाथपंथी जोगी पंजाब, हैदराबाद, अफगानिस्तान आदि में पाए जाते हैं और उन्हें कभी-कभी नाथपंथी भी कहते हैं। रावलपिंडी संभवत: इन्हीं की बस्ती के कारण नाम पड़ा है।'[14]

मीरा द्वारा स्मृत, चित्रित और संबोधित 'जोगी' परम प्रियतम कृष्ण हैं–यही मान्य लगता है। 'जोगी' उनकी साधना पर नाथपंथी प्रभाव प्रकट करता है। लेकिन इस 'जोगी' को लेकर मीरा ने जो कुछ कहा है वह कुछ और भी संकेत कर सकता है। जिसके विरह में मीरा दु:खी हैं और जिसे लेकर मीरा ने ऐसी अचूक अभिव्यक्ति की है, उसका लौकिक आधार नहीं होगा–यह मानना संभव नहीं लगता। जिसके विषय में मीरा ने यह सीधी-पंक्ति लिखी: 'था देख्या बिण कल णा पड़ता जाणे म्हारी छाती।'[15] वह मीरा के अज्ञात प्रियतम का ज्ञात आधार न होगा?

मीरा ने जोगी के वियोग में जो कुछ कहा है वह विरहवर्णन की परंपरा में होते हुए भी किंचित असामान्य है। जोगी की राह देखते बहुत दिन बीत गए, वह आज तक आया नहीं। या तो जोगी जग में नहीं (मर गया है) या उसने मुझे भुला दिया :

कै तो जोगि जग जग मैं नाही कैर बिसारी मोई।

अगर यह 'जोगी' कृष्ण ही है तो वह आशंका कि वे जीवित न हो असंगत है।

उस जोगी के विषय में मीरा ने यह भी लिखा–मैं तो जानती थी कि जोगी साथ चलेगा, संग रहेगा। लेकिन वह अधबिच रास्ते में छोड़ गया :

मैं तो जाँणू जोगी संग चलेगा छाँड़ि गया अधबीच।

मीरा पति की मृत्यु पर सती नहीं हुई थी। 'अगर चदन की चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा। जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा' उसी की प्रतिक्रिया तो नहीं है?

इन पदों को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि मीरा ने अपने गेयपदों में अज्ञात प्रियतम कृष्ण का जो रूप उभारा है, उसमें कहीं न कहीं उनके मृत पति का रूप भी घुल-मिल गया है। पहले मीरा की ऐसी पंक्तियां उद्धृत की जा चुकी हैं जिनसे पता चलता है कि वे अपने पति के साथ चलने की मर्यादा को स्वीकार करने वाली महिला थीं। मृत पति की स्मृति का कृष्ण के रूप में शामिल न होना अस्वाभाविक होगा।

NMDC-065

मीरा के 'गिरधर नागर' का जो रूप निर्मित हुआ है उस पर मूर्ति की निर्मात्री का बहुत गहरा प्रभाव है। 'गिरधर नागर' स्थित भावजगत में है लेकिन जिन उपकरणों से उनका निर्माण हुआ है वे इसी जगत के हैं। वे मीरा के जीवनसंघर्ष से उपजे हैं। उस मूर्ति में मीरा की पीड़ा शमित होकर रूपांतरित हो जाती है। अभाव ही समाप्त नहीं होते। विष बुझता ही नहीं, अमृत में बदल जाता है।

मीरा की पदावली में प्रधानत: मीरा मन की तीन स्थितियां है। मीरा ने गेय पदों में ही रचना की। लेकिन इन्हें क्रमबद्ध करके सुविन्यस्त किया जा सकता है। पं. परशुराम चतुर्वेदी ने अपूर्व सहृदयता का परिचय देते हुए पूर्वराग, विरह और मिलन में विभाजित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। फिर बच जाते हैं कुछ फुटकल पद।

विरह की स्थिति वह तापगृह है जिसमें पक कर मीरा का लौकिक विरहभाव मिलन में, विष अमृत में परिणत होता है। पूर्व राग क्या है–कृष्ण की रूपमाधुरी का विविध चेष्टाओं में चित्रण-वर्णन है। इसमें नायिका संकोचवश कृष्णं के आमने-सामने नहीं हो सकती। नायिका प्राय: दरवाजे पर खड़ी प्रतीक्षा करती है, कृष्ण आते हैं, चले जाते हैं। वे आते ही हैं तो संकोच ऐसा है कि :

आवत मोरी गलियन में गिरिधारी
मैं तो घुस गई लाज की मारी।

विरह की प्रक्रिया से गुजर कर मिलनसुख की प्राप्ति होती है। लेकिन प्रिय का यह रूप ऐसा है कि लोक का ताप–मीरा के वास्तविक जीवन का संताप दूर कर देने वाला है, वस्तुत: वह उसी संताप से विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने वाला उसी से संबद्ध रूप है।

जिस प्रकार मीरा के संताप का कारण तत्कालीन समाज और मीरा की बाह्यांतर स्थितियां हैं, उसी प्रकार प्रिय के शामक एवं सुखद रूप के तत्व भी उसी समाज और मीरा की बाह्यांतर स्थितियों में विद्यमान हैं। दोनों परस्पर विरोधी तत्व का बाह्यांतर यथार्थ में मौजूद हैं जिनमें मीरा का रचनासंसार संबद्ध है।

गिरधर नागर परम सुंदर है। उनकी सुंदरता मन को तत्काल मोह लेती है। वह मंद-मंद मुसकाकर देखते हैं तो मन सहसा आकृष्ट कर लेते हैं। उनकी छवि के विषय में मीरा ने विह्वलतापूर्वक अनेक पद लिखे हैं। इस बात को अलग से रेखांकित करने की विशेष आवश्यकता नहीं। वह मुरली तो बजाते ही हैं, उनके वचन भी बहुत मधुर हैं। दुर्जनों की वाणी कड़वी है। उनकी कटु वाणी और हंसी का बयान भी मीरा ने बहुत किया है। मीरा की सास, ननद, देवर, जगत, पंडित-पुरोहित सबकी कड़वी वाणी सुननी पड़ी थी :

NMDC-065

कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्याँ म्हारी हाँसी।
सास लड़े मेरी नन्द खिजावै राणा रह्या रिसाव।
सासु कह्याँ कुलनासाँ।

और तो और - मीराबाई के पुरोहित रामदासजी भी मीरा को गाली देकर चलते बने थे। मीराबाई का कसूर यह था कि उन्होंने पुरोहित जी से ठाकुरजी का कोई और पद गाने को कह दिया था:

> सो एक दिन मीराबाई के श्री ठाकुर जी के आगे रामदास जी कीर्तन करत हुते सो रामदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभूनं के पद गावत हुते तब मीराबाई बोली जो दूसरो पद श्री पद ठाकुर जी को गावौ तब रामदास जी ने कह्यो मीराबाई सो जो अरे दारी रांड यह कोन को पद है यह कहा तेरे खसम को मूंड़ है जो जा आज ते तेरो मुंहड़ो कबहूं न देखूंगौ।[25]

मीरा के प्रियतम मीठा बोलने वाले हैं। मीरा को इस कड़वे बोलने वाले जगत में मीठे बोल वाले प्रिय निश्चय बहुत आकर्षक लगते रहे होंगे। उनकी मीठी बोली सुनते ही

सबदा सुणताँ छतियाँ कापाँ मीठो थारो वैण।।

प्रिय की इस विशेषता को मीरा ने कई स्थानों पर उल्लिखित किया है:

जमण किणारे कान्हां धेनु चरावां वंशी बजावा मीटठा वाणी।
आवो मनमोहना जी मीठो थारो बोल।

जगत के दुर्जन अबला की हंसी उड़ाते हैं, निंदा करते हैं। मीरा इस संसार में अकेली हैं। जगत उनके मरण पर भी हंसी उड़ाता है। मीरा का दरद कोई नहीं जानता। वही जानते हैं जो स्वयं घायल है, लेकिन ऐसे लोग संसार में हैं कितने? अधिकतर तो लोग हंसी ही उड़ाने वाले हैं। मीरा का विरह असह्य अबला का विरह है। इसीलिए और अधिक करुण और समर्पणशील है। कहीं-कहीं मीरा ने विरह के निहायत शांत एवं एकांत चित्रण किए हैं, जैसे-रात्रि में अकेले कोई दीप जल रहा हो :

री म्हां वैठ्यां जागा, जगत सब सोवा।

ऐसी विरहिणी के प्रिय अबलाओं की अरज सुनने वाले हैं। द्रुपद सुता की लाज रखने वाले, अहल्या परित्यक्ता का उद्धार करने वाले, भीलनी शबरी का सत्कार करने वाले गणिका भक्तिन को तारने वाले सुदामा की निर्धनता दूर करने वाले हैं। भक्ति-आंदोलन ने भगवान का जो

NMDC-065

रूप खींचा था वह दीनबंधु और करुणाकातर था। मीरा ने भी भगवान का जो रूप खींचा है वह उनके और उन जैसे अन्य पीड़ित जनों के काम आने वाला है :

म्हाँ सुण्या हरि अधम उधारण
अधम उधारण भव तारण
गज बूड़ताँ अरज सुण धाधाँ, भगताँ कष्ट निवारण
द्रुपद सुता णो चीर बढ़ायाँ, दुसासण मद मारण
प्रहलाद परतग्या राख्याँ, हरणांकुस णो उद्र विदारण
थैं रिख पतणी किरपा पायाँ, विप्र सुदामा विपत विदारण।

भगवान के दो काम हैं: असहायों की सहायता करना और दु:शासन, जैसे दुष्टों को दंड देना। पहले और दूसरे—दोनों काम एक दूसरे से संबद्ध हैं। असहायों की सहायता करने का मतलब ही है उन्हें सताने वालों को दंडित करना। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने लोकरक्षा की स्थिति लोकरंजन के पूर्व मानी है। लोकरक्षा के बिना लोकरंजन का जो रूप बड़ा किया जाता है वह पूर्ण नहीं होता। मीरा की रचनाओं का क्षेत्र बहुत सीमित है। तुलसी क्या, कबीर, और सूर की अपेक्षा भी मीरा का रचना-संसार सीमित है। किंतु वह किसी की अपेक्षा कम विश्वसनीय नहीं। इसका कारण यह है कि मीरा ने नारी जीवन के वास्तविक अनुभवों को शब्दबद्ध किया। इस वास्तविकता में जो परस्पर विरोधिता या बिषमता है, वह भी मीरा के यहां भरपूर मौजूद है। रचना-धर्मिता की प्रक्रिया ही ऐसी है कि उसमें विषमता या परस्पर विरोधी तत्व चित्रण में स्वत: सिमट आते हैं। कोई अपनी वास्तविक स्थिति निश्छल ढंग से व्यक्त करें तो उसमें सामाजिकता अपने आप खिंच आएगी; क्योंकि व्यक्ति की स्थिति भी विशिष्ट सामाजिक स्थितियों या संदर्भों का परिणाम है। निराला ने 'सरोज-स्मृति' अपनी बेटी पर लिखी। वह एक पिता की अपनी कन्या की अकालमृत्यु पर लिखी गई आत्मकथात्मक रचना है। किंतु 'सरोज-स्मृति' में निराला जैसे लाखों-करोड़ों पिताओं और सरोज जैसी लाखों-करोड़ों कन्याओं की पीड़ा भी अभिव्यक्त है। इसी तरह मीरा ने जब अपनी व्यथा कही तब उन्होंने सिर्फ अपनी ही व्यथा नहीं कही, अपने युग की असंख्य नारियों की, दुखी जनों की व्यथा कहीं। एक दुख दूसरे दुख से बहुत जल्दी जुड़ जाता है। मीरा की व्यथा नारी व्यवस्था थी। वह भक्त थीं—अज्ञात प्रियतम की साधना करतीं थीं। लेकिन वह घर में ही बैठकर साधना करने वाली नहीं थी। वह जब भक्त हो गई तब अपने आप को भक्त मानती थीं—स्त्री या पुरुष नहीं। यहीं से उनके संघर्ष का प्रस्थान समझिए। भक्ति अपने आप में व्यक्ति साधना थी। कोई नारी होकर भी नारीत्व से निरपेक्ष हो जाए सांसरिक दृष्टि से–लेकिन समाज उसे नारी मानने से इन्कार नहीं करने लगेगा। मीरा नारीत्व के बंधन को त्यागकर बाहर आना चाहती थीं–समाज की रूढ़ियां उन्हें सक्त मानकर व्यक्तिगत साधना के लिए शायद रोकतीं लेकिन राणाकुल की सामंती मर्यादा तोड़ने

NMDC-065

की आज्ञा उन्हें समाज नहीं दे सकता था। वह भक्तिभावना और सामाजिक रूढ़ियों का द्वंद्व था। यह द्वंद्व तीव्र इसलिए था क्योंकि मीरा जैसा व्यक्तित्व भावना को जीवन आचरण में भी उतारना चाहता था। मीरा नारीत्व से मुक्त होकर 'भक्त' ही रहना चाहती थीं। कहते हैं कि वृंदावन के गोस्वामी जी को यह कहकर उन्होंने हतप्रभ कर दिया था कि वृंदावन में एक तो ही पुरुष हैं–कृष्ण। गोस्वामी अपने को पुरुष कैसे मानते हैं? लेकिन यह केवल भावना की बात थी। समाज जब उनके नारीत्व को लेकर प्रवाद करता होगा, तरह-तरह की बातें करता होगा, कुटिल साधु जैसे लोग भी मिलते ही रहते होंगे तब मीरा को नारी होने की अनिवार्यता का बोध होता होगा। भावनाजगत में त्यागा हुआ अबलात्व फिर आता होगा–और वह इस अबलात्व से युक्त होकर उस भगवान की शरण में दुबारा मर्माहत हो जाती होगी जो अशरण-शरण है :

हरि म्हारो सुणज्यो अरज महाराज।
मैं अबला बल नाहिं गोसाई राखो अबकै लाज

इन 'हरि' 'गिरिधर नागर', 'गिरिधर गोपाल' का जो रूप है वह 'राणा' एवं अन्य दुर्जनों से कहीं अधिक शक्तिशाली रूप है जिनकी शरण में जाकर 'मीराँबाई' इस विषमता से मुक्त हो जाती हैं। वह 'गिरिधर नागर' चाकर हैं, दासी हैं, वह खड़ी खड़ी उनसे अरज करती हैं। गिरिधर नागर ऐसे शक्तिमान हैं जो जगत के ताप से, राणा के कोप से, दुर्जनों की हंसी से उन्हें मुक्ति दिलाते हैं। यह उनका निषेधात्मक रूप है। उनका धनात्मक या विधेयात्मक रूप और अधिक महत्वपूर्ण है। वह रक्षक भी है और रंजक भी। वह प्रियतम है। उनकी छवि देखकर मीरा निहाल हो जाती हैं। गिरिधर नागर शक्ति-शील-सौन्दर्य से समन्वित मीरा के ऐसे प्रियतम हैं जो इस जगत में उन्हें नहीं मिले। वह मीरा के स्वप्न हैं। ये आदर्श पति, प्रियतम, प्रेमी, रक्षक रंजक, रंजक इस जीवन-जगत में नहीं मिले इसीलिए वह पूर्वजन्म के प्रिय हैं, जन्म-जन्मांतर के हैं :

मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, पूरब जणम का साथी

ये प्रियतम मीरा को स्वप्न में मिलते हैं :

नींदड़ी आवाँ णाँ साराँ रात। कुण विधि होय परभात।
चमक उण सुपुनाँ लख सजणी, सुध णा भूल्याँ जात
माई म्हाणे सुपणा मां परण्यां दीनानाथ।

यह मीरा के हृदय में ही स्थित हैं। जिस हृदय में सारा ताप हैं द्वंद्व है, रोग है उसी में गिरिधर नागर, रोगों को दूर करने वाला 'वैद' भी हैं–स्थिति द्वंद्वात्मक हैं, रोग और वैद्य दोनों साथ साथ है :

NMDC-065

जा घट बिरहा सोई लखि है, कै कोई हरिजन मानै हों
रोगी अंतर वैद बसत है, वैद ही ओखद जाणै हो।

स्वप्न के अलावा यह प्रिय के हृदय में है। जिस हृदय ने सारा द्वंद्व और ताप झेला है उसने शामक और दुखी जीवन को सुखी करने वाले 'प्रियतम' का रूप-निर्माण भी किया है। मीरा भावजगत में उस प्रियतम से मिलती हैं। यह भावमिलन सारे भौतिक दुख, द्वंद्व को सार्थक और श्रेयस्कर बना देता है, विष को अमृत बना देता है। यह अमृत यों ही नहीं मिलता, यह संघर्ष का अमृत है। यह शायद सच्चे ताप और द्वंद्व की माग, अनिवार्यता और पहचान है। जैनेन्द्र ने महादेवी वर्मा के विषय में निहायत ठीक बात लिखी है कि सच्चा घाव घाव की पीड़ा से मुक्ति चाहता है। दुख की पहचान यह है कि वह दुख से छुटकारा चाहता है दुख से लिप्त रहना चाहे तो समझिए कि दुख में कोई खोट है : 'दुख आत्मीय यानी अनुभूति नहीं है।'[16]

बड़े कवि जो द्वंद्व और विषमता का चित्रण करते हैं वे उस द्वंद्व से मुक्त जीवन का स्वप्न अवश्य दिखा देते हैं। यह द्वंद्व की, अनुभूति की प्रमाणिकता है। तुलसी जैसा द्वंद्व कम कवियों ने अनुभव किया होगा। उन्होंने कलियुग को चीर कर रामराज्य का स्वप्न दिखाया। महान कबीर ने काल के भास को अकाल पुरुष की कालातीतता—जहाँ सूर्य नहीं, चंद्र नहीं, काल नहीं, की स्थिति से युक्त किया। कहते हैं कि शेक्सपियर की त्रासदी रचनाएँ नई व्यवस्था के संकेत से समाप्त होती हैं।

मीरा का यह स्वप्न प्रिय के मिलन का रूप धारण किए है। इस मिलन स्थान का प्रतीक वृंदावन है। वहाँ सब कुछ सुखद है। सारी वांछित स्थितियां उदित है। और कुंज कुंज में सांवरा घूमता है, मुरली का 'सबद' सुनाता हुआ :

आली म्हाणे लागा वृन्दावन नीकाँ
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्द जी काँ
निरमल नीर ब्रह्माँ जमणा माँ, भोजन दूध दही काँ
रतण सिंहासण आप विराज्याँ, मुगट धरयां तुलसी काँ
कुजन-कुंजन फिर्‌या साँवरा, सबद सुण्या मुरली काँ
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर भजण बिणा नर फीकाँ।

यह वृंदावन भक्ति की दृष्टि से कृष्ण को केलिस्थली, तीर्थ तो है ही, मीरा का हृदय भी है। यही प्रसाद का वृंदावन है। जिसके लिए उन्होंने कामना प्रकट की है : 'ज्वालाओं से दग्ध यह जगत वृंदावन बन जाए।'

NMDC-065

इस 'वृंदावन' में मीरा का गिरधर नागर से मिलन होता है। राजस्थान की रहने वाली मीरा को वर्षा बहुत प्रिय मालूम होती है। उनके मिलन की आशा के साथ ही वर्षा का रूपक बंधने लगता है। जैसे रेगिस्तान में वर्षा ताप को शांत कर देती है वैसे ही मीरा का जागतिक ताप दूर होने के लिए वर्षा का रूपक बंधने लगता है। मीरा ने होलीं, बारहमासा भी लिखे हैं। लेकिन प्रिय से मिलने की भावना के साथ उनकी कविता में वर्षा सहज रूप में आ जाती है। वस्तुत: वर्षा उनकी मिलन-सुखद अनुभूति का काव्यबिंब है। ऐसी पंक्तियों में वर्षा स्पर्श, वर्ण, गति ध्वनि सबसे युक्त होकर झंकृता नायिका बन जाती है–झंकृति नादयोजना की :

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीली गणगौर, छै जी।
काली-पीली बदली में बिजली चमके, मेघ घटा घनघोर, छै जी।
दादुर मोर पपीहा बोल, कोयल कर रही सोर, छै जी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरणाँ में म्हारो, जोर छै जी।

लगता है जैसे मीरा सारे लोकापवाद की ध्वनियों को चुनौती दे देकर इन सुखद ध्वनियों की झंकृति को शब्दायित कर रही हैं–आत्मीयता संवादत्मकता और विश्वास–'छै जी' (हां है जी) से प्रकट होता है। यहाँ वर्ण, ध्वनि, रस, स्पर्श–सब मौजूद और अंत में मीरा की यह घोषणा 'चरणाँ में म्हारो, जोर छै जी' (गिरधर नागर के चरणों में मेरा विश्वास या बल है जी)। लोगों ने समझ क्या रखा है ! ताप के शमन और परम तोष की यह ऐंद्रिक अभिव्यक्ति :

बादला रे थे जल भर्‌या आज्यो।
झर झर बूँदाँ बरसाँ आली कोयल सबद सुनाज्यो।
गाज्याँ बाज्याँ पवन मधुर्‌यो अम्बर बदराँ छाज्यो।
सेज सवाँरया पिय घर आस्याँ सखयाँ मंगल गास्यो।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी भाग भल्याँ जिण पास्यो।

यह भावमिलन की अनुभूति अपने आप ऐंद्रिक बिंबों में व्यक्त हो गई है। यह सर्वांगतोष का चित्र है। भक्ति से प्राप्त तोष भी व्यक्त होने के लिए उन्हीं बिंबों में उतरा है, जिनका सहारा राजकमल चौधरी या कृष्ण सोबती ने लिया है–'बरसात हुई जल भर आया' (मरी हुई मछली) और 'सूरजमुखी अंधेरे में'। कहीं न कहीं शारीरिकता और अशारीरिकता यानी भाव सत्य से जुड़ जाता है। शारीरिक अनुभूति जिस प्रकार तीव्र-सघन होकर अशारीरिक बनती है उसी प्रकार भावजगत की तीव्र अनुभूति भी सघन होकर शारीरिकता में पर्यवसित होती है। लेकिन इससे

NMDC-065

ज्यादा समानता ढूंढना अनर्थक है। मीरा के यहाँ संयम की जो जलती हुई आग है वह वर्षा बनी है। राजकमल चौधरी और कृष्णा सोबती में ('सूरजमुखी अंधेरे में') वह अभाव निष्ठा और आग से रहित है। यह शरीर की आग है। वर्षा बाहर की है। मीरा के यहाँ शरीर की आग नहीं, भावनिष्ठा और संयम की आग है और वर्षा बाहर से नहीं आई संयम-निष्ठा से ही उत्पन्न हुई है। संयम और निष्ठा की आग ने ही वर्षा का रूपक ले लिया है। यह प्रसंग न चाहते हुए भी अनेक कारणों से विवश होकर उठाना पड़ा। संयम और निष्ठा की इस शक्ति का स्रोत भक्ति है। इस भक्ति और आस्था के अभाव से संयम की शक्ति नहीं मिल सकती। इस आस्था और संयम को प्राप्त करने के लिए आधुनिक लेखकों को अपने समय की प्रभावी ऐतिहासिक विचारधारा से जुड़ना पड़ेगा।

कविता और जीवन का संबंध जरूर होता है, किंतु यह संबंध सब समय सीधा-सरल नहीं होता कि रचनाकार के जीवन और उसकी कला में यांत्रिक तौर पर ताल-मेल बिठाया ही जा सके। अंत:करण की गति बाह्येंद्रियों की गति से बहुत तेज और भिन्न है। उसमें ऐसा बहुत कुछ होता रहता है जो कभी नहीं भी प्रकट होता। जो प्रकट नहीं होता, उसका भी प्रकट चेष्टाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: मीरा के जीवन और मीरा के काव्य में परस्पर संबंध सर्वत्र नहीं दिखाया जा सकता। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि जीवन और रचना का संबंध सर्वत्र नहीं होता या ऐसा संबंध ढूंढना निरर्थक है। कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने और उनकी देखा-देखी हिंदी के भी कुछ आलोचकों ने ऐसे प्रयत्नों को निरर्थक या हास्यास्पद तक समझा है। लेकिन हिंदी साहित्य पर विचार करें तो भक्तिकालीन कवियों, छायावादी कवियों और प्रगतिशील कवियों की रचनाओं का उनके जीवनसंघर्ष से गहरा संबंध अवश्य प्रकट होता है। यह संबंध सर्वत्र नहीं स्थापित हो पाता—इसे फिर से कहने की जरूरत नहीं। इस संबंध स्थापन में बहुत सतर्कता की जरूरत है।

भक्तकवियों की रचनाओं से उनके सिद्धांत और जीवन का तालमेल बिठाने में थोड़ी बहुत सुविधा इसलिए होती है कि वे अपनी आस्था को कविता से बड़ा मानते थे। वे कथ्य को वाणी से अधिक महत्व देते थे। जहाँ अवसर मिलता था अपने विषय में भी दो टूक बातें करते थे। उन्होंने कविता में अपने विचारों को, जीवन-जगत संबंधी अपनी प्रतिक्रिया को सीधे तौर पर अभिव्यक्त किया है।

मीरा ने प्रभूत मात्रा में रचना नहीं की। लेकिन फिर भी उन्होंने अपने विषय में पर्याप्त लिखा है। उनकी रचनाओं से उनके बाह्यांतर संघर्ष का पता चलता है। उनके विषय में बाह्य साक्ष्य प्रमाणिक-अर्धप्रमाणिक किंवदंतियां, वार्ताएं मिलती हैं उनसे उनकी रचना सुसंबद्ध मालूम पड़ती है।

NMDC-065

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे। वह आधुनिक आलोचक नहीं थे। उनका उद्देश्य भक्तिन मीरा के जीवन का एक छप्पय में परिचय देना था। उन्हें मीरा की कविता से कोई खास सरोकार नहीं था। नाभादास ने मीराबाई के विषय में लिखा:

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलि जुगहिं दिखायो।
निरअंकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायो।
दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो।
यार न बांको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय कै काहूं ते नाहिन लजी।
लोकलाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी।

'मीरा' की मृत्यु का दुष्टों ने उद्यम किया, उन्हें विष देने का प्रयत्न किया गया। उन्होंने कलियुग में गोपिकाओं जैसा प्रेम प्रकट किया। वे निरंकुश-निडर थीं। लोक-लज्जा कुल की शृंखला उन्होंने तोड़ी। यह सब नाभादास ने लिखा—यह उनके जीवन का परिचय है। यह सब उनकी कविता में है कि नहीं। जिस लोक-लाज कुल शृंखला तोड़ने की विशेषता को नाभादास ने रेखांकित किया है उसी पदावली से मीरा की रचनाएं भरी हैं। कितनी पंक्तियों में मीरा ने 'लोक-लाज तजि नाची' की उक्ति दुहराई है !

मीरा के व्यक्तिगत और उनकी रचनाओं के बारे में एक बात और उल्लेखनीय है। मीरा को उनके जीवनकाल में उच्च एवं मध्य वर्ग संरक्षणशील रूढ़िग्रस्त समाज में बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया था। उन्हें कड़वे बोल सहने पड़े थे। पंडित परशुराम चतुर्वेदी की सूचना का उल्लेख किया जा चुका है उस समय ही नहीं आज भी ऐसे लोग हैं जो मीरा के प्रति आदर की भावना नहीं रखते। उस समय की क्या हालत रही होगी—इसकी कल्पना की जा सकती है।

दूसरी ओर ऐसा भी वर्ग है जो बहुत साक्षर नहीं, लगभग अनपढ़ ही होगा। लेकिन उन अवर्णों में मीरा की रचनाएं परंपरा से लोकप्रिय रही हैं। ये लोग भी राजस्थान के ही है।

डा. पद्मावती 'शबनम' ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मीरा: व्यक्तित्व और कृतित्व' में लिखा है कि लोकसाहित्य विद्यालय गिरिनार से प्राप्त सूचना के अनुसार मीरा के पद अधिकांशत: भील एवं निम्नवर्ग से ही प्राप्त होते है।'[17]

भीलों और निम्नवर्ग में मीराबाई की रचनाएं इतनी लोकप्रिय क्यों हुई? राणाकुल की बहु मीरा ने रैदास या रैदासी परंपरा के किसी चमार संत को अपना गुरु क्यों बनाया? इसका संबंध भक्ति

NMDC-065

आंदोलन की मूल मानवीय भावना से–जो धर्म के सहारे अभिव्यक्त हो रही थी, और इस मानवीयता का संबंध मीरा की रचनाओं से है कि नहीं? मध्यकाल की, राणाकुल की कोई स्त्री निरंकुश अति 'निडर' होकर लोकलाज कुल शृंखला तज दे, चमार को अपना गुरु बनाए। लेकिन कविता करने बैठे तो इसका कोई प्रभाव उसकी रचनाओं पर न पड़े–ऐसा वही मानेंगे जो कविता को जादू समझते हैं जिससे जीवन की सारी समस्याएं कलम हाथ में लेते ही छूमंतर हो जाती हैं।

भक्त कवियों को सगुण निर्गुण की धाराओं में बांटने का रिवाज है। इसलिए, मीराबाई के विषय में भी ऐसी जिज्ञासा की जाती है। कहते हैं कि वह रैदास की शिष्या थीं। श्री वियोगी हरि के अनुसार मीराबाई के सिद्ध गुरु जीव गोस्वामी थे।[18] मीरा की कविताओं से उनके संप्रदाय का पता चला पाना दुष्कर है। संभव है कि उन्होंने किसी को गुरु बनाया भी तो उसका निश्चित पता नहीं चलता ! संभवत: वे अनेक महापुरुषों से प्रभावित हुईं। वे सुनकर या केवल सिद्धांत से प्रभावित होने के बजाय अपनी आंखों और अपने हृदय पर अधिक विश्वास करती थीं। इसीलिए उनकी कविताओं में सांप्रदायिकता या संकीर्णता नहीं। उनकी रचनाओं पर निर्गुण, सगुण, सूफीमत, नाथपंथ–सबका प्रभाव दिखलाई पड़ता है। हिंदी में शायद ही कोई और रचनाकार मिले जो इस क्षेत्र में मीरा से अधिक उदार हो। कबीर पर सगुण मतवाद का प्रभाव नहीं, क्योंकि वे भगवान के लीलामय रूप का वर्णन नहीं करते। लगता है कि जैसे मीरा किसी धार्मिक संप्रदाय में दीक्षित न हों। मुझे लगता है कि 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में मीराबाई और रामद्रास पुरोहित के जिस झगड़े का उल्लेख है, वह यही संकेतित करता है कि मीरा किसी संप्रदाय विशेष से बंध कर नहीं रह सकती थीं।

मीरा की रचना देखकर लगता है कि उन्होंने विभिन्न संप्रदायों के मतवादों को ध्यान में न रखकर अनुभूति पर ही बल दिया है। मीरा ने किसी मतवाद पर आक्रमण भी नहीं किया। सूरदास तक ने निर्गुण मतवाद पर गोपियों द्वारा आक्रमण करवाया है। इस प्रकार मीरा की रचनाओं में (1) सभी मतवादों का प्रभाव है। वे निर्गुण ब्रह्म की, सगुण ब्रह्म की उपासना करती हैं, जोगी को संबोधित करती हैं, एकाध पदों में नाथपंथी साधना का भी प्रभाव ग्रहण करती दिखलाई पड़ती हैं, उनकी विरह उत्कटता सूफियों के समान है। (2) वे किसी मतवाद पर आक्रमण नहीं करतीं। यह अनाक्रमण धार्मिक कवियों में बहुत कम है। सुनने में चाहे जैसा लगे लेकिन सच यह है कि मध्यकालीन धर्मसाधक कवि अपने मत का प्रचार और विरोधी मत या मतों पर प्रहार करने में ढील या लिहाज नहीं बरतते। इन दोनों बातों से इस अनुमान को पर्याप्त आधार मिल जाता है कि मीराबाई किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं थीं–दीक्षित रही भी हों तो इस

NMDC-065

विषय में वे संकीर्ण बिल्कुल नहीं थीं। वह घर की चारदीवारी तोड़कर बाहर निकली थीं तो किसी प्रकार को संकीर्णता में बंधना उनके लिए स्वाभाविक भी नहीं था।

युग विशिष्ट में अनुभूति की अभिव्यक्ति किसी प्रचलित प्रवृत्ति का सहारा लेती है। यह प्रवृत्ति किसी साहित्येतर आंदोलन पर आधारित हो सकती है या किसी शुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति पर भी। मध्यकाल में भक्ति आंदोलन और अनेक भक्ति पूर्व आंदोलन इसी प्रकार अभिव्यक्ति के आधार बने। रीतिवाद शुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वह भी अभिव्यक्ति को सहारा देती थी। ऐसा लगता है कि मीरा के यहाँ जो विभिन्न मतों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है वह अभिव्यक्ति का सहारा या माध्यम मात्र बनकर आया। कबीर, सूर, तुलसी, जायसी की कविताओं में उनके धार्मिक मत का प्रचार प्रमुख उद्देश्य है। मीरा की रचनाओं में धार्मिक मतवादों की यह भूमिका नहीं। वह धर्मिकता को अनुभूति-अभिव्यक्ति का सहारा भर बनाती हैं। वह चाहे जिस मतवाद का सहारा लें, प्रमुखता विरह या संयोग की ही होती है। इस दृष्टि से उन्हें भक्तिकालीन रचनाकारों में विशिष्ट माना जाना चाहिए। आधुनिक युग में भी महिला लेखिकाएं प्राय: किसी वाद के चक्कर में नहीं पड़ती। वह विभिन्न आंदोलनों या प्रवृत्तियों को स्वीकार किए बिना तो रचना नहीं कर सकतीं किंतु उनके यहाँ इन वादों यां प्रवृतियों का सत्याग्रह या दुराग्रह नहीं होता। सुभद्राकुमारी चौहान, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, ममता कालिया सभी के यहां यह बातं लागू होती है। स्नेहमयी चौधरी की कविताओं में नई कविता का रीतिवाद कही कहीं तो मिल जाएगा किंतु आग्रह प्रवृत्ति पर नहीं अनुभूति पर मिलेगा। रीतिवाद से इसलिए इन महिला रचनाकारों की रचनाएं अपेक्षाकृत मुख्य हैं।

संदर्भ

1. डॉ० पद्मावती 'शबनम', : 'मीरा ; व्यक्तित्व और कृतित्व' पृ. 150
2. 'श्रीभक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाशयुत', पृ. 701
3. परशुराम चतुर्वेदी : 'मीराँबाई की पदावली' पृ. 20-21
4. वही, पृ. 21
5. 'मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व', पृ. 46
6. 'मीराँबाई की पदावली', पृ. 23 पर देवीप्रसाद मुंसिफ का उद्धृत मत
7. 'मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व', पृ. 500 उद्धृत तथ्य

NMDC-065

8. 'श्री भक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाशयुत', पृ. 698

9. 'मीराँबाई की पदावली', पद सं. 52, 64, 113.

10. वही, पद सं. 43

11. वही, पद सं. 46, 53, 54, 57, 58

12. वही, पद सं. 97

13. वही, पद सं. 225

14. 'मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व', परिशिष्ट 12

15. 'मीराँबाई की पदावली', पद संख्या 21, 26

16. शचीरानी गुर्टू (सं०) : 'महादेवी वर्मा', जैनेंद्र का लेख

17. 'मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व', परिशिष्ट 13

18. वही, पृ. सं. 193

NMDC-065

14. मीराँबाई की पदावली

परशुराम चतुर्वेदी

पद-रचना-परंपरा

(1) सिद्धों की पद्धति—मीराँबाई की पदावली के प्राय: सभी पद गीतों के रूप में है। उनमें से अधिकांश में पहले एक टेक देकर उसके नीचे तीन-चार अथवा अधिक चरण जोड़ दिए गए हैं और पूरे पद को किसी-न-किसी प्रकार के राग एवं रागिनी के अन्तर्गत रखा गया है। गीतों की यह परम्परा हिन्दी में, उसके आदि-काल से ही चली आती है। उस समय, जब कि साहित्यिक अपभ्रंश पुरानी हिन्दी में परिणत हो रही थी, बौद्ध-सिद्धों ने विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग अपने समय की प्रचलित भाषा में 'चर्या गीतियों' की रचना की थी; जिनमें हम इन गीतों के पूर्वरूप भलीभाँति देख सकते हैं। सिद्धों के (नाथपंथियों के भी प्राय: वैसे ही) अनेक गीत पदों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। सिद्धों की उक्त 'गीतियों में भी, इधर के गीतों की ही भाँति रागों की व्यवस्था है; किन्तु उनमें 'टेक' प्राय: नहीं देख पड़ते! पूरा पद एक ही प्रकार के किसी साधारण छन्द को— जैसे अरिल्ल, चौपाई, चौबोला आदि की —द्विपदियों में लिखा हुआ मिलता है। उनके बहुत-से पदों में भाषा की शुद्धता एवं प्रवाह के न रहने के कारण उतना गेयत्व नहीं पाया जाता, न विषय की दुरूहता के कारण, उनमें काव्य की दृष्टि से वैसी सरलता वा रमणीयता ही दृष्टिगोचर होती है। उनमें अधिकतर व्यंग्य-वर्णन एवं उपदेश भरे पड़े हैं। यदि कहीं-कहीं उनमें कुछ अनुभूतिपूर्ण उद्‌गार भी मिलते हैं, तो वे रचियता की साम्प्रदायिक साधनाओं के महत्व के द्योतक ही जान पड़ते हैं। सिद्धों एवं नाथों की उक्त रचना-पद्धति को पीछे से मराठी में नामदेव आदि तथा हिन्दी में कबीर साहब तथा रैदास आदि संतों ने कुछ फेर-फार के साथ प्रचलित रखा। अतएव इनके पद अधिकतर नैतिक एवं आध्यात्मिक विषयों से पूर्ण रहने के कारण प्राय: दार्शनिक तथा उपदेशात्मक ही बनकर रह गए। स्वानुभूति द्वारा उत्पन्न हृद्‌गत भाव और शुद्ध भक्ति-भावना से ओत-प्रोत पदों की संख्या, उनकी रचनाओं के अन्तर्गत, अपेक्षाकृत कम ही देखने को मिलती है।

वैष्णवों की पद्धति

उक्त कई दोषों से मुक्त एवं विशुद्ध पदों का संग्रह, सर्वप्रथम हमें तेरहवीं विक्रम शताब्दी के भक्तकवि जयदेव द्वारा रचे गए प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' में मिलता है, जो हिन्दी में न होकर संस्कृत में है। उसके अनन्तर तेरहवीं-चौदहवीं वाले विनय' के पद और पन्द्रहवीं-सोलहवीं विक्रम-शताब्दियों में प्राय: उसी आदर्शों पर, मैथिली में विद्यापति, गुजराती में नरसी मेहता तथा बंगाल में चण्डीदास द्वारा की गई रचनाएँ भी पायी जाती हैं। मीराँबाई के पदों की रचना अधिकतर इस दूसरी पद्धति

NMDC-095

पर ही हुई है। इसका अनुसरण उनके दीर्घ वा अल्पकालीन समसामयिक (अथवा परवर्ती भी) भक्त विष्णुदास, सूरदास, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, नन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास एवं हरिराम व्यास आदि ने भी किया है। इसके अनुसार प्रत्येक पद का विषय भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के नाम, रूपलीला वा धाम का कुछ-न-कुछ वर्णन हुआ करता है। कभी-कभी उसमें कवि द्वारा दर्शित कतिपय भक्तिपूर्ण मनोभावों का भी समावेश रहा करता है। कवि अपने इष्टदेव के सम्बन्ध में नयी-नयी कल्पनाएँ किया करता है और अपनी रचनाओं द्वारा उक्त विषयों में से किसी-न-किसी का भावपूर्ण उल्लेख भिन्न-भिन्न शब्दों में (किन्तु प्राय: एक ही प्रणाली के अनुसार) बार-बार करता हुआ भी नहीं अघाता। उक्त मनोभाव भी अधिकतर प्रार्थना वा विनय के ही साधनों द्वारा व्यक्त हुए रहते हैं, जिससे (एक प्रकार से श्रद्धाजनित द्वैतभाव की बाधा आ जाने से) उनका पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण नहीं हुआ दीखता। महिमामय वर्णनों के सामने उक्त व्यक्तिगत मनोभाव दब-से जाते हैं।

संक्षिप्त विवरण

(2) पदावली का विषय—मीराँबाई की पदावली में उक्त चारों बातों का न्यूनाधिक समावेश है, किन्तु वे मुख्य न होकर, प्राय: गौण बनकर ही आयी हैं। पदावली के पदों का मुख्य विषय उनकी रचयित्री के आभ्यन्तरिक भावों का पूर्ण प्रकाश ही जान पड़ता है। रस विषय के पद उसके अन्तर्गत प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी कारण प्राय: सारी पदावली में मीराँबाई के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। ऐसे पदों में हमें उनका अपने इष्टदेव परम सुन्दर मनमोहन की 'छवि' की ओर सहसा आकृष्ट हो जाना, उसकी प्रत्येक शारीरिक चेष्टा को बार-बार निहारते रहने के लिए आतुर होना, और इस प्रयत्न में निरन्तर लगे रहने के कारण, प्रेम की मादकता भी उनके भीतर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाना, उनके लिए विविध अभिलाषाएँ करना, व्रत ठान लेना, चिन्तन करते-करते अपने सारे जीवन का तद्वत् कार्य-क्रम निश्चित कर लेना, उसमें प्रवृत्त तक हो जाना और स्वजनों से तद्विषयक मतभेद उपस्थित हो जाने पर उनकी एक न सुनना, बल्कि उनके द्वारा दिए गए दण्डों को भी सहर्ष सहन कर लेना और निरन्तर अपने निश्चय पर अटल रहते हुए गृह-त्याग कर देना तक लक्षित होता है। इसके सिवाय तदनन्तर प्रियतम से वियुक्त हो जाने का अनुभव, अपनी अनेक प्रकार की शारीरिक वा मानसिक यातनाओं के वर्णन द्वारा प्रदर्शित किया गया है। साथ ही अपनी दशा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट कराकर आत्म-समर्पण द्वारा उसे पाने का उद्योग भी दर्शाया गया है। फिर तो कवयित्री के हृदय में कुछ-कुछ आशा का संचार भी होने लगता है। अन्त में उस अभीष्ट के मिलने के अनुभव का भी दिग्दर्शन है, जिसके लिए उक्त सारी चेष्टाओं का उपक्रम था। इन पदों के अतिरिक्त पदावली में हमें कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें कवयित्री ने अपने सहायक सद्गुरु के प्रति

NMDC-065

श्रद्धा-उद्‌गार प्रदर्शित किए हैं, किन्तु जो प्राय: सन्दिग्ध भी प्रतीत होते हैं। शेष पदों में या तो उक्त चारों विषयों में से कुछ वर्णन है अथवा विनय या उपदेश है; जिनके साथ-साथ भी कवयित्री के निजी अनुभव की छाप हमें सर्वत्र देखने को मिलती है।

एकरसता

मीराँबाई की पदावली का विषय, वास्तव में, उसकी रचयित्री के व्यक्तिगत जीवन की विशेषताओं का प्रतिबिम्ब है। हम देख चुके हैं कि शैशव-काल से ही मीराँ के हृदयपटल पर श्री गिरिधारीलाल के प्रति आत्मीयता की भावना अंकित होने लगी थी, जो उनकी उन्हें पति रूप में वरण करने अथवा उनकी स्वप्न में परिणत होने तक की कल्पनाओं द्वारा क्रमश: दृढ़तर होती गई। कुँवर भोजराज का वास्तविक पाणिग्रहंण भी उसे विभाजित न कर सका, न उसमें कोई बाधा डाल सका। उसे कौटुम्बिक कलह अथवा राजदण्ड का भय भी नहीं दूर कर सके। जिस प्रकार किसी निश्चित मार्ग से आगे बढ़ती हुई निर्झरिणी की धारा निकट के अन्य मार्गों की उपेक्षा करती हुई सामने वाली चट्टानों के प्रतिकूल पड़ने पर भी नहीं रुकती, अपितु अधिक विस्तृत होकर चल निकलती है, उसी प्रकार मीराँ की प्रवृत्ति भी सदा अधिक-से-अधिक व्यापक बनकर ही अग्रसर होती गई। वह इधर-उधर तनिक भी नहीं मुड़ी; न उसने अपने ऊपर कोई दूसरा रंग ही चढ़ने दिया। मीराँबाई के जीवन भर में केवल एक भाव है, एक रस है, और एक ही रंग है और उसकी स्पष्ट छाया उनकी पदावली में हमें सर्वत्र दीख पड़ती है। उसके अतिरिक्त मीराँ कुछ नहीं जानती-समझती वा जानना-समझना ही चाहती हैं। उसी में उनकी सारी अन्तरात्मा व्याप्त है और उसी को आत्म-प्रदर्शन द्वारा प्रकट करने की चेष्टा में वे पद-रचना करने की ओर स्वभावत: प्रवृत्त हो जाती हैं। मीराँबाई के हृदय पर उनके जीवन भर एक ही मधुर भावना की लहरें हिलोरें मारती रहीं। वे सदा समझती रहीं कि मैं श्री गिरिधारीलाल की 'अपनी' हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी। अपनेपन की अतृप्त लालसा सर्वत्र मुखर पायी जाती हैं।

विषाद एवं अनुराग

(3) आधारस्वरूप सिद्धान्त—मीराँबाई के जीवन पर एक सरसरी दृष्टि डालने पर भी हमें विदित हो जायगा कि उसकी घटनाओं के भीतर दो प्रकार की स्पष्ट धाराएँ प्राय: निरन्तर प्रवाहित होती रहीं, जिनमें एक का रूप विषादमय और दूसरी का अनुरागमय था। दोनों ने उनके मानस-पटल पर दो भिन्न-भिन्न, किन्तु वास्तव में एक-दूसरे से मिली हुई निश्चित रेखाओं की सृष्टि की। बहुत थोड़ी अवस्था में ही मीराँबाई को अपनी माता का वियोग सहना पड़ा था और तब से उनके पितामह, पति, पिता, श्वसुर एवं चाचा का भी एक-दूसरे के अनन्तर देहान्त हो गया। अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते समय इस प्रकार उनके हृदय पर एक-न-एक ठेस बराबर लगती ही गयी। इसके सिवाय यदि एक ओर बाहर से इसी बीच मेवाड

NMDC-065

पर बाबर एवं बहादुरशाह जैसे प्रबल शत्रुओं के एक से अधिक आक्रमण हुए और कुछ काल के लिए चित्तौड़ का दुर्ग भी दूसरे के हाथ लग गया तो दूसरी ओर मेवाड़ के भीतर भी गृह-कलह की कमी नहीं रही। इसी प्रकार मेड़ता और जोधपुर के बीच भी, प्राय: इसी समय मनमुटाव के कारण युद्ध हुए और राव जयमल को अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा। ये सब बातें मीराँबाई के हृदय में विरक्ति के भाव भरने के लिए पर्याप्त थीं। हम इसी प्रकार यह भी जानते हैं कि श्री गिरिधरलाल की मूर्ति ने मीराँबाई को उनकी बाल्यावस्था में ही किस प्रकार प्रभावित कर दिया था और किस प्रकार उसके मूल स्वरूप श्रीकृष्णचंद्र के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होने में उन्हे भिन्न-भिन्न घटनाओं ने सहायता प्रदान की थी। अपने जीवन-काल के प्रारम्भ से लेकर उसके अवसान तक सदा वे उनमें आसक्त रहीं। अन्त में जनश्रुतियों के अनुसार, श्री रणछोड़जी की मूर्ति में वे विलीन तक हो गयीं। अपने इष्टदेव के प्रति उनका अनुराग प्रतिकूल घटनाओं के होते हुए भी सदा दृढ़ बना रहा।

'विषाद' एवं 'अनुराग'

मीराँबाई के सिद्धान्त, इस कारण, जगत के प्रति विरक्तिमय और श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्तिमय दीख पड़ते हैं। इन दोनों प्रकार की भावनाओं के प्रभाव उनकी रचनाओं पर हमें सर्वत्र लक्षित होते हैं। उनके विचारानुसार सारा दृश्यमान संसार उठ जानेवाला वा अनित्य है। जिस शरीर को पाकर हम अभिमान-प्रदर्शन करते हैं, वह भी अन्त को (माटी) में ही मिल जाने वाला है। मनुष्य के सभी दैनिक व्यवहार 'चहर का बाजी' अर्थात चौसर के खेल वा चिड़ियों के उस खेल के समान हैं, जो संध्याकाल के आते ही, उनके बसेरे पर चले जाने के कारण, बन्द हो जाया करता है। इस कारण उनका कहना है कि आवागमन से मुक्ति पाने के लिए तीर्थ-व्रत करना, 'काशी करवत' लेना अथवा भगवा पहनकर, अपना घरबार छोड़ सन्यासी हो जाना मात्र व्यर्थ है। यहाँ तो योगियों को भी, अपनी साधना के निष्फल हो जाने पर, 'उलट' अर्थात लौटकर पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है। वे संसार की इस दुर्दशा का अनुभव कर अत्यंत दु:खित हैं— वे रो तक पड़ती हैं और चाहती हैं कि उन्हीं की भाँति सभी इस कटु सत्य से परिचित होकर, अपने-अपने बचाव के लिए यत्न करने लग जायँ। मीराँबाई के विचारानुसार सबको चाहिए कि अपनी निर्बलता एवं विवशता पर ध्यान देते हुए अपने को भगवान के चरणों में समर्पित कर दें और सदा भक्तिपूर्वक उनका भजन-पूजन करते रहें। उक्त भजन के न होने से ही मनुष्य-जीवन में फीकापन आ जाया करता है और वह भार-स्वरूप बन जाता है। भगवान ही एकमात्र नित्यवस्तु हैं और पुनर्जन्म तथा कर्मबन्धन को प्रसन्न होकर वे ही काट सकते हैं। उनके अतिरिक्त अपने लिए आश्रय या आधार, मीराँ के विचार से तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं हो सकता।

NMDC-065

इष्टदेव–निर्गुण रूप एवं साधना

मीराँबाई ने उक्त नित्यवस्तु-रूपी भगवान को 'हरि-अविनाशी' की संज्ञा दी है और उसे अपने हृदय में निवास करने वाला भी बतलाया है। वे कहती हैं कि स्थायी प्रेम उसी के साथ हो सकता है और वही सच्चा 'बालवा' वा अपना पतिदेव भी कहलाने योग्य है। वे अपने 'साँवरा' के उस 'अगम देस' की कल्पना करती हैं जहाँ काल तक की पहुँच नहीं है: वहाँ 'हंस' केलि करते हैं और वहाँ साधुओं के तथा संतों के संग में 'ग्याण जुगति' की जा सकती है तथा साँवरा का ध्यान भी किया जा सकता है। उन्हें 'सील वरत' (शील व्रत) के सामने दूसरा कोई भी शृंगार पसन्द नहीं। अतएव वे संसार की आशा त्याग कर ही, 'हरि हितु' के 'हेत' करने और, इस प्रकार 'वैराग' साधने का उपदेश देती हैं।

इष्टदेव–सगुण रूप एवं साधना

मीराँबाई द्वारा किए गए इष्टदेव के निर्गुणवत निरूपण तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयोग में आने वाली चारित्रिक साधनाओं के आधार पर कुछ लोग उन्हें संतमत की अनुयायिनी मान लेना चाहते हैं; किन्तु ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। मीराँ ने अपने पदों में उक्त 'हरि अविनासी' को ही एक परम ऐश्वर्यशाली एवं लीलामय भगवान के सगुण रूप में भी अंकित किया है। वे कई पदों द्वारा उनके सुन्दर रूप एवं विविध मनोहारिणी चेष्टाओं का वर्णन करती है। बहुत-से पदों में उनकी भिन्न-भिन्न लीलाओं के कतिपय संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। उन्होंने उसके लिए कई स्थलों पर 'भक्त वछल' 'दीनानाथ' 'कृपानिधान' 'अधम उधारण' 'सब जगतारण' 'कष्ट निवारण', 'विपति विदारण', 'सरण आया कूँ तारने वाला' वा 'पतितपावन' आदि के प्रयोग किए हैं। उसके अनेक उपकारों के उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने कल्याण के लिए प्रार्थना भी की है। उन्होंने उसे 'नारायण' और 'चतुरभुज' ही नहीं अपितु, स्पष्ट शब्दों में 'गिरिवरधारी', 'नंदनन्दन', 'बलवीर' कहकर उक्त सगुण भगवान के भी कृष्णावतार को सम्बोधित किया है। इसके सिवाय उनके द्वारा प्रदर्शित साधना-पद्धति के अन्तर्गत हम उनके पदों में सगुणरूप के प्रति की जाने वाली नवधा भक्ति नाम की उपासना के भी अनेक उदाहरण पाते हैं। वे अपने इष्टदेव के गुणों को सत्संग की सहायता से सदा श्रवण किया करती हैं। उनके सौन्दर्य-वर्णन एवं गुणगान करने पर सदा दृढ़ रहा करती हैं। उसे रिझाने के लिए लोक-लज्जा का त्याग कर 'पग' में घुँघरू' बाँध चुटकी दे-देकर साधुओं के सामने, नाचने तक लग जाती हैं। इस कीर्तन के कारण लोग उन्हें 'बावरी', 'मदमाती' वा 'कुलनासी' तक कह डालते हैं; किन्तु वे इसकी परवाह नहीं करतीं। उनका मन गिरिधरलाल में लगा है और अपने चित्त पर 'चढ़ी' एवं उर में 'अड़ी' हुई उस 'माधुरी मूरत' के ही 'उमरण' तथा 'सुमरण' में वे सदा व्यस्त रहा करती हैं। वे उस हरि के 'सूमन सीतल कँवल कोमल त्रिविध ज्वाला हरण' चरणों

NMDC-065

का स्पर्श करना तथा उसमें लिपट रहना तक चाहती हैं। वे उसी का 'चरनामृत' लेती तथा दर्शन करती हैं। वे उन्हें प्रणाम वन्दन करती हैं तथा 'चेरी' होकर 'पाँयन' तक पड़ जाती हैं। वे उनके 'ठाकुर' और 'प्रतिपाल' हैं और ये उनकी 'जनम-जनम की दासी' और 'बिन-मोल चेरी' हैं। सख्यभाव के अनुसार इसी प्रकार वे 'रैणदिना वाके संगि' खेला करती हैं और उनके साथ कभी-कभी 'झिरमिट' खेलने भी जाती हैं। वह उनका 'प्रेम पियारो मीत' 'पूरब जनम का साथी', 'साँकड़हारो साथी' एवं 'जनम मरन को' भी साथी हैं जिसे 'देख्या बिना' उन्हें कल नहीं पड़ती। मीराँ के लिए 'हरि' की 'चितवन' ही आशारूप है और उनके लिए वे प्राणों तक का 'अँकोर' देने को प्रस्तुत हैं। 'मरण-जीवन' दोनों उन्हीं के हाथ हैं। अतएव जो भी उन्हें वार दिया जाय, वही 'थोरा' होगा। उन्होंने 'उनके' प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया है, जिस कारण वे जो पहनावें उसी को पहनती हैं, जो दें उसी को खाती हैं, जहाँ बैठावें वहीं बैठती हैं तथा उनके बेचने पर बिक जाने के लिए तैयार हैं। इष्टदेव के प्रति आत्म-निवेदन के भाव इनसे बढ़कर और क्या हो सकते हैं?

सामञ्जस्य

मीराँबाई की दृष्टि में उनके इष्टदेव के निर्गुण वा सगुण रूपों में, वस्तुत: कोई भेद नहीं है। इस कारण, जहाँ वे उसमें "तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज़ घामा' कहकर उसके साथ अपना तादात्म्य प्रकट करती हैं, वहीं उसे, अलग रहने वाले की भाँति अपने पास आने के लिए निमंत्रित भी करती हैं। मीराँबाई को उस 'प्रियतम' के वास्तविक रूप का आध्यात्मिक रहस्य अवश्य ज्ञात है। किन्तु उनके प्रेम की तीव्र भावना उसे अमूर्त मानकर अपनाने नहीं देती। उनके स्त्रियोचित हृदय में निराकार के लिए स्वभावत: कोई स्थान नहीं। वे उसके प्रतीक-स्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की विश्वमोहिनी मूर्ति को सदा अपने सामने रखती हैं और उसी के सौन्दर्य का आभास उन्हें सर्वत्र दीख पड़ता है। उस 'आसा' अर्थात ऐसे अनुपम 'पिया' के प्रति तन-मन-धन सभी कुछ अर्पित कर उसे वे अपने हृदय में रख लेना चाहती हैं। उसे देख-देखकर वे नेत्रों द्वारा प्रेमरस पीना चाहती हैं, क्योंकि उसका मुख-मण्डल देखते रहने पर ही उनका सारा जीवन निर्भर है। वे उसे, जैसे भी हो, वैसे रिझना चाहती है, क्योंकि वह 'बड़भागन' रीझा करता है। उन्होंने उससे रसीली भगति की याचना कर ली है और 'साँची भगत रूप' वाली हो गयी हैं। उनके भगवान की परिभाषा कदाचित वही है, जो 'श्रीमद्भागवत' के निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक द्वारा प्रकट होती है--

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं, यज्ज्ञानमव्यम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते।।

अर्थात जिस वस्तु को तत्त्वज्ञानी लोग तत्त्व, अव्यय, ज्ञान, ब्रह्म एवं परमात्मा नाम से अभिहित

NMDC-065

करते हैं उसी को भगवान भी कहा जाता है। उनका इष्टदेव, इस प्रकार, निर्गुण होता हुआ भी भगवान है। दास्यभाव के प्रसिद्ध भक्त तुलसीदास ने, इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए अपनी रचना 'रामचरितमानस' (बालकाण्ड) के अन्तर्गत शंकर द्वारा पार्वती के प्रति कहलाया है–

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेमबस सगुन सो होई।।
× × ×
सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विग्यान विहाना।।
ब्रह्म व्यापक जग जाना।
परमानन्द परेस पुराना।।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट, परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोई, कहि सिव नायउ माथ।।

ऐसी भावना की ओर किया गया कोई-न-कोई संकेत अन्य उच्चकोटि के सगुण भक्तों की पंक्तियों में भी मिलेगा। अतएव मीराबाई की कुछ प्रामाणिक रचनाओं में, यदि कहीं प्रसंगवश, निर्गुणोपासक संतों की शब्दावली भी दीख पड़े, तो इसके कारण उनकी सगुणोपासना के विषय में किसी विशेष अन्तर की कल्पना करना ठीक नहीं। संभव है कि उन पर किसी प्रकार संत मत का भी कुछ प्रभाव पड़ गया हो, किन्तु उसे उतना ही समझ बैठना, कदाचित सत्य से दूर जाना होगा। उनका प्रेम-रस अद्वैत से अधिक अद्वय के प्रति प्रतीत होता है।

रहस्यवाद

मीराबाई द्वारा अपनायी गयी साधना इसी कारण, रहस्यमयी भावनाओं से भी ओतप्रोत है और अनेक पदों से हमें रहस्यवाद की भी कुछ झलक दिखायी पड़ जाती है। वे मूर्तिमान सौन्दर्य श्री गिरिधरलाल की, उक्त अनुपम एवं अलौकिक 'पिया' रूप में, अपरोक्ष अनुभूति किया करती हैं। उनके साथ 'तुम मोरे हूँ तोरे' अथवा 'तुम चित्र हम बिच अन्तर नाहीं' आदि द्वारा तादात्म्य स्थापित कर सदा आनन्द-विभोर रहा करती हैं। उनके 'पिया' उनसे कदाचित कभी भी अलग नहीं। वह सदा उनके 'हीयड़े बसता' है। उनके हृदय में अपने इष्टदेव के प्रति एक विचित्र भावना है, जो कुछ स्पष्ट विशेषताओं के कारण धार्मिक दीख पड़ती हुई भी, नितांत व्यक्तिगत है। उनका 'हरि अविनासी' सच्चा 'बालवा' है। अतएव, उसे भगवान कहकर उससे

NMDC-065

भक्ति की याचना करती हुई भी वे वास्तव में, यही लालसा रखती हैं कि कभी-न-कभी अवश्य ही उस 'पिय के पलँगा' पर 'पौढ़' कर 'हरि रंग' में पूर्णत: रंग जाएंगी उसकी 'चाकरी' मे भी उन्हें सदा उसके 'दरसण' की अभिलाषा रहती है। उन्हें 'खरची' के लिए केवल उसका 'सुमिरण' मात्र चाहिए और 'जागीरी' के लिए उसकी 'भावभगति' चाहिए। उन्होंने उसके लिए अपना सारा शरीर 'जुग-जुग' के लिए 'सदकै' वा न्यौछावर कर दिया है। वे जहाँ-जहाँ 'धरणी पर' पाँव रखती हैं, वहाँ मानो उसके प्रेम में सदा नृत्य ही किया करती हैं। वे गिरिधर के रंग में सदा 'राती' रहती हैं। वे पंचरंग का 'चोला' एवं पाँच तत्त्वों द्वारा निर्मित शरीर धारण कर सदा 'झिरमिट' वा झुरमुट मारने का खेल (जिसमें सारा शरीर इस प्रकार ढंक लेते हैं, जिससे जल्दी पहचान न हो सके) खेला करती थीं कि अकस्मात उस 'साँवरो' वा प्रियतम से भेंट हो गयी और उसे अपना पूर्व परिचित जान, वे उसके साथ शीघ्र मिल गयीं (उनके गले लग गयीं)। तात्पर्य यह कि कर्मानुसार प्राप्त मानव-शरीर का आवरण धारण किये हुए जीवात्मा रूप से अपना जीवनयापन कर रही थीं कि किसी समय उन्हें इस दैनिक व्यवहार के अन्तर्गत ही, परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य का बोध हो गया । वे उक्त काल्पनिक आवरण की भावना का त्याग कर उनके साथ एक रूप (तद्रूप) हो गयीं।

माधुर्य भाव

(4) परिचय वा गोपीभाव – मीराँबाई की पदावली में, इसी कारण सर्वत्र हमें भक्तिरस की उस धारा का ही प्रभाव लक्षित होता है, जिसे 'माधुर्य भाव' अथवा मधुर-रस कहा करते हैं। मधुर रस भक्ति की अन्य धाराओं जैसे शांत, दास्य, सख्य एवं वात्सल्य से भिन्न है। 'शांत' के अनुसार भक्त, भगवान् के सगुण रूप का अनुभव कर उनका स्वरूप-चिन्तन किया करता है। 'दास्य' के अनुसार उनके ऐश्वर्य-चिन्तन में मग्न रह कर उनका गौरव-गान करता रहता है। इसी प्रकार, 'सख्य' के अनुसार वह भगवान को किशोरावस्था का सखा मान, उनसे न्यूनाधिक अनियंत्रित प्रेम करने लगता है और 'वात्सल्य' के अनुसार उसके बालरूप पर भी अधिक मुग्ध होकर उनकी बाललीला का रसास्वादन किया करता है। किन्तु 'मधुर-रस' के अनुसार भक्त उनको अपने पति वा सर्वस्व रूप में देखता है। इसी कारण, उनके साथ उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठता का हो जाता है। कहते हैं कि जो 'आर्त्ति' वा गूढ़ प्रेम एक युवती के हृदय में, किसी युवक को देखकर जाग उठता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी कारण भक्त लोग श्री भगवान कृष्ण को स्थिर चित्त के साथ, पत्नी-भाव से ही नित्य भजा करते हैं। स्त्री-पुरुष की ऐसी ही आसक्ति के सम्बन्ध में शृंगार-रस का भी प्रादुर्भाव होता है। अतएव, मधुर-रस के भी भाव, विभाव, अनुभावादि प्राय: उसी प्रकार के होते हैं, जैसे शृंगार-रस के। किन्तु इन दोनों में महान अन्तर भी पाया जाता है। शृंगार-रस का विषय, सांसारिक होने से, जड़ मूर्तिरूप है, किन्तु

NMDC-095

मधुर-रस का विषय अलौकिक एवं स्वयं भगवान-स्वरूप है, अतएव शृंगार-रस के स्थायी भाव रति का सम्बन्ध यदि स्थूल या लिंग शरीर से है, तो मधुर-रस, एक प्रकार से, स्वयं आत्मा का ही धर्म है।[2] मधुर-रस का अनुभाव, शृंगार-रस के समान होने पर भी, वस्तुत: इन्द्रियातीत है। शृंगार-रस मधुर-रस में परिणत हो सकता है, यदि भक्ति की स्थिति उस प्रकार की हो जाय, जैसी कि गोपियों की थी। ब्रज की गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम पराकाष्ठा को पहुँच गया था। ये उनकी स्वकीया वा विवाहिता भार्याएँ नहीं थीं। वे परकीया थीं और इसी कारण, अपने प्रेम के स्वाभाविक स्फुरण में उन्हें अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना भी करना पड़ता था, किन्तु जैसा नियम है, इन बातों में बाधाएँ जितने संकट के सामने खड़ा करती हैं, प्रेम की गति उतनी ही तीव्र हो जाती है। अन्त में, वह एक विचित्र मधुर पागलपन का रूप धारण कर लेता है, जिसे अधिक उपयुक्त शब्द में हम 'दीवानापन' कह सकते हैं। इस प्रेम का अवसान इन्द्रियों द्वारा उपभोग, शरीरादि मात्र की आसक्ति वा स्वार्थ-लाभ में ही नहीं हो जाता। यह नितान्त नित्य, एकरस एवं स्वार्थ-रहित अतएव 'कामगंधहीन' हुआ करता है। ऐसे प्रेम में काम-वासना को भी स्थान नहीं; 'कामगंधहीन' होने पर ही उस 'गोपी-भाव' की प्राप्ति होती है।

साधना का रूप

मीराँबाई का आदर्श ब्रज की उक्त गोपियाँ थीं और उनका आदर्श प्रेम भी उक्त 'गोपी-भाव' था। प्रसिद्ध है कि वे स्वयं अपने को ललिता नाम की किसी गोपी का अवतार भी समझा करती थीं। अपने प्रियतम श्री गिरिधरलाल के साथ कदाचित इसी पूर्व सम्बन्ध का परिचय उन्होंने अपने पदों में आए हुए अनेक उल्लेखों (जैसे, 'मेरी उनकी प्रीति पुराणी' 'पूरब जनम को कोल' 'पूरब जनम की प्रीति पुराणी' 'पूर्व जनम री प्रति पुराणी' 'जनम-जनम की चेली' 'पूरब जनम का साथी' अथवा 'गोकुल अहीरणी') द्वारा दिया है। कई स्थलों (जैसे, 'बाँह गह्यारी लाज') पर वे श्री गिरिधरलाल को स्वकीया की भाँति अपना पति समझती हुई भी दीख पड़ती हैं। किन्तु तंत्रानुमोदित अद्वय भाव के कारण कभी-कभी उनके अनेक उद्‌गार परकीया के जैसे ही प्रकट हुए समझ पड़ते हैं। वे अपने प्रियतम को सदा 'पिव', 'उण', 'धणी', 'सैया', 'भरतार' 'भवनपति', 'साजन' अथवा 'वर' तक कहकर सम्बोधित करती हैं और एकाध पदों से उनके 'सौतियाडाह' जैसे भाव का भी कुछ संकेत मिलता है। किन्तु तो भी उन्हें सांसारिक दृष्टि से परोक्ष एवं अमूर्त अथवा प्रत्यक्ष तथा मूर्तिमान होने पर भी, निर्जीव दीख पड़ने वाले 'व्यक्ति' को नाच-गाकर रिझाते समय लोक-लज्जादि के संकोच बाधा पहुँचाने लगते हैं। उनके स्वजन उक्त वास्तविक रहस्य को समझ पाने में असमर्थ हैं और वे उनकी सचाई में सन्देह तक करने लग जाते हैं। परिणामस्वरूप उनके, वास्तव में 'प्रेम दिवाणी' मात्र होने पर भी लोग उन्हें 'कुलनासी' आदि कहने से भी नहीं चूकते और उनकी 'हाँसी' तक उड़ाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु

NMDC-065

मीराँबाई को ऐसी 'बदनामी' सदा 'मीठी' ही लगा करती है और वे लाख 'बुरी-भली' कही जानें पर भी अपनी 'अनूठी चाल' चलने पर ही दृढ़ रहती हैं। वे सदा अपनी 'रामखुमारी' में ही मस्त डोलती' फिरती रह जाती हैं।

विवरण

उक्त माधुर्यभाव एवं परमभाव की पद-रचना करते समय मीराँबाई को, इसी कारण न तो पुरुष-भक्त कवियों की भाँति, कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमिका ब्रज सुन्दरियां द्वारा प्रदर्शित विविध भावों का 'वर्णन' करना है, न अधिक-से-अधिक अपने ऊपर स्त्री-भाव का कोई काल्पनिक आरोप कर तद्वत् चेष्टाओं का प्रदर्शन ही करना है। वे स्वयं स्त्री हैं और अपने इष्टदेव श्री गिरिधरलाल को पतिरूप में स्वीकार भी कर चुकी हैं। अतएव उन्हें अपनी किसी अवस्था-विशेष में रखने का यत्न नहीं करना है। वे माधुर्यभाव की सभी स्त्री-सुलभ बातें यों हीं अनुभव कर लेतीं तथा उन्हें तदनुकूल शब्दावली में स्वाभाविक रूप से, व्यक्त कर देती हैं। उनकी प्रेम श्रीगिरधरलाल के अनुपम सौन्दर्य का अनुभव करके आरम्भ करके आरम्भ होता है। प्रेमासवित बढ़ती है और नयी-नयी अभिलाषाएँ उनके हृदय में क्रमशः घर करने लग जाती हैं। फिर तो इस प्रकार के भावों का रंग अधिकाधिक प्रगाढ़ ही बनता जाता है और एक साधारण-सा रूप-राग आगे पूर्वराग में परिणत हो जाता है। प्रेमानुभव की यह पहली दशा है, किन्तु प्रायः आरम्भ से ही आध्यात्मिक होने के कारण, यह साथ ही विरहगर्भित-सी भी दीख पड़ती है। इसकी जड़ गहराई तक पहुच चुकी है। दूसरी दशा में यह अनुभूति अज्ञान-जनित असावधानता के कारण, स्पष्ट विरहानुभव बनकर आती है। देश, काल वा परिस्थिति द्वारा उत्पन्न भिन्न-भिन्न यातनाओं में प्रकट होकर, उनकी अन्तरात्मा को स्वर्णवत तपाकर और भी विशुद्ध कर देती है। अपनी तीसरी वा अन्तिम दशा में पहुँचकर यह उक्त भाव की पूर्णता को तब प्राप्त होता है, जब आत्मसमर्पणपूर्वक अभीष्ट मिलन का अनुभव उन्हें सर्वतोभावेन होने लग जाता है।

मर्यादित रूप

मीराँबाई का उक्त माधुर्यभाव, परमभाव वा गोपीभाव निरा उच्छृंखल आवेश-प्रदर्शन नहीं था। वह वास्तव में, ज्ञानमूलक एवं मर्यादित भी था, जैसा कि हम उनके 'पंचरंग चोला' के आवरण में 'झिरमिट' खेलने आदि के प्रयोगों द्वारा पहले ही देख चुके हैं। उसका आदर्श प्रदेश वह 'अगम का देश' है, जहाँ 'प्रेम का हौज' सदा भरा-पूरा रहता है। जहाँ पर 'हंस' अर्थात जीवात्मा नित्य 'केल्याँ', वा आत्मानुभव के आनन्द में 'मग्न' रहा करता है अथवा जहाँ जाने से काल को भी भय लगता है। 'अमर रस का पियाला' पीते ही उन पर ऐसा रंग चढ़ गया था कि अन्य सभी रंगों अर्थात विषयों से सदा के लिए विरक्ति हो गयी थी। तब से उन्होंने 'शील बरत' अर्थात

NMDC-065

शीलव्रत का शृंगार धारण कर संतोचित मार्ग क्षमा, सत्य, सुमति, औदार्य, संतोष, चित्त की उज्ज्वलता आदि हो गये जो एक सदाचारी नैतिक जीवन के लिए परमावश्यक गुण हैं। अतएव, मीराँबाई की प्रेम-साधना में देश, काल या अन्य परिस्थितियों के अनुसार, उक्त ब्रज सुन्दरियों के गोपी-भाव से बहुत कुछ अन्तर तो था ही, वह अपने मौलिक सिद्धान्तों एवं उच्च नैतिक आदर्शों के कारण उन तांत्रिक साधनाओं से भी व्यवहारत: भिन्न थीं, जिनके भ्रष्ट परिणामों से व्यथित हृदय होकर उससे लोग भ्रमवश साहित्य में अश्लीलता एवं समाज में कामुकता के प्रचार का भय कर सकते हैं। केवल साहित्यिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के दृष्टिकोण से किसी को हानिकारक दीख पड़ने से ही, हम उक्त प्रेम-साधना को मीराँनुमोदित उच्च दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार, सहसा दूषित नहीं ठहरा सकते।

काव्यत्व

(5) भावपक्ष की प्रधानता – मीराँबाई हमारे सामने अपने पदों द्वारा कवयित्री से पहले एक भक्तिन के रूप में ही प्रकट होती जान पड़ती हैं। उनका सारा जीवन कतिपय निश्चित एवं अंतर्निविष्ट भावनाओं से पूर्ण रहा और उनकी रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की विशेषताओ की गहरी छाप सर्वत्र पड़ती रही। उनके भाव उनके तल्लीन हृदयस्थल से सदा स्वत:प्रसूत-से निकल पड़ते रहे। उन्हें अपने कलेवर वा बाह्यरूप की कोई अपेक्षा न थी; अतएव मीराँबाई के पदों पर विचार करते समय हमारा ध्यान, सर्वप्रथम, उनके विषय की ओर ही आकृष्ट होता है, उनके रूप-रंग की ओर नहीं। फिर कलापक्ष से कहीं अधिक उनमें भावपक्ष की ही प्रधानता होने पर भी उनके पद हमें काव्य के अनेक लक्षणों से युक्त भी दिखलायी पड़ते हैं।

पूर्वराग

उनके पूर्वानुराग में मधुर आकर्षण, स्नेहासिक्त लगाव, अपूर्व उलझन एवं दृढ़ निश्चय के भाव हैं। उनके हृदय में श्री गिरिधरलाल के प्रति जो मधुर रति है वही, उनके पदों में प्रदर्शित विभाव, अनुभावादि द्वारा क्रमश: पुष्ट होकर मधुर-रस का रूप ग्रहण करती हुई दीख पड़ती है। आलम्बन सर्वत्र वही श्री गिरिधरलाल हैं, जो गिरिधर नागर, नंदनंदन, मदनमोहन, गोविन्द, हरि, कान्हा, रमैया, जोगिया, सइयाँ आदि नामों द्वारा भी सम्बोधित किये गये हैं। वे सौन्दर्य के निधान एवं मूर्तिमान शृंगार हैं। उनके सिर पर चन्द्रकलायुक्त 'मोर मुकुट' शोभा दे रहा है। टेढ़ी पाग भी रखी है, जिससे लटें लटक रही हैं। माथे पर केशर का तिलक है जिसकी दोनों ओर काली-काली टेढ़ी अलकें दिखती हैं। कानों में कुण्डल झलक रहे हैं, जिनकी छाया कपोलों पर पड़ती है। नासिका अति सुन्दर है और दाँतों की 'दुति' दाड़िम के समान है। नेत्र लाल-लाल एवं विशाल हैं और उन पर टेढ़ी भवें विचित्र शोभा दे रही हैं। इसी प्रकार ग्रीवा पर तीन रेखाएँ

NMDC-065

पड़ी हैं। वक्ष-स्थल पर वैजयन्ती की माला है। कटि की करधनी में छोटी-छोटी घूँघरें लगी हैं और पैरों में नूपुर ध्वनि कर रहे हैं। उनकी 'सूरत' साँवली तथा 'मूरत' मोहिनी है और वे पीताम्बर धारण किये हुए गौओं के साथ कालिनी के तीर पर 'डोलते' फिरते हैं अथवा 'कदम' की छहियाँ में खड़े होकर मधुर अधरों पर वंशीवादन करते हैं। उनके उक्त प्रकार से अंग-अंग एवं रोम-रोम द्वारा छलके पड़ते हुए, अनन्त सौन्दर्य अथवा टेड़ी चितवन और 'मंद-मुस्कान' से प्रभावित हो सुप्त आभ्यंतरिक रति मानों उद्दीप्त हो उठती है। अनुभावों के रूप में हम उन पर बलि-बलि जाने वाली, मीराँबाई को सदा 'दरस को भूखी' और प्रियतम के बिना पल भर भी चैन से न रहने वाली पाते हैं। आत्मीयता के आवेश में वे कभी-कभी उस 'निरमोहिया' वा धूतारा जोगी' के प्रति उपालम्भ के भाव व्यक्त करती हुई मिलती हैं, तो अन्यत्र उसके साथ मिलन के उपलक्ष्य में, अपनी चूड़ियाँ फोड़ने, माँग बिखेरने, आँखों के काजल धोने, 'चीर' को फाड़ उसको गले में डालने के लिए कथा बना, 'वैरागिण' होने अथवा 'अगर चंदण की चिता' रचकर उसके 'अपने हाथ' लगायी गयी आग में जलकर 'भस्म की ढेरी' हो जाने तथा ऐसे रूप में भी, उसके अंग लगने के लिए उद्यत हो, उसी से अनुनय-विनय करती हुई दीख पड़ती हैं। ये सभी बातें पूर्वराग से सम्बद्ध हैं।

विरहगर्भित प्रेम

मीराँबाई ने अपने विरह का वर्णन भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इनके पदों में विरह का एक अलग महत्त्व है। वह उक्त पूर्वानुराग में ही किसी-न-किसी प्रकार से दीख पड़ने लगता है।

मीराँबाई का प्रेम, लौकिक रूप में व्यक्त होता हुआ भी, परमात्मा से सम्बद्ध होने के कारण, वास्तव में अलौकिक, अतएव आध्यात्मिक एवं विरह-गर्भित भी था। मीराँबाई को यह बात सिद्धांत रूप से स्वीकृत है कि उनमें और उनके इष्टदेव वा प्रियतम में जीवात्मा और परमात्मा की मौलिक एकता के कारण, कोई वास्तविक अन्तर नहीं। जीवात्मा की ज्योंही अपने पूर्व सम्बन्ध वा उक्त मौलिकता का ज्ञान हो जाता है, त्योंही वह अपने काल्पनिक आवरण रूपी शरीर एवं तत्सम्बन्धी प्राकृतिक परिस्थितियों के असली रहस्य को समझ, उनके प्रति उदासीन हो जाता है। एक बार फिर उस मिलन के लिए आतुर हो उठता है, जिसे निरे अज्ञान के कारण, वह भूल-सा गया था। अपने उस अविनाशी प्रियतम के प्रति प्रदिशत इस प्रकार की 'आर्त्ति' को ही विरहगर्भित प्रेम की संज्ञा दी जाती है। इस प्रेम के रूप को समझाने के लिए प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी ने कहा है–

'प्रेमहिं माँह विरह रस रसा। मैंन के घर मधु अमृत बसा।'

अर्थात जिस प्रकार मोम के घर अथवा मधु-कोष में अमृत रूपी मधु संचित रहा करता है, उसी

NMDC-205

प्रकार प्रेम के अन्तर्गत विरह भी निवास करता है। विरह को सदा सच्चे प्रेम के भीरत निहित समझना चाहिए, क्योंकि प्रेम का अस्तित्व यदि है, तो वह विरह के ही कारण है। विरह ही प्रेम का सार है। इस प्रेम का आधार, जायसी के भी अनुसार, स्वयं परमात्मा एवं सारे ब्रह्माण्ड की एकता में सन्निहित है, जिसको भूल जाने के कारण सारी सृष्टि आरंभ से ही पूर्ण विरही की भांति निरंतर बेचैन बनी डोलती चली आ रही है। अतएव अपनी इस प्रकार की वास्तविक स्थिति का पता लगते ही मनुष्य को पुरानी बातें जैसे स्मरण हो आती हैं। वह आप-से-आप कह उठता है–

"हुता, जो एकहि संग, हौं तुम काहे बीछुरा?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ कछु।।"

अर्थात सदा एक ही संग रहने वालों में, आखिर किस प्रकार वियोग हो गया, जिसमें आज हृदय में भांति-भांति के भाव पैदा हो रहे हैं और अपनी विचित्र स्थिति का हाल कहते नहीं बनता।

NMDC-065

15. तुलसी साहित्य का समाज-दर्शन

सावित्री चन्द्र

भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में दीर्घकालीन अशान्ति और विघटन के पश्चात सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को सन्तुलन एवं शान्ति का युग का कहा जा सकता है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिच्छाया उस युग के महान काव्यकार तुलसी की कृतियों में मिलती है।

सन्त कवि तुलसीदास ने अपनी कृतियों में समकालीन समाज का सप्रयास चित्रण नहीं किया अपितु एक भावुक कवि होने के नाते उनके चरित्राख्यानों में स्वत: तत्कालीन सामाजिक जीवन-मूल्य एवं मान्यताओं का स्वरूप तथा चित्र उपस्थित हो गया है। उक्त काल में प्राय: वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था भारतीय समाज की आधारशिला कही जा सकती है, अत: साहित्य में सत्य में निष्ठा स्थापित करने के लिए उनके काव्य में प्राप्य प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विशिष्ट शब्दावली, अप्रस्तुत विधानों तथा तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन करके हमने अकबरकालीन समाज का चित्रण करने का प्रयास किया है, फलस्वरूप तुलसीकाल में जहाँ एक ओर वर्णाश्रम धर्म भारतीय समाज के मूल में व्याप्त प्रतीत होता है वहाँ साथ ही एक विशाल जनमत उसके विरोध में उद्घोष करता भी दृष्टिगोचर होता है।

बौद्ध-काल से ही भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था का विरोध प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध धर्म के पराभव के पश्चात हमारे आलोच्य काल की छ: - सात शताब्दियों पूर्व से नाथपंथियों, सिद्धों और बहुत-से सन्तों ने भी वर्णाश्रम व्यवस्था का डटकर विरोध किया था।

तुलसी को एक ओर वर्ण-व्यवस्था का पोषक समझा गया है तो दूसरी ओर उनको क्रान्तिकारी कवि कहा गया है यद्यपि उन्होंने वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था को न तो प्राचीन परम्परागत रूढ़िमय अर्थ में ही स्वीकार किया और न ही जाति-भेद के मूलोच्छेदन करने वाले क्रान्तिकारी स्वरूप कर ही मान्यता दी वरन वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था को अपने सम-सामयिक काल की पृष्ठभूमि में परखते हुए उन्होंने उसके परिष्कृत रूप को स्वीकार किया है तथा वर्णाश्रम धर्म के विभाजन का मूल जन्म-भेद को न मानकर गुण-भेद को भी माना है। वर्ण-भेद के परिष्कृत रूप को अंगीकार की ही वह समाज में सन्तुलन व स्थिरता स्थापित करने के आकांक्षी हैं क्योंकि सामाजिक सुरक्षा और सन्तुलन के अभाव में सामान्य जन की भौतिक उन्नति एवं आत्मिक अभ्युत्थान सम्भव नहीं है।

यद्यपि प्राय: सन्त कवि तुलसीदास को ग्रामीण जीवन, मूल्यों एवं प्रकृति का कवि घोषित किया गया है परन्तु प्रस्तुत लेख में तुलसी की काव्यकृतियों में प्राप्त ग्राम, ग्रामीण जीवन, नगर तथा नागरिक

NMDC-095

जीवन एवं मूल्य तथा मानदण्डों के आधार पर उनके अपेक्षाकृत नागरिक जीवन के मूल्यों के प्रति जागरूक होने तथा नागरिक सभ्यता के मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने के प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। जबकि मानस में तुलसी के राम का अधिकतम समय वन-खण्डों तथा ग्रामों में बीता है किन्तु ग्राम, ग्रामीण-व्यवस्था तथा ग्रामीणों के जीवन की अपेक्षाकृत उनका अयोध्या, जनकपुर, लंका, काशी तथा प्रयागराज नगरों व तीर्थ स्थानों का चित्रण ज्यादा सशक्त और ज्ञानवर्धक है। नगरों का चित्रण एक सीमा तक परम्परागत होते हुए भी वहाँ की स्थापत्य कला, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तत्कालीन मुगल साम्राज्य की प्रतिच्छाया छोड़ती है।[1] जबकि उनके वन-खण्डों, चित्रकूट एवं ग्राम्य वधुओं का चित्रण मर्मस्पर्शी होते हुए भी किसी भी काल और देश पर एक समान रूप से लागू हो सकता है। तुलसी ग्रामीण एवं जनजातियों के हृदय की निश्छलता और सहृदयता का वर्णन करते हुए भी उनको गँवार और अज्ञानी कहने में नहीं चूके हैं।

समाज का वर्गीकरण

तुलसी ने समाज का वर्गीकरण प्रमुख दो रूपों में किया है। प्रथम वर्णाश्रम धर्म के अनुसार और द्वितीय मानवीय गुणों के आधार पर।

वर्णाश्रम धर्म के आधार पर तुलसी ने समाज को प्राचीन व्यवस्था के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में विभाजित किया है। तुलसीदास परम्परागत विचारों के अनुकूल ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान देते हुए उनकी वंदना करने की मन्त्रणा स्थान-स्थान पर देते हैं।

बंदौं प्रथम महीसुर चरना,
मोह जनित ससय सब हरना।।

किन्तु साथ ही वेदों द्वारा निर्देशित सदाचार, संयम के मार्ग से च्युत मद, मोह, लोभ के ग्रास बने हुए ब्राह्मण को निम्न और निन्दनीय बताने से भी पीछे नहीं रहते हैं।

सोचिय विप्र जो बेद बिहीना, तजि निज धरमु विषय लयलीना।

× × × ×

विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृषली स्वामी।

उन्होंने क्षत्रियों को तेज, प्रताप, बल और शालीनता से युक्त धर्म और नीति का पालक माना है। मानस में आर्य राजा सत्यकेतु, जनक, दशरथ तथा रामादि क्षत्रिय जाति के प्रतीक है।

धर्म धुरंधर नीति निधाना, तेज प्रताप सील बलवाना।

वह राजा के रूप में राज्य तथा समाज, पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ तथा निर्बलों का विशेष रूप से प्राणों

NMDC-065

के समान पालन करते हैं।

गौ द्विज धनु देव हित कारी, कृपा सिंधु मानुष तनु धारी।

तुलसी ने क्षत्रिय के लिए प्रजावत्सलता और सत्यनिष्ठा को राजधर्म के मूल गुणों के रूप में स्वीकार किया है।[2]

सोचिय नृपति जो नीति न जाना, जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना।

इन्हीं गुणों के अभाव में वैयक्तिक सभी गुणों से सम्पन्न होते हुए भी रावण दुष्ट राजा कहलाया और उसका विनाश हुआ।[3]

तुलसी ने वैश्यों का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख न करते हुए भी अपनी विभिन्न कृतियों में बनिकों, व्यापारियों बजाजों एवं मोदी इत्यादि का तथा उनके द्वारा किए गए वाणिज्य एवं व्यापार का पर्याप्त वर्णन किया है जिससे मुगलकालीन समाज में व्यापरियों एवं वनिकों के महत्व पर प्रकाश पड़ता है।[4] तुलसी ने अयोध्या, लंका एवं जनकपुर में स्थित मन्त्रियों, सेनापतियों, सभासदों और धनिकों-व्यापारियों के विशाल भवनों एवं प्रासादों का चित्ताकर्षक चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीकालीन समाज में धनिकों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था वरन कृपण धनवान तिरस्कार का पात्र होता था।

सोचिय बयसु कृपन धनवान

भारतीय वर्ण-व्यवस्था के चतुर्थ वर्ण के लोग शूद्र कहलाते थे और इन पर अन्य तीनों वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा का भार आश्रित था। इनकी प्राय: दो कोटिया थीं - प्रथम अनिर्वासितों की जिसमें सभी प्रकार के कर्मकार, बढ़ई, कुम्हार, वस्त्रकार, नाई, धोबी, सेवक तथा सेविकाएँ सम्मिलित थे।[5] द्वितीय उन अन्त्यजों अथवा निर्वासितों की — जो प्राय: अछूत समझे जाते थे तथा बस्ती से बाहर अलग स्थानों में रहते थे। तुलसीदास ने इन्हीं में जन-जाति अथवा जंगली या वन्य जातियों के लोगों एवं यवनों को भी सम्मिलित किया है। यद्यपि 'यवन' नगर अथवा बस्ती के बाहर नहीं रहते थे, तुलसी ने उनको इसी श्रेणी में सम्मिलित किया है।

स्वपच सबर खस जबन जड़ पावर कोल किरात।

शूद्रों के लिए अभिजात तीनों वर्णों की सेवा-शुश्रूषा के स्थान पर ब्राह्मणों के समान जनेऊ धारण करने, ऊँचे आसन पर बैठ शास्त्रार्थ करने तथा वेद-पाठ करने की स्थिति पर तुलसी ने खिन्नता प्रकट की है।

NMDC-065

सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना, बैठि बरासन कहहिं पुराना।

× × ×

बादहि सूद्र द्विजन्ह हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाँटि।।

तुलसीदास समकालीन सामाजिक वर्ण शृंखला को टूटते हुए देखकर हार्दिक खेद प्रकट करते हुए शूद्रों के विषय में कहते हैं।

ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं।

तुलसीदास ने शूद्र वर्णों द्वारा ब्राह्मणों की कार्य-विधियों को अपनाने का जो विरोध किया है उसका मुख्य कारण शूद्रों के उनके निम्न या नीच गुणों से – जिनका सविस्तार वर्णन आने वाले पृष्ठों में किया जायेगा – युक्त होना बताया है।

तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के भंग हो जाने पर कलियुग में वर्ण संकर के द्वारा समाज में अव्यवस्था और दुःख, भय, रोगादि के बढ़ जाने का विस्तृत वर्णन किया है।

भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख-भय रुजसोक बियोग।।

वर्ण संकर का अर्थ विभिन्न वर्णों में होने वाले अनुलोम, प्रतिलोम के वैवाहिक सम्बन्धों से ही नही है, वरन् एक वर्ण या जाति का दूसरे वर्ण या जाति के लोगों के कार्यधर्मों में हस्तक्षेप कर उनको अंगीकार करने से है।

प्रभु के बचन वेद बुध-सम्मत, मम मूरत महि देव भई है,
तिनकी मति रिस-राग-मोह, मद लोभ लालची लीलि लई है।
राज समाज कुसाज कोटि, कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति-प्रीति परमिति, पति हेतुबाद हठि हेरि हुई है।

मध्यकालीन फारसी लेखक भी एक वर्ग के लोगों के कार्य-धर्मों में हस्तक्षेप करना निन्दनीय समझते थे।[6] दर्शनीय है कि प्रस्तुत विचारधारा में तुलसी के परम्परागत वर्णाश्रम धर्म-सम्बन्धी विचारधारा और तत्कालीन शासक वर्ग का दृष्टिकोण – एक वर्ग के लोगों का दूसरे वर्ग के लोगों के कार्य-धर्मों में हस्तक्षेप न करने का – में आश्चर्यजनक समता रखता है।

गुणाश्रयी विभाजन

अन्यत्र तुलसी ने समाज का विभाजन मानवीय गुणों के आधार पर किया है। उन्होंने समाज को तीन श्रेणियों - उत्तम, मध्यम एवं अधम में विभक्त किया है। कभी-कभी उसमें चौथी श्रेणी

NMDC-065

दुष्ट या खल की भी जोड़ दी जाती है। यहाँ यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वस्तुत: तुलसी का संवेदनशील एवं भावुक होने का प्रत्यक्ष प्रमाण समाज का चारित्रिक गुणों पर किया गया विभाजन ही है। यह स्पष्ट करना भी अत्यन्त आवश्यक है कि यह विभाजन अभिव्यक्ति की सुगमता के लिए किया गया है। तुलसीदासजी ने स्वयं इस प्रकार का विभाजन, वर्णाश्रम भेद तथा मानवीय गुण-भेद में नहीं किया है।

मानवीय गुणों के आधार पर किए गए समाज के विभक्तीकरण में एक तथ्य प्रमुख रूप से उभरा है। वह समाज में सज्जनों की अपेक्षा खल या दुष्टों की संख्या बहुत अधिक बताते हैं।

उत्तम मध्यम अधम खल दस गुण बढ़त विभाग।

इन तीनों श्रेणियों का आधार जन्मगत अथवा श्रम-विभाजन पर न होकर उनके गुणों, पुरुषार्थ एवं सेवा-भाव पर है। जो मनुष्य केवल बातें बनाने में कुशल हैं, किन्तु कर्मठ नहीं हैं, वे निम्न कोटि के हैं और उनकी तुलना गुलाब के फूल से की गई है। बढ़-बढ़कर बातें रूपी फूल और पुरुषार्थ रूपी फल से युक्त मनुष्य आम के समान मध्यम श्रेणी में आते हैं। उत्तम जन कटहल के फल के समान सेवा तथा पुरुषार्थ में लाभदायक होते हैं।

उत्तम पुरुष

उत्तम पुरुष किसी भी जाति का क्यों न हो उसमें समान गुणों का होना वांछनीय है, जिनमें मुख्यत: तीन प्रकार के – नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक गुणों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। उत्तम दो प्रकार के नैतिक और आध्यात्मिक गुणावलि में विद्यमान परम्परागत गुणों का समावेश है। इनमें वैराग्य, विवेक, विज्ञान, निरभिमान, सत्यनिष्ठा, समता और अनासक्ति मुख्य है।[7] यहाँ यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि तुलसी ने प्राय: जिन आध्यात्मिक और भौतिक गुणों की आवश्यकता सज्जनों तथा सन्त जनों में बताई है वे सभी गुण अच्छे ब्राह्मणों, क्षत्रियों (विशेषकर राजा) तथा वैश्यों मे भी वर्णित किये गये हैं। नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों में दो प्रकार के गुणों – नकारात्मक तथा क्रियात्मक गुणों की व्यवस्था की गई हैं। नकारात्मक गुणों में षट् विकार – काम, क्रोध, लोभ, मद तथा मत्सर के त्याग के साथ-साथ स्थिर बुद्धि, कामना-रहित, अकिंचन (सर्वत्यागी), सत्यनिष्ठ, मिताहारी, कवि, विद्वान् तथा योगी होना है।

षट विकार जिन अनव अकामा, अंचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमितबोध अनीह मित भोगी, सत्यसार कवि कोबिद जोगी।

सामाजिक गुणों में दानवीरता तथा संवदेनशीलता का होना सबसे महत्वपूर्ण समझा जाता है। दया और सहानुभूति के साथ-साथ निरभिमान, अनासक्ति, समता, विवेक विनय के द्वारा ही मानव एक-दूसरे के प्रति निश्छल भाव से सेवा भाव रख सकता है।

NHEC-065

सो विपरीत देखि पर सुख बिन कारज ही जरिए

× × ×

निज अभिमान मोह ईर्षा, बस तिनहि न आदरिए।

इन्हीं गुणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तम पुरुष समदु:खभागी होते हैं तथा स्वयं के कौटुम्बिक स्वार्थों के स्थान पर दूसरों के हितकारी होते हैं। किन्तु नीच पुरुष जवास रूपी ईर्ष्या से युक्त हो वर्षा में भी जलते हैं।

बरषि विस्व हरषित करत, हरत अध प्यास।
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास।।

तुलसी सज्जन पुरुष की तुलना अमृत बरसानेवाले बादल से करते हैं जो स्वयं तृप्त होकर संसार-भर के वृक्षों का समान पोषण करता है किन्तु नीच पुरुष स्वार्थ के वशीभूत हो फलदायक ऊख को सींचता है और रसहीन वृक्षों को उखाड़ फेंकता है –

नीच निरावहिं निरस तरु, तुलसी सीचहिं ऊख।
पोषद पयद समान सब बिस पियूष के रूख।।

तुलसी ने अमरदानी बादल की उस श्रेष्ठ सज्जन से तुलना की है जो दूसरों के सहायतार्थ याचना पर कदापि आलस्य, उद्वेग अथवा झुँझलाहट का अनुभव नहीं करता।

रूचै माँगने हि माँगिबो तुलसी दानिहिं दानु।
आलस, अनख न आचरज, प्रेम पिहानी जानु।।

प्राय: समाज के श्रेष्ठ जनों को कठिनाइयों एवं आपत्तियों से भरा जीवन-यापन करना पड़ता है। किन्तु वह आपत्काल में तो अभावग्रस्त मित्र से सहायता लेना अग्नि में कूदने के समान समझते हैं और धनवान नीच मनुष्य से सहायता माँगना उनके लिए जल में डूबने के समान है।

कृसधन सखहिं न देत दुख, मुयहु न माँगत नीच।
तुलसी सज्जन की रहनि, पावक पानी बीच।।

दूसरे शब्दों में श्रेष्ठ जनों को साधनयुक्त होना वांछनीय है ; तभी वह दूसरों की सहायता कर सकते हैं।

मध्यम पुरुष

तुलसीदास ने द्वितीय श्रेणी अर्थात मध्यम पुरुष का बहुत कम चित्रण किया है। उनकी मित्रता की तुलना बालू पर खींची हुई रेखा के समान है जो वायु के एक झोंके से मिट जाती है जबकि

NMDC-065

श्रेष्ठ जनों की मित्रता पत्थर पर खींची लकीर के समान अमिट तथा निम्न जनों की मित्रता पानी में खींची लकीर के समान क्षण-भगुंर होती है।

उत्तम, मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।

अत: तुलसीदास राज्य और समाज में फैले उपद्रवों, विघटन को रोकने तथा संतुलन स्थापित करने के लिए राजा की आवश्यकता मानते हैं।[5]

गो द्विज धेनु देव हितकारी, कृपा सिंधु मानुष तनधारी।
जन रंजन भंजन खल ब्राता, बेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता।।

यही दृष्टिकोण तुलसी के समकालीन मुगल इतिहासकारों की रचनाओं में प्राप्त होता है। जिनमें वह समाज में दुष्ट जनों और खलों को नियंत्रण में रखने तथा समस्त में शान्ति तथा व्यवस्था को स्थापित करने के हेतु राजा की आवश्यकता पर बल देते हैं।

अधम पुरुष

यह दुर्गुणों से युक्त कपट, छल और विद्वेष से पूर्ण होते हैं। दूसरों को हानि पहुँचाना इनका जन्मजात गुण होता है।

हृदय कपट, बर, बेष धरि, वचन कहें गढ़ि छीलि।
× × ×
सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच।
मरत सिखावन देइ चले गीधराज मारीच।।

तुलसी ने दुष्ट जनों की तुलना साँप से की है – जो अपनी स्वभावगत वक्रता को केवल समय-लाभ पर ही छोड़ता है जैसे टेढ़ा साँप बिल में प्रवेश करने के समय ही सीधा होता है वरना उसकी गति सर्वदा टेढ़ी ही है।

कुटिल जन अपनी कटुता सज्जनों के संसर्ग में रहकर भी नहीं छोड़ सकते। जैसे साँप चन्दन के वृक्ष पर बास करने पर भी विषहीन नहीं होता।

ये अधम जिससे सम्मान और सहयोग पाकर उच्च पदवी को प्राप्त करते हैं सबसे पहले उसी अपने हितैषी का नाश करते हैं, यथा –

जेहि ते नीच बड़हि पावा, सो प्रथमहि हति ताहि नसावा।
धूम अनल संभव सुनु भाई, तेहि बुझाव घन पदवी पाई।
रज मग परी निरादर रहई, सब कर पद प्रहार नित सहई।

NMDC-065

द्रष्टव्य है कि अग्नि से उत्पन्न धुआँ बादल बन सबसे पहले अपनी जननी अग्नि को ही नष्ट करता है और पैरों में रौदी हुई धूलि को वायु द्वारा प्राप्त कर सर्वप्रथम हितैषी को विषाक्त कर राजा के मुकुट को और नेत्रों पर आच्छादित हो जाती है।

नीच लोग शक्ति और धन-संचय कर समाज के लिए घातक सिद्ध होते हैं जैसे क्षुद्र नदी में पानी भरने से वह बाँध तोड़कर आस-पास के क्षेत्र का विध्वंस करती है।

छुद्र नदी मरि चली तोराई, जस थोरेहु धन खल इतराई।

अतः तुलसी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दुष्ट जनों को सदैव नियन्त्रण में रखना समीचीन है।[9] समय-समय पर समाज द्वारा निन्दनीय एवं निरादर के पात्र बनकर वह अपनी सहीं वस्तुस्थिति में रहते हैं। अन्यथा अनेक उपद्रवों से समाज में त्राहि-त्राहि मचाते हैं। जैसे केला काटने से बढ़ता है, नीच डाँटने से झुकता है।

काटेहिं पइ कदली फरइ कोटि जतन कैउ सींचं।
विनय न मानं खगेस सुनु डाँटेहिं पै नव नीच।।

इनकी तुलना आकाश में उड़ने वाली पतंग से भी की जा सकती है जो ढील देने से पृथ्वी पर गिरती है और खींचने पर आकाश में चढ़ जाती है।

नीच गुंडी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढीलि दिये गिरि परत महि, खैचत चढ़त अकास।।

दुष्ट या नीच लोगों का उपकार नहीं करना चाहिए और न ही उनकी निन्दा पर ध्यान देना चाहिए वरन उनकी प्रशंसा से सतर्क हो सोचना चाहिए कि उसमें उनका क्या स्वार्थ छिपा है। कपटी को पहचानना, अत्यन्त कठिन कार्य है और उससे सदा डरना चाहिए क्योंकि वह दुष्टता का स्वरूप है। इसीलिए दुष्टों का संसर्ग या मित्रता त्याज्य है।

हँसनि मिलनि बोलनि मधुर, कटु करतब मन माँह।
छुवन जो सकुचई सुमति सो, तुलसी तिन्हकी छाँह।।

अन्त में तुलसी नीच और दुष्ट लोगों का जीवन में असफल होने की आशामयी उक्ति राम द्वारा रावण के सिर काट देने के रूप में देते हुए कहते हैं कि दुष्ट जनों का अन्त पराजय में होता है और वह कभी सुख नही पाते हैं।

बचन विचार अचार तन, मन, करतब छल छूति।
तुलसी क्यों सुख पाइए, अंतजीमिहि धूति।।

NMDC-065

यह तथ्य विचारणीय है कि तुलसीदास ने 'नीच' शब्द को शूद्रों, दुष्ट खल दोनों कोटियों के प्राणियों के संदर्भ में समान रूप से प्रयोग किया है। इससे तत्कालीन समाज में उच्च वर्ग के व्यक्तियों का निम्न वर्ग के लोगों के प्रति दृष्टिकोण की ओर संकेत होता है।

सन्त और समाज

भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने सन्तों को वर्ण-भेद व जाति-भेद से मुक्त रखता है, वस्तुत: उनका मानवतावाद उनके द्वारा सन्तों के प्रति किए गए उद्‌गारों से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। तुलसीदास सन्तों, साधुओं व सज्जनों को राजा के समान ही देश व समाज के सन्तुलन उत्पन्न करने वाला मानते हैं। तुलसी ने सन्तों की नैतिक व सामाजिक गुणावलि[10] तथा उनसे समाज में फैलाए हुए सद्‌भावों का सविस्तार वर्णन अनेक रचनाओं में किया है। उनको जाति-भेदभाव से स्वतन्त्र बताते हुए मुक्तकण्ठ से सन्तों की जाति व धर्म एकमात्र भगवत भक्ति हो कहा है। सन्त भक्त के लिए जातिवाद के बन्धन समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने स्वपच (अछूत) भक्त को उसे कुलीन ब्राह्मण से श्रेष्ठ घेषित किया है जो राम-नाम नहीं जपता।

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम।।
जदपि साधु सबही बिधि हीना, तद्यपि समता के न कुलीना।

तुलसीदास ने निम्न जाति के लोगों को निश्छल और सरल हृदय माना है। इसीलिए निषादराज राम के समक्ष अपने को निम्नजन्मा होने के साथ चोर ओर कुटिल होना भी स्वीकार करते हैं। इससे निषादराज का सरल, निश्छल उच्च चरित्र सम्मुख आता है। तुलसी उच्च स्वर में अपने जातिविहीन होने का उद्‌घोष करते हुए कहते हैं।

मेरे जाति पाँति, न चहौ काहू की जाति पाँति

× × ×

साथ ही तुलसी कलियुग वर्णन में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तरी भारत में प्रचलित अनेक पंथों के वेशधारी साधुओं एवं पाखण्डी सन्तों की कटु आलोचना कर निरीह जनता को उनके चंगुल से बचने की चेतावनी देते हैं।

सन्त तुलसी विभिन्न सम्प्रदायों – विशेषकर गोरखपंथी योगियों, सिद्धों, शाक्तमत अनुयायियों वामपंथियों जैन साधुओं और बौद्ध पंथियों तथा झूठे कर्मकाण्डी साधुओं के घोर विरोधी तुलसीदास ने बाह्याडम्बर से युक्त वेशधारी कलियुगी साधुओं और सन्तों को प्राय: निम्नजन्मा बताया है।

NMDC-05

कलिकाल के झूठे सन्त मिथ्याभिमान में रत वेदोक्त मार्ग – वर्णाश्रम व्यवस्था, वेदपाठ स्वाध्याय आदि का सर्वथा त्याग कर आचरणविहीन हो गए हैं।

मिथ्यारम्भ दम्भरत जोई, ता कहुँ सन्त कइह सब कोई।
धरम बरन आस्र मनि के पैयत पोथिही पुरान।
× × ×
करतब बिनु बेष देखिए, ज्यों सरीर बिनु प्राण।।

कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि सकल सराहैं निज निज आंचरनि।।

तुलसीदास ने विभिन्न सम्प्रदायों विशेषकर बौद्धों तथा जैनियों का विरोध उनके साम्प्रदायिक मतभेद होने के कारण नहीं वरन समाज में संतुलन उत्पन्न करने वाले, वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था में आस्था न रखने के कारण किया है। व्यापक अर्थ में तुलसीदास ने वैदिक धर्म को वर्णाश्रम धर्म का आधार माना है। इसी प्रकार वर्ण-भेद के घोर विरोधी नाथपंथियों, सिद्धों, वामपंथियों की भी तुलसी ने कटु आलोचना की है। झूठे ब्राह्याचार एवं कर्मकाण्ड का सहारा लेकर समाज में अन्धविश्वास फैलाने वालों को भी निन्दनीय कहा है। यद्यपि तुलसी ने यवनों को शूद्रों की कोटि में रखा है किन्तु वह अपनी कृतियों में मुसलमानों व इस्लाम धर्म की आलोचना से अलग रहे हैं। सम्भवत: यह तुलसी ने मुसलमानों के एकेश्वरवाद और ईश्वरादिष्ट धार्मिक ग्रन्थ (कुरान) में विश्वास रखने तथा मुसलमान शासक वर्ग द्वारा समाज में सन्तुलन स्थापित करने के सिद्धान्त को मानने के कारण किया है।[18]

तुलसीदास के विभिन्न धर्मावलम्बियों के प्रति उदार दृष्टिकोण का ज्ञान उनकी उस उक्ति से होता है जब वह (जाति, वर्ण, धर्म-भेदभाव को त्याग) किसी से भी माँग कर खाने तथा मस्जिद में सो जाने का उल्लेख करते हैं।

मंगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लेवे को एक न दैबे को दोऊ।।

यही सन्त-शिरोमाणि तुलसी का वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था को विशृंखलित होने तथा समाज को व्यवस्था और अस्थिरता से बचाने का प्रयास है। तुलसीदास श्रेष्ठ राजा[19] तथा सन्त को समान रूप से वर्णाश्रम धर्म की रक्षा कर समाज में सुव्यवस्था सन्तुलन एवं शन्ति का व्यवस्थापक मानते हैं।

नगर तथा नागरिक, ग्राम व ग्रामीण जीवन

महाकवि तुलसीदास का साहित्य तत्कालीन सभ्यता के द्योतक विशाल नगरों और पुरों और वहाँ

NMDC-065

के लघु उद्योगों, दस्तकारी, वास्तुकला और स्थापत्यकला पर सम्यक् प्रकाश डालता है। साथ ही उन्होंने ग्राम तथा खेड़ों और ग्रामीण जीवन के विषय में स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ की हैं।

तुलसी ने नगरों में अयोध्या[20] जनकपुर[21] तथा लंका[22] जैसे विशाल समृद्धिशाली राजनगरों का जहाँ एक ओर परम्परागत वर्णन किया है, वहाँ साथ ही उनकी वास्तुकला एवं नगर-निवेश में मुगलकालीन राजधानी तथा अन्य समकालीन नगरों की प्रतिच्छाया दृष्टिगत होती है। तुलसी द्वारा वर्णित काशी (जिसको उन्होंने 'शंकर सहर' की उपाधि दी है) तत्कालीन तीर्थराज काशी का रेखाचित्र प्रतीत होता है।

नगर और ग्राम का विभाजन

तुलसी ने अपनी कृतियों में विशेषत: तीन कोटि की बस्तियों – नगर, पुर और ग्राम – का वर्णन किया है। कभी-कभी चतुर्थ कोटि – खेड – का प्रसंग भी आ जाता है। जो वस्तुत: ग्राम के लघु स्वरूप का ही नाम है –

श्रोता त्रिविध समाज, पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
× × ×
वन प्रदेश मुनि बास घनेरे, जनु पुर नगर गाउं गन खेरे।

तुलसी ने नगर और पुर को प्राय: समानार्थ में प्रयुक्त किया है जहाँ सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ तत्कालीन नगरों में अनेक शिल्प-कलाओं की उन्नति हुई। दूसरे ओर ग्राम तथा खेड़े जन-जीवन और कृषि के केन्द्र-स्थल थे, और स्थानीय आवश्यकताओं के लिए वहां भी अनेक प्रकार के लघु उद्योग चलते थे। इनका वर्णन प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में तुलसी की कृतियों से प्राप्त होता है। तुलसी ने ग्रामों की रचना, उनके महत्व व कार्य विधियों पर विशेष प्रकाश न डालने पर भी भारत में गाँवों की बहुसंख्या तथा वहाँ के लोगों के सरल सौहार्दपूर्ण चरित्र तथा गाँवों व खेड़ों के सम्बन्धों पर टिप्पणी की है।

गाँवों से तुलसी का तात्पर्य उन सभी लघु बस्तियों से है जो नगरों के बाहर, नदियों, पोखरों के समीप तथा अन्य वन-प्रदेशों के मध्य बसे हैं।[23] ग्राम्य जनों में भी तुलसी सरल – हृदय किसानों के साथ-साथ जन-जातियों - कोल, किरात, भील आदि को सम्मिलित करते हैं। गाँव और खेड़े के स्वरूप और कार्यविधियों में समता होते हुए भी खेड़ा गाँव की तुलना में बहुत छोटा होता है। सम्भवत: वह आठ-दस झोंपिड़यों का एक लघु गाँव है, जिसे खेतों के कारण अथवा अन्य किसी जाति-भेद के कारण गाँव से बाहर बसा दिया जाता है। कुछ अर्वाचीन समाजशास्त्रियों के मत में खेड़ा प्राय: हरिजनों की बस्ती होती है। इसके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के ग्रामीण अंचलों में ग्रामों के नाम के साथ 'खेड़ा' या खेरा जोड़ दिया जाता है।[25]

NMPC-065

यद्यपि महाकवि तुलसीदास ने अयोध्या, जनकपुर, लंका तथा काशी का वर्णन अर्वाचीन नगर-निवेश की दृष्टि से न करके, प्राचीन काव्य-परिपाटी के अनुसार ही किया है किन्तु उसमें स्थान-स्थान पर अनायास रूप से मुगलकालीन स्थापत्य-कला का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ अयोध्या तथा जनकपुर में वन, उपवन, तालाब, कुओं, बावलियों, फलों के बागों, तालाबों में बनी सीढ़ियों तथा पुर के बाहर नदी व तड़ागों का चित्रण काव्य-परिपाटी के अनुसार हुआ है।[26]; जिसका अनुकरण उत्तरमध्यकालीन काल में भी किया गया था। मुगलों का भी प्राचीन भारतीयों के समान वन-उपवनों को गुंजायमान करने वाले तोतों-मैनों के प्रति अनन्त मोह प्रसिद्ध है। लंका-चित्रण में नगर से बाहर की खाई व परकोटे का चित्रण प्राचीन होते हुए भी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नगरों व किलों के चारों ओर खाई [27] व परकोटा बनाने की परिपाटी-जैसा प्रतीत होता है। नगर के परकोटे, राज्य, उसके अन्दर अनेक द्वारों, मार्गों, चौराहों, वीथियों, उनसे लगे मकानों, उनमें बने चौबारों, झरोखों, राजप्रसादों के विविध प्रकोष्ठों तथा उनमें हुई विविध चित्रकारी वहाँ की स्थापत्य-कला, वास्तु-काल का उल्लेख किया है, जिसमें मुगलकालीन राज-महलों तथा वैभवशाली प्रासादों की धुँधली झलक दिखाई देती है।

अयोध्या और लंका दोनों के बाहर परकोटा बना है जिसमें कंगूरे बने हैं

पुर चहुँ पास कोट इहज सुंदर। रचे कँगूरा रंगरग बर।।

रंग-बिरंगे कँगूरों से युक्त परकोटा मुगलकालीन भारत की स्थापत्य-कला की विशेष देन है। लंका के परकोटे पर अनेक द्वार हैं जिन पर कड़ा नियन्त्रण रहता है। अनेक पहरेदार घूम-घूमकर महल तथा नगर की शत्रुओं एवं चोरों से रखा करते हैं।

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।

रनिवास, रंगमहल, चित्रशालाओं, विशाल आँगनों चबूतरों एवं उद्यानों का चित्रण मुगलकालीन नगरों से मिलती है। इसी प्रकार राजद्वारों के अन्दर अनेक जानवरों - हाथी, ऊँट, घोड़ों की शालाएँ बनी हैं।

बनी बिसाल बाजि गजसाला, हय गय रथसंकुल सब काला।

तुलसीदास ने अनेक राजमहलों की दीवारों और खम्भों पर बने, माणिक्य [28] पन्ना, फिरोजा [29] के बेल-बूटों की पच्चीकारी का वर्णन किया है। 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए तुलसी ने अयोध्या के महलों के खम्भों, दीवारों एवं फर्शों पर गच के काम

NMDC-065

का उल्लेख किया है –

महि बहु रंग रचित गच काँचा।
× × ×
महि गच काँच सुठार।

तुलसी द्वारा 'गच' के कार्य का उल्लेख ऐतिहासिक महत्व रखता है क्योंकि अकबरकालीन फारसी-ग्रन्थों में उसका दृष्टान्त प्राप्त नहीं है।

तुलसी ने मानस में, अयोध्या में चित्रशाला के होने तथा उसमें राम-जीवन सम्बन्धी अनेक चित्रों के चित्रित होने का प्रसंग दिया है -

चारु चित्र शाला गृह गृह प्रीति लिखे बनाइ।
राम चरिता निरस मुनि वे मन लेहि चोराई।।

किन्तु महलों में भित्ति-चित्रों के स्वरूप का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया है। 'गीतावली' में एक सखी दूसरी से अपने हृदय-रूपी भीति पर सुप्रीति के रंगों से राम की मूर्ति को अवरेखित करने का उल्लेख करती है –

चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु।
शून्य भीति पर चित्र, रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।

इसी प्रकार विनयपत्रिका में तुलसी ने शून्य भीति पर निराकार चित्रकार द्वारा बिना रंगोंवाले संसार के चित्र बनाने का प्रसिद्ध पद कहा है।

तुलसीदास ने राजमहलों में लगे ब्रज के समाज दरवाजों, मूँगे की पौरियों तथा उन पर झूलते पदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है –

भ्राजहि देहरी बिद्रुम रचीं।
× × ×
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु वज्रन्हि खचे।

तुलसी द्वारा अयोध्या तथा लंका के महल के दरवाजों पर परदों का उल्लेख उन इतिहासकारों के मत का खण्डन करता है जो मुगलकालीन भारत में महलों के अन्त:पुर के दरवाजों का न होना और इनकें स्थान पर केवल पदों के प्रयोग की बात करते हैं।[30]

महलों के अन्त:पुर में विशाल आँगन और बाहर चबूतरों का वर्णन है। वहाँ उनमें किया गया

NMDC-065

संगमरमर तथा गच का काम स्फटिक शिला के समान है। उनके ऊपर हिंडोले मुगलकालीन स्थापत्य-कला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं –

गृह गृह रचे हिंडोलना, महि गच काँच सुढार।
चित्र बिचित्र चहुँ दिसि, परदा फटिक पगार।।
सरल बिसाल विराजहीं, बिद्रुम-खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटि पुरट की, झरकत मरकत भौर।।

खास महलों [33] अर्थात राजमहलों में अनेक प्रकोष्ठों, रंगमहल, चित्रशाला तथा वाटिका आदि का चित्रण परम्परगत राजमहलों के चित्रण के साथ-साथ मुगल बादशाहों के राजमहलों का चित्रण प्रस्तुत करता भासित होता है –

कौन ईस किये कीस भालु खास-माहली।

रंगमहल का उल्लेख लंका में पर्वत पर स्थित महल के उस विशेष भाव से है जहाँ एक अखाड़ा-सा बना है तथा उसमें अनेक नर्तकियाँ नृत्य करती है।[32]

रनिवास महल के अन्त:पुर या जनानखाने को कहते हैं। महल के इस भाग में सभी स्त्रियाँ पटरानी व रानियाँ, राजमाता और अन्य सम्बन्धी स्त्रियाँ एवं दासियाँ आदि रहती हैं।

वहाँ पर पर-पुरुषों का आना निषिद्ध था। मुगल बादशाहों के महलों में रनिवास का विधिवत विवरण ऐतिहासिक मूल पुस्तकों से प्राप्त होता है।[32] गीतावली में पुत्र-जनम की सूचना पाकर जातकर्म सम्पन्न करने के लिए राजा दशरथ रनिवास में जाते हैं।[34]

राज-प्रासादों के अतिरिक्त मुख्य नागरिकों एवं सभासदों – मन्त्रियों, सेनापतियों – के मकान (मन्दिर) कई मंजिले होते थे। इसीलिए राजदर्शन अथवा विविध झाँकियों के दर्शन प्राय: स्त्रियाँ झरोखों पर चढ़कर करती थीं।[35] ये विशाल भवन नगर के बाजारों (हाटों), रास्तों, गलियों चौराहों पर स्थित हैं।[36] इन गलियों, मार्गों एवं चौराहों पर विशेष अवसरों पर सुगंधित द्रव्यों से सिंचाई होती थी[37] तथा उनको अनेक पटोलों (रेशमी वस्त्रों), पताकाओं एवं चन्दनवारों से सजाया जाता था।[38] सभी घरों के आँगनों, अट्टालिकाओं पर चामर, पताका व वितान ताने जाते थे तथा उन्हें अनेक कलशों से सुसज्जित किया जाता था। विविध चित्ताकर्षक चित्रों से अंकित घर की दीवारें तथा आँगन स्वयं कामदेव द्वारा चित्रित अनुकृतियाँ लगती हैं।

बाजार, वाणिज्य और व्यापार

अयोध्या और लंका नगरों में जहां एक ओर बड़े-छोटे आवास स्थित हैं, साथ ही चौड़ी गलियों एवं मार्गों में बाजार भी लगे हैं जहाँ व्यापार[42] और वाणिज्य बड़े पैमाने पर होता है। तुलसी

NMDC-065

ने अपनी कृतियों में मुख्यत: दो-तीन प्रकार के व्यापारियों या बनिकों का उल्लेख किया है। प्रथम शहरों, पुरों आदि में रुपये-पैसे का लेन-देन करने वाले बड़े धनिकों या श्रेष्ठियों आदि का विवरण है जिनको वह प्राय: सर्राफ के नाम से सम्बोधित करते हैं।

बैठे बजाज सराफ धनिक अनेक मनहु कुबेर ते।

कुबेर के समान धनवान सर्राफों, धनिकों, साहूकारों का काम रुपये का लेन-देन था। ऋण लिए हुए धन पर ब्याज वाणिज्य का एक आवश्यक अंग है -

सो जनु हमरेहिं माथे काढ़ा, दिन चलि गए ब्याज बहु बाढ़ा।

किन्तु तुलसी उन लालची धनिकों से ऋणी को सचेत करते कहते हैं कि कुब्याज मूलधन पर ब्याज लगने से सदा बचना चाहिए, क्योंकि वह सर्वदा दु:ख का कारण होता है।[42] ऋण लेते समय ऋणी दस्तावेज लिख देता था और उसी के आधार पर साहूकार उससे अपना धन वसूलता था। राम हनुमान को अपना साहूकार स्वीकार कर ऋण चुकाने में असमर्थता प्रकट करते हुए पत्र लिखकर देने की बात करते हैं।

कपि सेवाबस भए कनोड़े कह्यो पवनसुत आउ।
देवे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ।।

द्वितीयत: उन बनिकों या व्यापारियों की श्रेणी है जो स्वयं विविध वस्तुओं के क्रय-विक्रय में लगे देश की आर्थिक दशा को उन्नतिशील बनाती है। तुलसी उन (वणिकों) में मुख्यत: बजाज [43] तथा मोदी का उल्लेख करते हैं। वणिक किसी भी वस्तु के क्रय-विक्रय करने वाले की संज्ञा है।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यापार तथा वणिज्य में संलग्न विभिन्न वर्गों के विषय में तुलसी के समकालीन दादूदयाल ने साहूकार या साह को थोक वस्तुओं के बड़े व्यापारी के रूप में चित्रित किया है —

साह पठाया, बनिजन आया, जनि डहकावे रे।
झूठ न भावे, फेरि पठावे, किया पावे रे।।

साहूकार वाणिक को सौदा करने के लिए दूसरे नगरों में भेजता है तथा हानि के भय से उसको सच्च (खरा) सौदा करने की मन्त्रणा देता है, जबकि वणिक अपनी दुकान के दरवाजे खोलकर सौदा बेचता है।[44]

तृतीय प्रकार के वाणिक जल तथा स्थलीय व्यापार करने वाले हैं जिसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कतिपय उदाहरण तुलसीदास तथा उनके समकालीन संत, सूर तथा दादू की कृतियों में प्राप्त होते हैं।

NMDC-065

तुलसी की समस्त कृतियों में अगणित बड़ी तथा छोटी नावों और जहाजों के उदाहरण प्राप्त होते हैं –

गा चह पार जतनु हियँ हेरा, पावति नाव न बोहितु बेरा।।

गुदारा, नाव जहाज और बेडे पर बैठकर समुद्र तथा बड़ी नदियाँ पार की जाती थीं। इसके अतिरिक्त इनमें व्यापार भी होता था जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण तुलसी की रचनाओं में प्राप्त है –

मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू, भयउ बिकल बड बनिक समाज।

तुलसी की रचनाओं में अनेक जहाजों का उल्लेख तत्कालीन भारत में होने वाली बढ़ती हुई जहाजरानी की ओर संकेत करता है। उनके समकालीन संत कवि सूर की रचनाओं में घोड़े या बैल पर व्यापारियों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान लाने-ले जाने के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं।[45]

सूरदास, तुलसीदास तथा दादूदयाल तीनों ही व्यापारी के लिए मार्ग में कई अनेक कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए बटमारों के फन्दे में पड़ लुट जाने का वर्णन करते है :

'घाट बाट कहुँ अटक होइ नहिं, सब कोउ देहिं निबाहि।' सूर 310

× × ×

'कह तुलसिदास सुनु रामा, लूटहि संकर तब धामा।'

'भाव भक्ति को भंग कर, बट पारे मारहिं बाट।'

दादू एक स्थान से दूसरे स्थान को जानेवाले मार्ग में स्थित कारवाँ, सराय तथा मुसाफिरखाने आदि का भी उल्लेख करते हैं।[46] सराय को देखते ही पथिक (व्यापारी भी) उसमें विश्राम करने जाता है किन्तु दिन निकलते ही उसे छोड़ यात्रा को चल देता है।[47]

महाकवि तुलसी ने एक दूसरी कोटि के नगरों का भी वर्णन अपनी कृतियों में किया है। ये स्थान मुख्यत: महाभव्य तीर्थ-स्थान हैं, जिनमें प्रयाग तथा काशी का वर्णन मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि तुलसी के समकालीन सूर तथा दादू ने अपनी रचनाओं में तीर्थ-स्थानों का उल्लेख धर्म-चर्चा के प्रसंग में किया है, तुलसी ने कवितावली में प्रयाग की तीर्थराज [48] तथा काशी को 'शंकर सहर'[46] के रूप में वर्णन किया है। ये शहर अपने विशाल आकार-प्रकार तथा समृद्धि में अद्वितीय तथा विशेष महत्त्व रखते थे। धार्मिक महत्त्व होने के कारण बड़े-बड़े आवासों के साथ-साथ अगणित मन्दिरों [50] से युक्त होना इनकी विशेषता थी –

NMDC-065

काशी-वर्णन

तुलसीदास वेदों तथा विश्व में विख्यात प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान 'काशी' को पाँच कोस की परिधि मे बसा ऐहिक ऐश्वर्य और परमार्थ को देने वाला अलौकिक नगर कहते हैं। इसका दूसरा नाम वाराणसी है तथा अगिणत मन्दिरों – विशेषकर शिवालयों – से युक्त होने के कारण इसको 'शंकर सहर' के नाम से पुकारा जाता है –

संकर से नर, गिरिजा सी नारीं कासी बासी,
पंच कोस पुन्यकोस स्वारथ परमारथ को।
बीसीं विस्वनाथ की विषाद बड़ो बरानसीं
बूझिये न ऐसी गति संकर-सहर कीं।

काशी की महानगरी में केवल देव-स्थान ही नहीं, वरन् राजाराव, ठाकुरों के साथ-साथ समाज के तीनों वर्ग – धनिक, मध्यवर्ग व निर्धन – भी वास करते हैं। ठाकुर अथवा राजा या राय के समान सब न्यायाधीश तथा कोतवाली के साथ-साथ बड़ी सेना तथा उनके सेनापतियों के निवास स्थान भी काशी में हैं। इससे नगर की महत्ता तथा वैभव द्विगुणित हो जाता है–

ऊँचे, नीचे, बीच के, धनिक, रंक राजा राय
× × ×
ठाकुर महेस, ठकुराइनि उमा सी जहाँ
× × ×
कालनाथ कोतवाल, दडकारि दंडपानि
सभासद गनप से अमित अनूप हैं

रोष महामारी परितोष महतारी दुनी
देखिए दुखारी,मुत्ति मासन मरालिके।

तुलसी ने काशी में पड़े अकाल तथा महामारी का हृदय-विदारक चित्र खींचा है। महामारी के कारण विधि के निजी हाथों से रची महानगरी नष्ट-भ्रष्ट हो बेहाल हो गई है।

काशी में सम्भवत: दीर्घकाल से त्रस्त जनता में महामारी का रोग फैलने के कारण वहाँ के नर-नारियों का वर्णन जल में व्याकुल चलचेरा का माजा रूपी रोग लग जाने पर महानाश की स्थिति से किया है।[51]

ग्राम तथा ग्रामीण जीवन का चित्रण

तुलसी नगर और नागरिक जीवन को मूल मानकर चलते हैं किन्तु ग्राम, ग्रामीण तथा कृषि जीवन

NMDC-065

पर भी सम्यक प्रकाश डालते हैं।

संत तुलसीदास ने कृषिप्रधान भारतवर्ष में अनेक गाँवों तथा उनमें लहलहाते खेतों की रमणीयता का पूर्ण वर्णन किया है–

दाहिन काग सुखेत सुहावा।

× × ×

ससि संपन्न सोह महि कैसी, उपकारी के संपति जैसी।

ग्राम तथा ग्रामीण जीवन के चित्रण में प्रयुक्त अनेक उपमाओं, शब्दों एवं उद्धरणों से यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि कृषि भारतीय जन-जीवन का मुख्य व्यवसाय और जीविका का साधन है–

खेती, बनि, विद्या, बनिज, सेवा सिलिप सुकाज।
तुलसी सुरतरु सरिस सब, सुफल राम के राज।।

कृषि-व्यवस्था

तुलसी ने भारतीय कृषि की सफलता को वर्षा पर आधारित बताया है। वर्षा के समय पर न आने से सारे खेत सूख जाते थे। इसीलिए तुलसी ने कहा है–

का बरषा जब कृषी सुखाने।

उन्होंने वर्षा के अभाव में तत्कालीन भारत में पड़े भीषण अकालों का विविध प्रकार से वर्णन किया है।[52] अकबर के समय में सिंचाई की व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया था और तालाबों में पानी जमा कर खेतों में क्यारियाँ तथा नालियाँ बना सिंचाई की जाती थी–

बुध किसान सर बेद-निज मते खेत सब सींच।

अतिवृष्टि से क्यारियाँ टूट जाती थीं तथा कृषि की पैदावार को नुकसान पहुँचता था–

महावृष्टि चलि फूटि कियारी।

अतिवृष्टि से धान के लहलहाते खेतों के विनष्ट होनें की बात कही गई है–

ईति भीति जस पाकत साली।

तुलसी ने साधारण रूप से खेतों के तीन प्रकार उत्तम, मध्यम और निम्न होने पर टिप्पणी मात्र की है–

NMDC-025

तुलसी कृषि लखि जानि वो उत्तम, मध्यम, नीच।

किसी भी खेत का मूल्यांकन उत्तम, मध्यम तथा नीच या निम्न का होना उसकी पैदावार को दृष्टि में रखकर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार कर लेने के सन्दर्भ में भी तुलसी ने खेती तथा बगीचों के तीन भाग किये हैं।

तुलसी ने उत्तम, मध्यम और निम्न खेतों के स्वरूप तथा उन पर लगे विभिन्नों लगानों से सम्बद्ध व्यवस्था पर विचार करते हुए तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतों में भूमि के तीन भाग उत्तम, मध्यम, नीच का सम्यक वर्णन है।[53]

तुलसी ने तत्कालीन कृषि पर लगान के स्वरूप तथा उसकी विधि व उसके दुष्परिणामों का विशेष उल्लेख न करते हुए खाद्यान्नों एवं बागों पर उनकी फसल के अनुरूप लगाये गए करों के विषय में कुछ प्रकाश डाला है–

सुधा सुनाज, कुनाज फल, आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजा हित लेहि कर, सामादिक अनुमानि।।

तुलसी ने उपर्युक्त दोहे में श्रेष्ठ राजा (जो जमींदार भी हो सकता है) के दो विशेष गुणों पर बल दिया है। प्रथम उसको 'कर' पेय पदार्थों (घी, दूध, शहद आदि) के साथ श्रेष्ठ (धानादि अनाज), कुनाज (मोटे बाजरा, चना आदि) तथा बाग-बगीचों पर 'साम' शन्तिपूर्वक न्यायपूर्ण नीति से वसूल करना चाहिए।

तुलसी द्वारा 'कर'-प्राप्ति की सामाजिक नीति का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि उनके काल में राज-कर्मचारियों द्वारा किसानों पर अत्याचार किए जाते होंगे। उपर्युक्त कथन की पुष्टि कलियुग-वर्णन में स्पष्ट रूप से होती है–

बलि सिस देखे देवता, कर मिस मानस देव।

सम्भवत: इन्हीं 'करो' या लगानों के बहाने किसानों का शोषण करने वाले जमीदारों या चौधारियों को तुलसी ने 'भूमि-चोर भूप' की उपाधि दी है –

वेद-धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए।

मध्यकालीन भारत में शेरशाह तथा मुगलों द्वारा भूमि-सुधारों में खेती की चकबन्दी की प्रथा का उल्लेख समसामयिक ऐतिहासिक पुस्तकों एवं स्रोतों में हुआ है। खेतों की चकबन्दी उनकी जमाबन्दी करके मालगुजारी वसूल की जाती थी। समकालीन कृषि-व्यवस्था के विषय में मौन रहने पर भी तुलसी ने खेतों में होने वाली चकबन्दी का उल्लेख किया है[54] –

NMDC-065

सकेलि चाकि राखी रासि जाँगर जहान भी।

तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'पाही' खेती का प्रसंग मुगल-कालीन कृषि-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डालता है।

तुलसी के शब्दों में –

पाही खेती, लगन बट, ऋन कुब्याज मग खेत।
बैर बड़े सों आपने, किये पाँच दुख-हेत।।

पाही-किसान को पाही-काश्त भी कहा गया है। यह खुदकाश्त के विपरीत दूसरे स्थान से खेती करने के लिए आया किसान है। उसको खुदकाश्त के समा ग्राम-पंचायत के सदस्य बनने अथवा उसमें बोलने का अधिकार नहीं होता था। किन्तु कुछ वर्षों तक किसी गांव में जा पाही-काश्त की स्थिति में रहने के उपरान्त उसे खुदकाश्त के अधिकार मिल सकते थे।[55]

इन अभावग्रस्त किसानों में प्राय: असन्तोष की चिनगारी सुलभ होगी, जिससे कभी-कभी ये मवास का रूप धारण कर विद्रोहियों का रूप धारण करते होंगे। इसीलिए तुलसी ने कलियुग द्वारा देवालयों, तीर्थस्थानों, पुरियों में मवास या किलेबन्दी करके रहने का उद्धरण प्रस्तुत किया है–

मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज।[56]

यदि किसी गाँव के जमींदार या राजकर्मचारी कृषक पर लगान के रूप में अधिक अत्याचार करते थे, तो वह उसके गाँव को छोड़कर दूसरे की जमींदारी अथवा खेती में काम करने चले जाते थे। किन्तु इस स्थानान्तरण में उन्हें भूमि-सम्बन्धी अधिकारों से वंचित होकर पाही-किसान की स्थिति में रहना पड़ता था। कभी-कभी नई भूमि (बंजर भूमि) को कृषि-योग्य बनाने के लिए गाँव बसाये जाते थे। उस स्थिति में जमींदार अथवा मुकद्दम कुछ राज कर्मचारियों की नियुक्ति उक्त कार्य के लिए करता था। इन लोगों का मुख्य कार्य आसपास के स्थानों से भूमिहीन अथवा असन्तोषी किसानों को पाही-किसान के रूप में लाकर नये गाँव में बसा देना था।[57] जिनको कालान्तर में भूमि पर अधिकार या खुदकाश्त की प्राप्ति हो जाती थी। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में समसामयिक नये गाँव को बसाने की इसी प्रक्रिया का सविस्तार उल्लेख किया है।[58]

कृषकों के अभावपूर्ण जीवन को असहनीय बनाने में समय-समय पर पड़े अकालो का भी बड़ा हाथ था। दुर्भिक्ष में अन्नाभाव से सर्वत्र भीषण हाहाकार मच जाता था–

कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।

NMDC-065

भूमिहीन किसान जीविका-रूप खेती के छिन जाने पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो हाहाकार करते कहते हैं--

खेती न किसान को
× × ×
जीविका-विहिंत लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी।

इसी अकाल की महात्रासमयी स्थिति से दाने-दाने को मोहताज पेट भरने के लिए जघन्य कृत्य करने के लिए बाध्य हो बेटा-बेटी तक बेचते हैं।

किसाबी किसान कुल, बनिक भिखारी माँह।
× × ×
पेट पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि अटत गहन-बन अहन अखेट की;
ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि पेट ही को पचत, बेंचत बेटा-बेटकी।

तुलसी द्वारा अकाल-ग्रस्त जनता की भयावह स्थिति का चित्रण संवेदनशील कवि के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है, वह उसकी कोरी कल्पना का चित्र नही है। ऐतिहासिक स्रोतों - विशेषकर तुलसी के समसामयिक अकबर कालीन विद्वानों – बदायूनी और अबुल फ़जल के संस्मरणों के उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अकबरकालीन में भारत में दो बार भीषण अकाल पड़ा था। प्रथम सन् 1556 में उत्तरी भारत में, द्वितीय 1565 से 1568 तक सम्पूर्ण भारत में। दोनों दुर्भिक्षों ने मानवक को दानव बनने पर बाध्य कर दिया था। इसलिए सन् 1555 में दुर्भिक्ष के विषय में फारसी लेखक बदायूनी के शब्दो में "लेखक ने स्वयं अपनी आँखों से सूखकर काँटा बने नरकंकालों को भूख से पीड़ित एक-दूसरे का भक्षण करते देखा। वर्षा की कमी, भीषण अकाल तथा लगातार दो सालों के युद्धों ने सारे देश को मरुभूमि बना दिया था जहाँ खेत जोतने तक के लिए एक भी कृष्यक नहीं बचा था।"[56]

तुलसी के काव्य से समसामयिक सामाजिक परिवेश, जीवन, मूल्य एवं मानदण्डों की वास्तविकता पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार समाज में दुर्जनों, खलों की बहुसंख्या होने के कारण तथा उन पर नियंत्रण रखने हेतु श्रेष्ठ राजा की आवश्यकता है, साथ ही तुलसीदास एवं तत्कालीन फारसी के विद्वानों ने समाज में स्थिति चारों श्रेणियों को अपने-अपने कार्य-धर्मों में निरत रहने तथा दूसरे के कार्य-धर्मों में हस्तक्षेप को रोकने के लिए संतुलन आवश्यक माना है।

तुलसी ने साथ ही एक संवेदनशील कवि के रूप में उस समय के सामाजिक जीवन में व्याप्त

NMDC-065

विश्रृंखलता, दुःख, दारिद्र्य और अभावों का हृदयविदारक चित्रण भी किया है।

इस प्रकार, विवेचन से यह स्पष्ट है कि महामना तुलसी समसामयिक सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक परिस्थितियों एवं मूल्यों का चित्रण समाजसेवी सुधारक या क्रान्तिकारी विद्रोही के रूप में न करके एक युग-बोधक सन्त के रूप में करते हैं। उनका उद्देश्य किसी भी भाँति का खण्डन या मण्डन करना नहीं था वरन तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति मूल्यों एवं मानदण्डों के सच्चे स्वरूप का उद्‌बोध करना था। महाकवि तुलसीदास की मान्यताओ मे व्याप्त विरोधी विचार धाराओं का यही दिग्दर्शन जिसका पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं। किन्तु यह विरोधाभास कवि का वैयक्तिक न होकर उस विशेष काल व समाज में व्यापत वास्तविकता का प्रतिरूप है जिसमें तुलसी अवतरित हुए। उन्होंने तत्कालीन देश, काल समाज में प्रचलित विरोधी प्रवृत्तियों एवं अन्तर्विरोधों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया तथा राज्य व समाज के विरोधी तत्वों और मूल्यों में समन्वय को ही उसके सन्तुलन एवं स्थिरता की आधारशिला माना है। इसी में उनका मानवतावाद निहित है।

संदर्भ-संकेत

प्रस्तुत लेख में 'रामचरितमानस' डा. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित (हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, द्वारा प्रकाशित) और तुलसी की अन्य रचनाओं के लिए 'तुलसी-ग्रन्थावली' खण्ड, 2, डा. रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं 2004) को अध्ययन का आधार माना गया है।

1. इसका पूर्ण विवरण अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय द्वारा पी.एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत लेखिका के शोध-प्रबन्ध 'सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्त संस्कृति तथा समाज का समीक्षात्मक अध्ययन' (सूर, तुलसी, दादू के विशेष सन्दर्भ में) में किया है जो शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

2. मानव 7।28; विनयपत्रिका 130।

3. मानस 1।183।3, 4, 5।

4 विशेष विवरण के लिए भारतीय इतिहास-कांग्रेस में पढ़े गये लेखिका के लेख 'तुलसीदास कानसेप्ट आफ रूलरशिप' (प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 33वाँ अधिवेशन, मुजफ्फरपरु, 1971ए पु. 325-334) को देखिये।

5. रामललानहछ्‌ 5, 6, 7; 8, 18; मानस, 1।3।9।

6. अबुलफ़जल आईने-अकबरी (अनुवादक - ब्लॉकमैन), पृष्ठ 4; जियाउद्दीन बरनी, फतावाए-जहाँदारी (अनुवादक मो. हबीब), 'पोलिटिकल थ्योरो ऑफ दी देहली सल्तनत'.

NMDC065

अध्याय 6। अबुलफज़ल ने भी समाज को चार श्रेणियों में विभक्त किया है। किन्तु प्रथम स्थान योद्धाओं को, द्वितीय शिल्पियों एवं व्यापारियों को, तृतीय विद्वानों को तथा चतुर्थ स्थान किसानों एवं श्रमकरों को प्रदान किया है।

7. वैराग्यसंदीपिनी 9-14, में सन्तों व सज्जनों में एक समान गुणावलि का प्रस्तुत होना स्वीकार किया है।

8. अबुलफज़ल - आईन (ब्लॉक), पृ. 2। "यदि राजा का अस्तित्व न होता तो संघर्षों को झंझावात का कभी अन्त न होता और नहीं स्वार्थियों की महत्त्वाकांक्षाओं का उन्मूलन हो पाता। वितण्डावाद और वासना के वशीभूत मानव जाति महाविनाश के गर्त के पड़ जाती।"

9. दोहा 375।

10. वैराग्य 8-42।

11. मानस 2।251।2।

12. मानस 9।98।4; 98 विनयपत्रिका 192।

13. कवितावली 7।84।

14. दोहा 19।

15. मानस 2।167

16. दोहा. 326

17. कविता 7।87।

18. आईना (ब्लॉक) पृ. 4 में अबुलफजल ने राजा की आवश्यकता समाज के चार वर्गो में सन्तुलन स्थापित करने के लिए मानी है।

19. विशेष विस्तार के लिए लेखिका के शोध-ग्रन्थ 'सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्त संस्कृति व समाज का समीक्षात्मक अध्ययन' अध्ययन 6 में देखें।

20. मानस 7।26, 27।

NMDC-065

21. मानस 1।2।21, 214

22. मानस 1।178, 5।3।5

23. मानस 1।113, 114।1, 116।2

24. मानस 2।88

25. ग्लोसरी आफ जुडीशियल एण्ड रेवेन्यू टर्म्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, एच एच विल्सन द्वितीय डा. सं. दिल्ली 1968 पृ. 224।

26. मानस 1।212।3, 214।3 (जनकपुर में) 7।29।4 (अयोध्या)।

27. मानस 1।178

28. हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुम के फूल। - मानस 1।287

29. मरकत कुलिस पिंरोजा, चीरि कोरि पचि रचे सरोजा।

पानस 1।288।2, 3

फिरोजा — वह कम मूल्यवान पत्थर है जिसका विविध रूप से प्रयोग मुगल कालीन वास्तुकला का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

30. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, मुगल पीरियड, पृ. 103-2

मानस 1।2।3; गीता 7।19।3 (सुरट)

31. फारसी में 'खास' का अर्थ है : राजा से सम्बन्धित। अत: खास महल का अर्थ राजा के निजी निवास-स्थान से है। तुलना द्वारां 'खास' शब्द का इसी सन्दर्भ में प्रयोग करना महत्वपूर्ण है।

32. मानस 1।10।4, 5

33. किंवदन्ती है कि मुगलों के रनिवास में जाने के लिए बारह साल की उमर के बाद राजा के बेटे को भी राजा से आज्ञा मांगनी पड़ती थी।

34. गीतावली 1।2

NMDC-065

35. गीता 1।60।4; मानस ।301।2; 1।220।2

36. मानस 5।3।।

37. मानस 1।213।2, 7।9।2

39 गीता 1।6।6

40. सर्राफ : मध्ययुग में सर्राफ का मुख्य कार्य सोने चाँदी के सिक्कों को परखने का होता था। शासन अथवा व्यापार में सर्राफ द्वारा परखे सिक्कों को ही स्वीकार किया जाता है। सर्राफ सोने-चाँदी का व्यापार भी करता था। वह व्यापारी को ऋण पर रुपया भी देता था। एक स्थान से दूसरे स्थान को माल, हुण्डियों द्वारा भेजा जाता था। हुंडियाँ देना, उनका भुगतान करना भी सर्राफ का काम था। देखिये - विलसन पृ. 469, इरफान हबीब : 'यूजरी इन मैडीवल इण्डिया', कम्पेरिटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री; द सिस्टम ऑफ बिल्स ऑफ एक्सचेंज (हुण्डीज) इन द मुलग एम्पायर' (प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, मुजफ्फरपुर, 1972, पृ. 2901)

41 दोहा. 474

42 मानस 7।28 (कपड़े के व्यापारी को बजाज कहते हैं)।

43 गीता (आटा दाल बेचनेवाले को मोदी कहा गया है)।

44 श्री दादू. 13।154

45 सूर 310, 2146, 2147

46. 'कारबी' शब्द कारवाँ से बना है। यात्रियों या व्यापारियों का सामूहिक रूप से घोड़ों, ऊँटों, बैलों आदि पर खानपान आदि सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने को (कारवाँ) कहते हैं।

47. श्री दादू 25।16, 17, 18, 19

48. कविता0 7।144; मानस 2

49. कविता, 7।170

50. 'शंकर-स्तवन वहाँ शिवालयों में किया गया है।'

कविता 7।149-168

NMDC-065

51 'शहर' (फारसी भाषा का शब्द है एवं मध्यकालीन भारत में राजधानी दिल्ली के लिए प्रयुक्त होता था।

52. कवित 7।175

'अबुलफज़ल के अनुसार यह महाकाल 1556 से शुरू हो तीन साल तक रहा। महाकाल इतना भीषण था कि लोगों ने एक-दूसरे का भक्षण करना शुरू कर दिया तथा नगर के मार्ग तथा गलियाँ लाशों से भर गई थीं। बादशाह ने दुर्भिक्ष-त्रस्त लोगों के लिए सदाव्रत खोले थे।''

अकबरनामा II, पृ. 35;

इशा-ए-अबुलफजल III, पृ. 326-7

53 मानस 7।101।5

54. (अ) अबुलफजल आईन (ब्लॉक.) पृ. 66 शलि पात्र के श्रेष्ठ शालि धान का नाम है। अकबर बादशाह के दरबार में लिखी गई शाही पुस्तकं 'आईन' में रबी तथा खरीफ की फसलों में गेहुँ, दाल, (अनेक दालों) जौ, बाजरा, जुवारी तथा कोदों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

(ब) अबुलफ़जल – आईन. (ब्लॉक.) में भूमि, पोलज, परती, चांचर, बंजर, में विभाजित होती थी। पोलज भूमि को उत्तम, मध्यम और निम्न कोटियों में विभाजित किया जाता था।

55. चक या चाकि चकबन्दी का रूपान्तर है। 'चक' इनाम की भूमि अथवा खेत के लिए प्रयुक्त होता है।

एच. एच. विल्सन की 'ए ग्लोसरी ऑफ ज्यूडिकल एण्ड रेवेन्यू टर्म्स' पृ. 96-92।

56. एच. विल्सन की ब्रिटिश इंडिया की शासन और लगान-सम्बन्धी शब्दावली की 'ग्लोसरी' से -

"बाहर से आये हुए किसान द्वारा की गई खेती अथवा गाँव में कुछ समय के लिए आ बसने वाले किसान द्वारा की गई खेती को पाही-खेती अथवा किसान को पाही-काश्त कहते हैं।'' (पृ. 387)

NMDC-065

57. हनुमानबाहुक 18

'मवास' फारसी में किलेबन्दी का नाम है। जब राजकीय शक्ति से असन्तुष्ट हो कुछ सभासद या राजकर्मचारी या प्रजा विद्रोहियों का रूप धारण कर लेते हैं तथा राज-सत्ता के विरुद्ध संगठन करते हैं।

58. ग्रा. सतीशचन्द्र द्वारा लिखित 'दी पोजिशन एण्ड रोल ऑफ खुद काश्त एण्ड पाही काश्त (पेरिस में 1973 के प्राच्य विद्या-सम्मेलन में पढ़े लेख के आधार पर)।

59. विनय 145।

60 बदायूनी, पृ.428-9।
अकबरनामा, पृ. 35 (अबुलफज़ल द्वारा लिखित)।
इशा-ए-अबुलफजल पृ. 326-7 (अबुलफज़ल द्वारा लिखित)।

NMDC-065

16. बिहारीलाल

रामचंद्र शुक्ल

ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविदपुर गाँव में संवत 1660 के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। अनुमानत: ये संवत 720 तक वर्तमान रहे। जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय कवीश्वर जयपुर पहँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिए महलों के बाहर निकलते ही न थे। इस पर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो वध्यो, आगे कौन हवाल।।

कहते हैं कि इस पर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने के आज्ञा दी। बिहारी दोहे बना-बनाकर सुनाने लगे और प्रति दोहे पर एक-एक अशरफ़ी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संग्रहित होकर 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगार-रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य में एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गयीं। इन टीकाओं में 4-5 टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं — कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करने वाले छप्पय, कुंडलियाँ, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलियाँ इन दोहों पर बहुत अच्छी हैं, पर अधूरी है। भारतेन्दु हरिश्चंद ने कुछ और कुंडलियाँ रचकर पूर्ति करनी चाही थीं। पं. अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाये हैं। पं. परमानन्द ने 'शृंगार सप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सबसे उत्तम और प्रमाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और ब्रजभाषा

NMDC-065

के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने निकाला। जितने श्रम और जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिंदी का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रन्थ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता हैं। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता हैं और हृदय एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली हे तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अत: जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है–

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर।।

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखायी पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हाव-भरी सजीव मूर्त्तियाँ देखिए–

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाई।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ।।
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी ककी की सौंह।

NMDC-065

ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठैं ही जमुहाइ।।

भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है— विशेषत: शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में। कहीं-कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गयी है, जैसे-इन दोहो में-

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास।।
छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कै झवा झवावति पाइ।।
इत आवति, चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ।।
सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीष्म दिनन पर्‌यो परोसिनि पाप।।
आड़े दै आने बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति।।

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। पर यहाँ दो-एक उदाहरण ही प्रर्याप्त होंगे-

ढीठी परोसिन ईठ ह्वै कहे जु गहे सयान।
सबै सदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान।।
नए विरह बढ़ती बिथा खरी विकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ हरषि हँसी तिहि काल।।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर में सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिका-भेद की प्रथा इतने जोर-शोर से न चल गयी होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी-किसी दोहे में कई अलंकार

NMDC-065

उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं–

दृग अरूझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति।।
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग।।

दो-एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आऐ हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है–

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन।।

शृंगार की संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार-बार सुने जाते हैं। इस स्मरण में कैसी गंभीर तन्मयता है–

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन है जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।।

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत-सी कही हैं जिनमें बहुत-सी नीति-संबंधिनी है। सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अत: उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिए बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे नीचे दिए जाते है–

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह।।
कनक-कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।।
तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी है उरबसी समान।।

बिहारी के बहुत से दोहे 'आर्यासप्तशती' और गाथा-सप्तशती' की छाया लेकर बने हैं, इस बात को पं. पद्मसिंह शर्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं-कहीं अधिक सुन्दर रूप दे दिया है।

NMDC-065

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों में रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पायी जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पायी जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो-एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को 'संक्रमण' (अप. संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रूलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है और कबीर जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है– जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहु-वचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रन्थ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नखशिख', 'नायिकाभेद', 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसाकि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसलिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए – उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटों वाह-वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक-एक दोहे पर संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती हैं।

NMDC-065

17. बिहारी का भावजगत

बच्चन सिंह

बिहारी मूलत: शृंगारी कवि हैं। शृंगार की यह परम्परा उन्हें विरासत में मिली है। शृंगार के मूल में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण निहित है। वह सर्वाधिकपूर्ण और तादात्म्यमूलक होता है। कबीर ने भक्त और भगवान के बीच तादात्म्य स्थापित करने के लिए स्त्री-पुरुष का रूपक बाँधा है। भक्त कवियों का शृंगार काफी व्यापक और कर्म-सौन्दर्य से दीप्त है। उसमें एक प्रकार की लोकोन्मुखता है। सूरदास का प्रेम ऐकान्तिक होते हुए भी वन, कुंज, खेत, गौ-बछड़े आदि ग्राम्य परिवेश को लिए हुए है। पर रीतिकालीन कवियों को भक्त कवियों की शृंगारिकता, राधा-कृष्ण के नाम और उनकी क्रीड़ाओं के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से लगाव नहीं है। इसका कारण उनका अपना सामंतीय परिवेश है।

भक्त कवियों की रचनाएँ जनता के लिए थीं। उनका उद्देश्य जनमन का परिष्कार-संस्कार करना था। यही उनकी मूल्यवत्ता थी। उस समय धर्म एक संस्थान था और वह पूर्णत: पारलौकिक नहीं था। उसमें इस जीवन जगत की समस्याओं के लिए भी पर्याप्त अवकाश था। भक्तिपरक रचनाओं के लिए उन्हें किसी से कीमत नहीं वसूल करनी थी। जनता और भक्तों का रिश्ता मानवीयता पर आधारित था। भक्त बड़े जन-समुदाय के अंग थे।

रीतिकाल का राजाश्रय काव्य के लिए बहुत उपजाऊ नहीं सिद्ध हुआ। अभी तक कविता की ग्राहक जनता थी किन्तु अब उसके ग्राहक राजे-महाराजे और सामंत सरदार हो गए। इस पूंजीवादी व्यवस्था में जिस प्रकार साहित्य की खरीद फरोक्त होती है उस प्रकार उस समाज में काव्य की खरीद के लिए अवकाश नहीं था। सामंतीय समाज की तत्कालीन स्थिति में कवि दरबार की शोभा होते थे। वे व्यापक जीवन से कटकर मनोरंजन की पूर्ति करते थे। दरबार के गायकों, नर्तकियों की तरह कवि भी दरबार को अलंकृत करता था। फिर भी उसका दर्जा कुछ ऊँचा था।

कवि जनता के लिए न लिखकर राजाओं और सामंतों के लिए लिखता था। रचनाएँ एक प्रकार के कलात्मक उत्पादन का रूप ले चुकी थीं। उनके उपभोक्ता थे राजे-महाराजे। इस तरह कवियों और राजाओं का एक विचित्र संबंध कायम हो गया। अपने विशिष्ट ग्राहक की अभिरुचियों को देखकर ये कविता लिखते थे। जिस ठाट-बाट और कीमती वस्त्र-भूषणों से लदी हुई उनकी जिन्दगी होती थीं उसी प्रकार अलंकार से पूर्ण और चमत्कारिक रचनाएँ उन्हें प्रिय थीं। इसके पहले भी कवियों को राज्याश्रय मिला था। पर वे राज्य के अन्य कार्यों में भी दिलचस्पी लेते थे। अत: वे बहुत कुछ स्वतन्त्र थे। कालिदास, चन्दबरदाई ऐसे ही कवि थे। किन्तु इस समय के कवि

NMDC-065

शुद्ध कवि थे। शुद्ध कविता लिखने के अतिरिक्त उन्हें और काम नहीं था। राजाओं की अभिरुचियों और कवियों के रिश्ते में कहीं भी दरार नहीं दिखाई पड़ती। उन्हें परतंन्त्रता की कोई अनुभूति नहीं होती। यह अनूभूति कुंभनदास को हुई थी। उन्होंने सीकरी बुलाए जाने पर कहा था – 'सँतन को कहाँ सीकरी सों काम'। स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के बीच जब कोई संघर्ष नहीं रह गया तब नवीनता के लिए कोई भी गुंजायश नि:शेष हो गई। ऐसी स्थिति में कवि भोगपरक भौतिकता का वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ा कर करने लगे। भोगपरक भौतिकता की केन्द्रीय विषय-वस्तु है नारी।

यहाँ नारी के प्रति वह प्रेम नहीं मिलेगा जो प्रेमी को व्याकुल-विक्षुब्ध बनाता हुआ भी कुछ दे जाता है, जिसमें प्रेमी और प्रेमिका के जीवन को नया आयाम मिलता है। कर्मोन्मुखी प्रेम के लिए भी यहाँ कोई जगह नहीं है। रीति-कवियों का प्रेम भौतिक धरातल से ऊपर नहीं उठ पाता। उसके प्रेम का मुख्य प्रेरक तत्व शरीरी सौन्दर्य है। वही उसकी परिणति भी है।

यों प्रेम में शरीर-सौन्दर्य की भूमिका को अस्वीरकार नहीं किया जा सकता। पर प्रेम शरीरी सौन्दर्य को लेते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाता है। शरीर से असंपृक्त होते हुए भी यह मानस जगत में अनेक प्रकार के स्पन्दनों को जगाता हुआ जीवित रहता है। जिस दिन उसकी विक्षोभन क्षमता समाप्त हो जाती है उस दिन वह भी मर जाता है। यों गहनानुभूति का प्रेम कभी नहीं मरता। घनानंद इसके उदाहरण हैं। पर केवल शरीर तक सीमित रहने वाले प्रेम का मुख्य लक्ष्य क्रीड़ा होती हैं। इस समय तक आते-आते सामंतीय परिवेश इसी तरह की जड़ता में खो चुका था। शरीरी सौन्दर्य के प्रति अनुरक्ति का एक उदाहरण देखिए –

तो तन अवधि अनूप रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृगा लागो रूप, दृगनि लगी अति चटपटी।।

नायक नायिका के रूप पर मुग्ध हो गया है। वह अपनी बैचेनी का इजहार पत्र में कर रहा है कि तुम्हारे रूप की सीमा में सारे जगत का सौन्दर्य समाहित हो गया है। मेरी आँखे तुम्हारे रूप में उलझ गयी हैं। उसे देखने के लिए आँखों में चटपटी (विकलता) भर गयी है। कहना न होगा कि रूप के प्रति कितना अमानसिक और सपाट दृष्टिकोण है।

रूप के प्रति विद्यापति की विकलता देखते बनती है :

'जनम अवधि भर रूप निहारल नयन न तिरपति भेल।'

पूरे जीवन भर तुम्हारा रूप देखता रहा पर आँखें तृप्त नहीं हुईं। अतृप्ति का भाव कवि के अपने वैयक्तिक स्वरूप को प्रकट कर रहा है। पर बिहारी में ठस निर्वैयक्तिकता है।

NMD-065

बिहारी ने प्रेम को चौगान का खेल कहा है। इस खेल में उनका मन खूब रमा है। प्रेम के चौगान को छिपाकर के जीता जाता है। इस लुकाछिपी के साथ कोई मूल्यवत्ता नहीं जुड़ पाती। रीतिकाल का नायक एक ओर सामाजिक प्रतिबन्धों का निर्वाह भी करता है और दूसरी ओर लुकछिप करके प्रेम का चौगान भी जीतना चाहता है। उसके प्रेम में वह आवेग नहीं है, जो सामाजिक प्रतिबन्धों को अपनी प्रखर धारा में बहा ले जाता है। इसके ठीक विपरीत स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों ने डंके की चोट कहा है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपन पौं झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं।।

(घनआनंद)

स्नेह का रास्ता सीधा है। यहाँ सयानेपन, चतुराई के लिए कोई जगह नहीं है। इस रास्ते पर अपनापा छोड़कर सच्चे लोग चलते हैं। वे कपटी लोग जो निश्शंक नहीं हैं, इस रास्ते पर चलने में झिझक का अनुभव करते हैं।

यह रीति कवियों पर करारी चोट है। घनआनंद भी दरबारी कवि थे। पर उन्हें इस बात का अहसास था कि दरबार में उनकी स्वतन्त्रता कुंठित हो जाती थी। रीतिकाल के उत्तरार्ध में सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में बदलाव आ रहा था। ऐसी स्थिति में कवियों में भरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मूल्य-चेतना जागृत हुई। प्रेम में तथाकथित मर्यादाओं का टूटना सहज है, न टूटना ही असहज है। प्रेम के पथ में अवरोध तत्त्वों — घर का ममत्व, लोकनिन्दा आदि—को नगण्य मानता है। इस प्रेम में भी रूपासक्ति है। पर प्रेमी इस आसक्ति को अतिक्रमित कर गया है।

प्रेम की ऊँचाई और आदर्श का उन्हें खूब पता है। सज्जन के आदर्शवादी प्रेम का वर्णन करते

चटक न छाँड़त घटत हूँ, सज्जन नेहु गँभीरू।
फीकौ परै न, बरू फटै रँग्यो चोलरंग चीरू।।

सज्जन का स्नेह चोलरंग में रँगे चीर की भाँति फट जाने पर भी घटता नहीं। पर इन स्फुट उक्तियों को परम्परा का ही आग्रह समझना चाहिए, बिहारी की अपनी मान्यताओं का नहीं। वे नागर रुचि के व्यक्ति थे और नागर संस्कृति को उन्होंने खुली अभिव्यक्ति दी है। इस अर्थ में वे अन्य रीति कवियों से कुछ भिन्न थे। जहाँ अन्य कवियों को पहले के संस्कारों का भय था

NMDC-065

वहाँ बिहारी इससे बहुत कुछ मुक्त थे। भयग्रस्त रीति कवियों ने एक ओर यथाअवसर ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की दुहाई दी है, वहाँ दूसरी ओर खुले शृंगार का वर्णन भी किया है। बिहारी में इस तरह का खास अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता। इसलिए उनकी सतसई में तत्कालीन सामंतीय प्रेम की जितनी ईमानदारी से चित्रण हुआ है उतनी ईमानदारी से अन्य समसामयिक काव्यों में नहीं हुआ है। जिस क्रीड़ापरक प्रेम का चित्र उन्होंने उरेहा है, वह पूर्णत: सामंतीय है।

पहले कहा जा चुका है कि रीति काव्यों के प्रेम का मुख्य आकर्षण केन्द्र शरीरी सौन्दर्य था। बिहारी ने इसका वर्णन चार रूपों में किया हैं – प्रभावात्मक रूप में, वस्त्राभूषणों के बीच में, घरेलू वातावरण में और परम्परा के मेल में।

प्रभावात्मक

जहाँ कवि रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर सौन्दर्य की प्रभान्विति का वर्णन करता है वहाँ पाठकों की ऐंद्रिय चेतना को सर्वाधिक उद्‌बुद्ध करने में शक्य होता है स्वयं सौन्दर्य किसी अंग विशेष में नहीं होता और न तो अंगों के सूक्ष्म संस्थान में ही उसकी सस्थिति स्वीकार की जा सकती है। सब मिलाकर वह ऐसा प्रभाव होता है जो हमारी रागात्मिका वृत्ति को उभाड़ देने में पूर्णत: समर्थ होता है। प्रभावमूलक सौन्दर्य का एक उत्कृष्ट चित्र देखिए:

अंग-अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह।।

मुक्ताफल की छाया के तारल्य की भाँति अंगों में प्रतिभासित होने वाला लावण्य सौन्दर्य है। नायिका के अंग-अंग में छबि की चमक निरंतर उभरती जाती है। यद्यपि कवि का मुख्य कथ्य यही है फिर भी इतने से उसके लावण्य को उचित ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसकी छबि द्वारा उठती हुई तरंगों का जो परिवेश निर्मित किया गया है, उसके द्वारा उसकी तनुता भरी-भरी सी लगती है, वही नायिका के सौन्दर्य को एंद्रिय और प्रभावापन्न बना सका है। इस दोहे की श्रेष्ठता किस पर निर्भर है, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित सा ही रह गया। इसका उत्तर पाने के लिए एक दूसरा दोहा देखना पड़ेगा:

अंग-अंग जगमत, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हूँ रहै बड़ौ उज्यारो गेह।।

नायिका के अंग-अंग के (आभूषणों के) नग उसकी दीपशिखा-सी देह से जगमगाते रहते हैं। इसलिए दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला (प्रकाश) रहता है।

NMDC-095

इस दोहे में भी देह की द्युति का ही वर्णन किया गया है। दोनों दोहों में छबि की लपटों या दीपशिखा की निर्धूम लौ के प्रभावों की व्यंजना की गयी है। पर जहाँ पहले का प्रभाव जीवन और जगत की अनुभूत छबियों से बाँध दिया गया है। वहाँ दूसरे का प्रभाव एक मिथ्या और काल्पनिक सत्य से बाँधा गया है। पहले दोहें में छबि की लपट और उससे उत्पन्न प्रभाव के अन्तरसम्बंधों को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि पाठकों के रागतत्व को वे सहज ही छूते देते है। दूसरे दोहे में दीपशिखा-सी देह तथा प्रकाश का अन्तस्संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। इन संबंधों को बाह्य संबंध ही कहा जाएगा। यह चमत्कार विधायक तो है पर राग विधायक नहीं। खेद है कि विशुद्ध प्रभावात्मक रूपचित्र बिहारी में कम है।

वस्त्राभूषण और सौन्दर्य

रीति-कवियों ने नायिका के सहज सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसके अलंकृत सौन्दर्य पर। रीतिकालीन वैभव-विलास के अनुकूल नायिकाओं का भी उन्मादक चित्र खींचना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था। वस्त्राभूषण नायिका के आभिजात्य के सूचक, शालीनता के रक्षक, सौन्दर्य के अभिवर्द्धक और नायक के प्रेम के उद्दीपक हैं। वे अपनी रंगीन छाया से नायिका में नवीन आकर्षण और मादकता भर देते हैं। इस तरह के सौन्दर्य चित्र बिहारी में ढेर-के-ढेर मिल जांएगे। एक-एक करके कुछ उदाहरण देखिए:

सहज सेत पँचतोरिय पहिरत अति छवि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगति तन-जोति।।

पँचतोरिया एक प्रकार का अत्यन्त बारीक महीन वस्त्र है। उसकी पूरी साड़ी तौल में केवल पांच तोलें की होती है। इस वस्त्र के पहनने से नायिका की शोभा अधिक बढ़ जाती है। 'स्वभावरमणीयानि मण्डितानि अतिमरणीयै: भवन्ति।' स्वभाव से ही रमणीय नारी वस्त्राभूषणों से मंडित होने पर और भी रमणीय हो जाती है। धनिकों के किसी उद्यान में किसी ऊंचे स्थान से, जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता था यह जलचादर कहलाता था। किसी-किसी जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीपावली बड़ी शोभा देती थी। इसी दीपावली को बिहारी ने 'ज़लचादर के दीप' कहा है। पँचतोरिया से आवृत नायिका के शरीर की पीताभ कांति जलचादर के पीछे रखे हुए दीपकों की भाँति जगर-मगर करती हुई शोभित हो रही है।

यहाँ पर भी वही पुराना प्रश्न उठता है कि यदि सौन्दर्य का यह चित्र श्रेष्ठ है तो क्यों? इस क्यों का उत्तर ही मूल्यांकन है, छंदों का अन्वय मात्र न तो आलोचना है और न मूल्यांकन। श्वेत पंचतोरिया वस्त्र से झाँकता हुआ नायिका का पीताभ सौन्दर्य उसी प्रकार से शोभन प्रतीत होता है जिस प्रकार से जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीप शिखाएँ। इस चित्र की श्रेष्ठता इस

NMDC-065

बात पर निर्भर है कि कवि वास्तविकता से कहाँ तक संबंध स्थापन कर सका है। और स्वयं वह वास्तविकता किस प्रकार की है। नायिका की छवि मानसिक वास्तविकता है और जलचादर की दीप भौतिक वास्तविकता। निश्चय ही इनके सम्बन्ध स्थापन में कवि को सफल कहा जा सकता है। अप्रस्तुत ने नायिका के पारदर्शी सौन्दर्य को जिस ढंग से प्रत्यक्षीकृत किया है वह सराहनीय है।

प्रभावात्मक चित्र की अपेक्षा यह अधिक रंगीन और रंजक है किन्तु इसे उतना संवेदनात्मक नहीं कहा जा सकता। उतना संवेदनात्मक का अर्थ यह नहीं है कि यह संवेदनात्मक नहीं है। यहाँ केवल संवेदना के दर्जे का सवाल है।

छिप्यौ छबीली मुँहु लसै नीलैं अंचल-चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिदीं कै नीर।।

इस सौन्दर्य चित्र में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच जो संबंध स्थापन किया गया है, वह भी कृत्रिम ही है। पर इसमें साध्यवसान संवेदना के रूप में हुआ है। इसलिए इसकी संवेदनात्मक गहराई भी श्लाघ्य है। उत्प्रेक्षा के रूप में जो अप्रस्तुत ले आया गया है, वह पहले उदाहरण में ले आए गए अप्रस्तुत की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्वजनीन है। पर पहले उदाहरण की तरह यह न ही रंजक है और न प्रभावोत्पादक। बात यह है कि इसका अप्रस्तुत लोकसिद्ध है जो सामान्यत: उपमा के क्षेत्र में गृहीत होता है।

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता बिमल-जल उछरत जुग मीन।।

इसका अप्रस्तुत भी संभावनामूलक है। लेकिन संभावनामूलक अप्रस्तुत में भी दर्जे का अन्तर स्वीकार करना होगा। पहले और दूसरे उदाहरणों की अपेक्षा इसका अप्रस्तुत प्रस्तुत का ऐन्द्रिय बिम्ब उपस्थित करन में असमर्थ है। उछलते हुए 'युगमीन' चमकती हुई चंचल आँखों का दृश्य खड़ा करने में निर्बल प्रतीत होते हैं।

इस तरह के रूप-चित्रों में बिहारी की प्रतिभा जहाँ रम सकी है वहाँ के चित्र निश्चय ही संवेद्य बन पड़े हैं।

परम्परा

यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा फिर भी उनकी दृष्टि से लक्षण ओझल नहीं थे। उन पर रीति परम्परा और शास्त्रीय रूढ़ियों का गहरा प्रभाव था। नायिका का नख-शिख

NMDC-065

रूप वर्णन संस्कृति कवियों का भी प्रिय विषय था। रीतिकाल में तो नख-शिख वर्णन की अत्यधिक बहुलता दिखाई पड़ती है। बिहारी ने नख-शिख वर्णन क्रमबद्ध रूप में नहीं किया है पर अधिकांश रूपाधायक अवयवों का जो चित्रण प्रस्तुत किया है वह परम्परामुक्त ही है। कुछ उदाहरण देखिएं –

केश :

सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुंगध सुकुमार ।
मनतु न मन पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार।।

मुख :

सूर उदित हूँ मुदित मन मुखु-सुषमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल चखनु चकोर।।
पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन-ओप-उजास।।

कटि :

ज्यों-ज्यों जोबन जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति।
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि छपा छीन परति नित जाति।।

उपर्युक्त उदाहरणों में (अंतिम को छोड़कर) जिन अवयवों का सौन्दर्य वर्णन हुआ है, वे हमारे सौन्दर्य-बोध को किंचित मात्र भी उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते। इनमें बाह्य वास्तविकताओं से जो संबंध-स्थापन हुआ है वह कृत्रिम है। सूर्योदय होने पर चकोर का मुख-सुषमा की ओर देखना चमत्कारमूलक है, संवदेनामूलक नहीं। यह चमत्कार भी घटिया दर्जे का ही कहा जाएगा। "पत्रा ही तिथि पाइए' के अन्तस्संबंध तो वास्तविक से और भी दूर है इसलिए उसका सौन्दर्य उर्दू शायरी की विदग्धता का भी अतिक्रमण कर जाता है। उसी प्रकार यौवन को ज्येष्ठ का दिन और कटि को रात्रि कहना कितना असंगत और यथार्थ जगत से कितना दूर है। काव्य में प्रयुक्त अप्रस्तुत हमारे अनुभव जगत से जितने दूर होंगे, प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सम्बन्ध-स्थापन उतना ही कृत्रिम होगा, काव्य-पाठकों को रसावेश की स्थिति में ले जाने में वह उतना ही असमर्थ होगा। 'हरिनी के नैनान', 'केलितरुन' आदि तो पिटे-पिटाए अप्रस्तुत हैं ही।

संयोग

रीति-काव्यों में संयोग-शृंगार के प्रति जितनी ललक दिखायी पड़ती है, उतनी वियोग-शृंगार के प्रति नहीं। संयोग शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण है जो अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं,

NMDC-065

चेष्टाओं वाचिक और शारीरिक विकारों, मानसिक दशाओं आदि में प्रस्तुत होता है। इस प्रसंग में कवि-परम्परा से सुरति, षट्ऋतुवर्णन, विहार, मद्यपान, क्रीड़ा, अष्टयाम आदि का वर्णन करते आए हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श संलाप आदि के सहारे संयोग का महल खड़ा किया जाता है, इसलिए इनका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का — विशेष रूप से बिहारी का मन क्रीड़ापरक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का भूरिशः उल्लेख हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-वर्णन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उनके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

भंगिमाएँ

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं — स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। संचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संभोगेच्छा सूचक होती है। काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलेंगे। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से अर्थ दिया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए —

जज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलालमुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ।।

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह ढाँपती है, कुछ झुक जाती है, फिर हँस देती है, आखिर में झल्ला भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उसे देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए —

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै ज्यौं कँकरीली गैल।।

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकर ने लिखा है — 'नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते-चलते चिकना हो गया है और दूसरा भाग कंकड़ीला है। नायक, प्रेम के मारे नायिका को तो अच्छी ढुरहरी पर लिवाए जाता है, और स्वयं उसके

NMDC-065

पाँव में कंकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से यह बात ज्ञात करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसी पीड़ा से पीड़ित होकर, सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है, नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार सिमट कर चलता है कि उसको कंकड़ियाँ न गड़ें, पर नायिका का वह नाँक चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जान-बूझकर उसके चिढ़ाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है और वह फिर उसी प्रकार नाक चढ़ाकर सीबी करे।'

यहाँ भी 'सीबी' का व्यापार निश्चेष्ट है, पर नायक को उससे सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए –

(1) बिहँसति सकुचति सी, दिऐं कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजै पट तट कों चली न्हाइ सरोवर माँह।।

(2) बड़त निकसि कुचकोर-रुचि कढ़त गौर भुज मूल।
मन लुटि गौ लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल।।

(3) अहे दहेंड़ी जिन धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकै है छीकै छुवै ऐसैई रहि नारि।।

पहले उदाहरण पर टिप्पणी देखिए –

स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त झीना वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए गोपन क्रिया बहुत आवश्यक नहीं है। वह कामजन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है, विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर से निकल रही है। इसके तट पर बिहारी जैसे रसिकों का जमघट लगा रहता होगा। अतः शालीन नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। विद्यापति की सद्यः स्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है अतः कवि को उसने नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई शालीनताजन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई। यह शुद्ध लज्जा अथवा शालीनता का उदाहरण है। इसे 'हाव' से सर्वदा भिन्न समझना चाहिए। इसलिए इस तरह की भंगिमाओं को मैंने स्वाभाविक कहा है।

दूसरे उदाहरण में नायक ने नायिका को फूल चुनते समय देखा है। इस क्रिया में हाथ को ऊँचे करने तथा सीवा को पीछे की ओर झुकाने में उसके कुच आगे को निकल आए एवं अंचल के

NMDC-065

सरकने से भुजमूल तथा उदर कुछ उधर गए।' इस अवस्था में उसकी त्रिबली देखकर नायक का मन लुट गया।

तीसरे उदाहरण में छीकें पर दहेड़ी रखने का नायिका का व्यापार नायक का अत्यन्त प्रिय लग रहा है। इसलिए वह कहता है कि तू दहेड़ी छीकें पर न रखो ओर न उतारो। छीकें को अच्छी तरह से छू रखो। इस स्थिति में रहने में नायक को तनाव के कारण उसके वक्ष को एन्द्रियोत्तेजक उभार देखने का शुभ अवसर मिलता रहेगा। यह भंगिमा भी छीकें के छूने से अपने आप बन गयी है, पर नायक को उसमें रंजन का एक मौका मिल जाता है।

उपर्युक्त भगिमाओं में फाग के अवसर पर जो भंगिमा दिखायी गयी है वह सर्वाधिक सुन्दर और संवेद्य है। वह अपेक्षाकृत अधिक गत्यात्मक है, इसीलिए श्रेष्ठ भी हैं। उनमें कवि ने जीवन के यथार्थ को एक ऐसे प्रसंग में चित्रित किया है कि वह बहुत ही स्वाभाविक तथा संवेदनापूर्ण बन गयी है। शेष चित्रों में स्नान करके निकलती हुई नायिका अपनी शालीनता (माडेस्टी) के कारण पाठकों को प्रिय लगती है। फूल तोड़ने का चित्र ऐंद्रियोत्तेजक (सेक्सुअल) हो गया है तो दहेड़ी रखने का चित्र ग्राम्य।

पहले ही कहा जा चुका है कि संभोगेच्छा प्रकाशक सचेष्टा व्यापार 'हाव' कहे जाते हैं। प्रेमोद्दीपन के कार्य में इसका विशेष महत्व है।

हाव

कुछ आचार्यों ने हाव के कई भेद बतलाए हैं, पर वे भ्रामक है। जैसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है, हाव को विभाव के अन्तर्गत ही मानना अधिक संयत है। हाव एक प्रकार का उद्दीपन है जो प्रेमी के हृदयस्थ रतिभाव को उद्दीप्त करता है। संयोग शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यह 'प्ले इंस्टिक्ट' की कोटि में रखा जायेगा। प्रेम का यह क्रीड़ापरक रूप सामंतीय जीवन की विलासिता के अनुरूप ही था। इसलिए बिहारी ने इस तरह के वर्णनों में खुलकर रुचि ली है।

देखिए :

(1) त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली, अली की ओट कैचुली भली विधि चाहि।।

(2) देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु-अँगु सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मैं सकुचि, बैठी चितै लजाइ।।

NMDC-065

(3) ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाइ।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाइ।।

(4) बतरस लालच साल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौहनु हसै, दैन कहै, नटि जाइ।।

(5) भौहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति।।

उपुर्यक्त सभी उद्धरणों के व्यापार संभोगेच्छा सूचक हैं। चित्रों की सफाई पर भी मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। पहले उदाहरण के व्यापार की स्पष्टता – त्रिबली और नाभि का प्रदर्शन – बहुत आकर्षक नहीं कही जा सकती। (आजकल तो त्रिबली नाभि का प्रदर्शन आधुनिक होने की निशानी मानी जाती है। यदि यह सांस्कृतिक सुरुचि का द्योतक है तो बिहारी की नायिका को दोषी ठहराना आलोचक का पिछड़ापन माना जायगा, क्यों ?) जो लोग भारतीय परंपरा का सामान्य ज्ञान रखते हैं वे उपर्युक्त चित्रण की सुरुचिपूर्णता में संदेह प्रकट करेंगे। उदहरण सं. 2 की नायिका के व्यापार अधिक जटिल, बौद्धिक तथा सांकेतिक है। तीसरे दोहे की सांकेतिकता थोड़ी और सूक्ष्म है। चौथे की प्रेमक्रीड़ा मे नाटकीय तत्त्व की प्रचुरता के साथ प्रेम की गहराई भी परिलक्षित होती है। पाँचवें में क्रीड़ात्मकता अधिक है पर परस्पर विरोधी क्रियाओं द्वारा इस चित्र को भी थोड़ा गूढ़ बना दिया गया है। पहले दोहे में जो चित्र उरेहा गया है उसकी अपेक्षा अन्य चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं क्योंकि उनके बोध के लिए अपेक्षाकृत व्यापक बौद्धिक मानसिक संघटना की आवश्यकता है। जिस चित्र के लिए , उसके बोध के लिए , जितने व्यापक मानसिक संघटना की जरूरत होगी वह उतना ही प्रभविष्णु और संवेदनात्मक होगा।

प्रेमक्रीड़ा के अन्य रूपों में दाम्पत्यक्रीड़ा, चोरमिहीचनी का खेल, पारस्परिक आलिंगन-चुम्बन, आँख-आँख का खिलवाड़, घूँघट की ओट की चोट आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें दांपतिक क्रीड़ा के चित्र बहुत ही मनोरम और आकर्षक बन पड़े हैं :

(1) हँसि ओठनु बिच करु उचै, कियैं निचौहैं नैन।
खरैं अरें प्रिय के प्रिया लगी बिरी मुख दैन।।

(2) नाक मोरि नाहीं करै नारि निहोरैं लेइ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ।।

पहले दोहे में विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका की चेष्टा वर्णित है। अब उसे नायक का इतना अधिक विश्वास हो गया है कि वह उसे पान खिलाने के लिए पास जाने लगी है। ओठों के बीच हँसकर, हाथ ऊँचा और आँख नीची करके प्रिय के मुख में पान देती है। मध्यवर्गीय शालीनता से

NMDC-065

अपरिचित व्यक्ति इसके पूर्ण सौष्ठव को स्वायत नहीं कर सकता। संकोच लज्जा और विश्वास कस संश्म चित्र को आत्योकित ऐन्द्रिय मनोरमता प्रदान करता है।

दूसरे चित्र में नायक नायिका को पान खिलाना चाहता है। वह नाम सिकोडती हुई कहती है नही मैं नही खऊगी। नायक बेचारा बार-बार आग्रह करता हैं। नायिका उसका पान मुँह में लेती हुई ऐसा भाव प्रकट करती है मानो उस पर बडी कृपा कर रही हैं। इसी समय नायक उसके कोमल अधरोष्ठो को छू देता हैं

इन दोनो चित्रों के सारे व्यापार स्वाभाविक हैं जीवन से गृहीत है, इसलिए उनका सौन्दर्य भी मर्मस्पर्शी और ह्रदयग्राही जन पडा हैं ।

प्रेम-क्रीडा के लिए चोर मिहीचनी खोल की भी व्यवस्था की गई है। इस खल का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। यह एक बहाना मात्र है। जिसमें गाढालिमन की खुली छूट मिल जाती है ।

दोऊ चोरमिहीचनी, खेलु न खेलि अघात।
तुरत हियैं लपटाय के, छुवत हियैं लपटाट।।

अष्टा पर चढी हुई नायिका की क्रीडा का एक शेभन रूप देखिए :

छिनकु चलति, ठ्ठ्कति छिनकु, भूज प्रीतम गल डारि।
चढी अटा देखति छटा, बिज्जुछटा सी नारि।।

बिजील की ज्योमि की तरह लावण्यवती नायिका घिरे हुए बादलो की शोभा निहार रही है। प्रियतम के गले में बाँह डालकर क्षणभर कभी चलती हैं और क्षण भर कभी झिझक जाती हैं। भुज प्रीतम गल डारि की व्यंजन घटा के प्रसंग में कितनी गूढ और मनोवैज्ञानिक बन पडी हैं

क्रीड़ा में चतुराई का बहुत बड़ा योग होता है, उसका भी एक उदाहरण देखिए

लरिका लँबे कैं मिसनु लँगंरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ।।

अब चुंबन का एक दृश्य देखिए :

अँगुरिनु उचि, भरुभीति दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सों दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल ।।

ऐसे सुयोग नगर निवासी नायक-नायिका को ही सुलभ हो सकते हैं।

बिहारी सतसई में प्रेम-क्रीड़ा का बहुत बड़ा भार आँखों के मत्थे पड़ा है। प्रेम व्यापार में है भी आँखों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग। ये आँखें भी साधारण आँखे नहीं हैं। वे 'रस सिंगार मंजनु

NMDC-S

किए, खंजन भंजन दैन' है। दूसरे शब्दों में हाथ, भाव, कटाक्ष आदि में पूर्ण दक्ष है। प्रेम को मादक बनाने के लिए नेत्रों का बड़ा होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसका अपांग वीक्षण' इसीलिए एक दोहे में सखी नायिका की प्रशंसा करती हुई कहती है:

अनियारे, दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछु, जिहिं बस होत सुजान।।

इस तरह की आँखों के कुछ व्यापार द्रष्टव्य हैं:

(1) इती भरहूँ भेदि कै कितहूँ है इत आइ।
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाइ।।

(2) कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात।।

(3) जुरे दुहुन के दृग झमकि रुके न झीनैं चीर।
हलकी फौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर।।

भीड़-भम्भड़ में लोगों की आँखें बचाकर अपने प्रिय से आँखों आँख बात कर लेना, मन की रीझ-खीझ को संकेतपूर्वक व्यक्त कर देना, पारदर्शी घूँघट के पार जाकर प्रिय की आँखों से मिल लेना – आँख के इन व्यापारों से सभी परिचित हैं।

सुरतिमूलक मुद्राएँ

सुरतिमूलक मुद्राओं के चित्र भी सतसई में ढेर-के-ढेर मिल जाएँगे। क्रीड़ाओं की अंतिम परिणति भी तो यही है – अवकाश-भोगी सामंतों के जीवन का चरम लक्ष्य। सामंतीय नायक की एक उक्ति देखिए – और दूसरे की उक्ति यह हो भी नहीं सकती:

चमक, तमक हाँसी, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि।।

अर्थात जिस रति में चमक, तमक, लपट, झपट आदि हों वही रति मुक्त के समान परममोददायिनी है। दूसरी मुक्ति तो अनिष्टकारिणी है।

कुछ मुद्राएँ देखिए:

(1) सकुचि सरकि पिय निकट तैं मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुँहु मोरि।।

NMDC-065

(2) समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति आइ।।

इन पर टिप्पणियाँ व्यर्थ हैं।

सात्विक अनुभाव

संयोगकालीन अवस्था में आन्तरिक आनंद के फलस्वरूप, जो स्वेद, कंप, रोमांच, वैवर्ण्य आदि दिखाई पड़ते हैं उनकी गणना सात्विक अनुभावों में की जाती है। 'आत्मा में अन्तर्भूत रस को प्रकाशित करने वाला अन्त:करण का धर्म विशेष 'सत्व' कहलाता है। इसी सत्वगुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं।' यह अन्त:करण का धर्म विशेष सभी रसों में दिखाई पड़ता है, पर प्रत्येक के अपने-अपने कारण होते हैं।

इन सात्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव प्राय: प्रिय के दर्शन, श्रवण और स्पर्श से होता है। इन सभी अवस्थाओं में स्नायुगत कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं कि उनका प्रकाशन स्वेद, कंप आदि के द्वारा देखा जाता है। मानस द्वारा दर्शन, श्रवण आदि से जिन प्रभावों को ग्रहण किया जाता है वे हमारे शारीरिक संघटन को अनेक ढँग से प्रभावित करते हैं। परिणामत: उनकी प्रतिक्रियाएँ अनेक रूपों में देखी जाती हैं। प्रेम के सम्बन्ध में स्पर्श का अधिक प्रभाव देखा जाता है। 'स्पर्श त्वगिन्द्रिय का गुण है। त्वचा स्नायुतंतुओं, धमनियों और आँतों आदि की रक्षा ही नहीं करती, बल्कि बाह्य संसार से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्रचीन और मूलभूत ज्ञानेन्द्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियों का संदेश तुरन्त ही मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। यौन आवेगों की स्थिति स्पर्श ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम सम्बन्धी संवेगों के संदर्भ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत प्रवाह सारे रोमकूपों में विचित्र सिहरन भर देता है।'

वेणी गूँथने के प्रसंग में स्पर्श-जन्य प्रभाव का एक दृश्य देखिए:

रहौ, गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान, जे नीठि सुकाए बार।।

नायक नायिका की चोटी गूँथता है। स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आया है और नायिका की वेणी के बाल भींग गए हैं। अपना सात्विक छिपाने के निमित्त नायिका कहती है – रहने दो, गूँथ चुके वेणी, देख लिया तुम्हारा ढँग। इतनी कठिनाई से मैंने बाल सुखा रखे थे, वे फिर गीले हो गए। इसमें प्रेम की जो व्यंजना की गयी है वह श्लाघ्य है। पर सात्विक की किंचित अस्वाभाविकता के कारण यह उतना प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है।

NMDC-065

एक साथ ही कंप, स्वेद रोमांच और अश्रुसात्विक अनुभावों को एक अत्यन्त स्वाभाविक संदर्भ में देखिए –

खेलन चोर मिहीचनि आजु, गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहों एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाईं।।
एक ही भौन दुरे इक संग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ़ यो, तनरोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं।।

– मतिराम

मतिराम के सवैये में बहुत से सात्विकों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है, इसलिए इसका काव्य-सौन्दर्य श्रेष्ठ नहीं है। इसकी श्रेष्ठता नायिका की मनोदशा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण कराने में है, दो मन:स्थितियों की तुलना में है, उनके अन्तस्सम्बन्धो के स्थापन में है। पिछले ही दिनों की भाँति नायिका चोर मिहीचना खेलने के लिए आज भी गयी थी।लेकिन आज के खेल में उसे एक अभूतपूर्व अनुभूति हुई। इस अनुभूति के कारणों को समझने में वह असमर्थ है क्योंकि पिछले दिनों तो वह बराबर चोर मिहीचनी खेला करती थी, पर इस तरह का कुछ भी नही हुआ । आज क्या बात हो गयी? उसके साथ एक ही घर में नायक छिप गया और जान-बूझकर अपना शरीर उसके शरीर से छुला दिया । शरीर का स्पर्श करते ही उसे रोमांच हो आया, शरीर से पसीने-पसीने हो गया. आँखों में आँसू की बूँदे छा गयी। इस तरह का स्पर्श तो बहुत होता रहा है, पर आज ही क्यों ये सात्विक उभर आए? ये सात्विक उस अवस्था विशेष के सूचक हैं जिसमें प्रेम विकार अनजाने ही उत्पन्न होने लगते हैं । नायिका है भी तो अज्ञात यौवना। किन्तु बिहारी के दोहे और मतिराम की सवैये का तुलनात्मक विवेचन नहीं किया जा सकता। मतिराम ने उक्त सवैया अज्ञात यौवना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है वह अपने आप में नायिका के अज्ञान और भोलेपन को बहुत ही स्वाभाविक ढँग से व्यक्त करता है। यह भोलापन पाठकों को प्रसन्न कर देता है। उनके अन्तर्मन को गुदगुदा देता है, उनकी ऐन्द्रिय चेतना को तीव्र बना देता है। बिहारी का दोहा दूसरे परिप्रेक्ष्य की स्पष्टि करता है, उसमें व्यापकता नहीं है वक्रता है, जो प्रेमाधिक्य की व्यंजना में सक्षम है। एक दूसरे दोहे में बिहारी ने स्पर्शजन्य सात्विक की जो सृष्टि की है वह अपेक्षाकृत गहरी संवेदना उत्पन्न कर सकी है–

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरू नाथ।
दियो हिय संग हाथ के हथलेये ही हाथ।।

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर दुलहिन दूल्हें न स्वेदरूपी जल और रामांच रूपी कुश ग्रहण करके हाथ के साथ ही अपना हृदय भी।एक दूसरे को सौप दिया। पाणिग्रहण की लौकिक रीति (जल और कुश द्वारा संकल्प होने की क्रिया) के पूर्व ही दोनों मानसिक संकल्प से एक दूसरे

NMDC-065

के हो गए। मानसिक चेतना और शारीरिक प्रतिक्रिया का कितना सूक्ष्म चित्रण है। इस में व्याप्ति तो नहीं है पर संवेदना की गहराई नरूर हैं

अब दशनजन्य सात्विक का उदय देखिए:

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कप किसोरी दरसि के, खरै लजाने लाल।।

उँगुली पर गोवर्धन धारण किए हुए श्रीकृष्ण ने ज्यों ही किशोरी राधिका को देख त्यों ही उन्हें कप सात्विक हो आया। इस कमनख्त सात्विक ने धोखे का काम किय-बडे ही असमय में दिखइ पडा। हाथ के हिलते ही पहाड भी हिला और सारा ब्रज बिकल हो उङ्गा। श्री कृष्ण लज्जा से लाल हो गए।

श्रवणजन्य सात्विक का उदाहरण शेष रह गया, उसे भी दशिए

आयौ मीत बिदेस तै काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि हुलसी बिहँसी हसी दोऊ दुहुनु निहारि।

इतना सुनना था कि मित्र विदेश से आ गया है दोनो प्रेमिकाएँ प्रफुलिलत हुई, बिहस पडी फिर एक दूसरे को देखाकर हँसने लगी। मित्र के प्रति जो मानसिक लगाव है उससे उनका खिल जाना सात्विक ही है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसमें कुछ खामी दिखाई पड सकती है पर प्रफुल्लता भी तो अन्तःकरण के धर्म से ही संबद्ध है

बिहारी ने कुछ ऐसे सन्दर्भो की भी सृष्टि की है जिनमें सात्विको का प्रादुभाव न तो दर्शन से होता है, में श्रवण से और स्पर्श से। केवल सामीप्य बोध की भासना ही में सात्विक अनुभाव उत्पन्न करने में समर्थ है। यह विशिष्ट संदर्भ सात्विकी को जो परिप्रेक्ष्य प्रदान करता हैं वह काव्य को सहज हि औदात्यपूर्ण बना देता हैं

मुँखु उघारि प्यौं लखि रहतु रहौ न गौ मिस-सैन।
फटके ओङ्ग, उङ्गे पुलक गए उघरि जुरि मैन।।

इस दोहे में उस नायिका का चित्र अंकित किया है जो सोने का बहाना करके मुँह ढककर आँखे बन्द करके सोई हुई है।। नायक ने वास्तविकता जानने के लिए उसका मुंह उघार कर देखा अब नायिका से रहा नहीं गया, उसके औङ्ग पकडकर उङ्गे, सेएँ भरभरा जए आँखें खुल गयी देखा प्रियतम की आँखों से जा मिली

NMDC-065

नायिका ने नायक को देखा नहीं है। संभवत: मुँह उघार कर देखते समय नायक के हाथों का स्पर्श भी नहीं हो पाया है। पर मन-ही-मन वह उसके आत्यंधिक सामीप्य का अनुभव कर रही है। केवल इस मनोभाव ने उसक संवेगों को इस तरह आन्दोलित कर दिया कि उसके शरीर पर उसके प्रतीक रूप में अनुभाव अंकित हो उठे।

इस प्रसंग 'देव' का एक सवैया उद्धृत किए बिना यह प्रकरण कुछ अधूरा सा लगता है—

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाए।।
बोलिए बोल, सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाए।
यों सुनि ओछे उरोजन पै, अनुराग के अंकुर से उठि आए।।

गौना जाने वाली दुलहिन की सखियों ने बहुत कुछ सीख दी, कहा कि सखी तुम हँस कर के कोमल वाणी से बोलना जो प्रियतम के मन को भाने वाला हो। इतना सुनना था कि मन का अनुराग रोमांच के रूप में फूट पड़ा। 'अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि दोनों में एक साथ चेतना उत्पन्न हो जाती है।' वास्तव में यह कल्पनाजन्य अनुभव का एक रूप है। प्रियतम का काल्पनिक सामीप्य रोमांच उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है। कहना न होगा कि देव का यह अनुभव चित्र काफी गूढ़ और संवेगात्मक है। पर बिहारी के उपुर्यक्त दोहे में कई अनुभव जो एक दूसरे से पूर्णत: सम्बद्ध हैं अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय और संवेद्य हैं।

कल्पनाज्य अनुभव की तरह स्मृतिजन्य अनुभाव भी होता है। स्मृतियाँ कई तरह से जागृत होती हैं। काव्य में प्राय: देखा जाता है कि प्रिय से सम्बद्ध कोई वस्तु पाकर प्रेमी पुलकित हो उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं प्रिय मिल गया हो। स्वयं वस्तु कोई प्रेमपरक चेतना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। उस वस्तु पर प्रिया या प्रेमी अपने प्रिय की भावन का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कर लेता है।

एक अंतरग सखी ने नायिका को बहिरंग सखियों के बीच ठाकुरजी का प्रसाद कहकर एक माला दी। नायक की माला पहनते ही नायिका को रोमांच हो आया। उसे देखकर परिहास करती हुई सखी कहती हैं —

मैं यह तोही में सखी, भगति अपूरद बाल।
लखि प्रसाद माला जु भी, तनु कदंब की माल।।

NMDC-065

इस स्मृति जन्य अनुभाव को कहीं-कहीं बिहारी ने और भी सूक्ष्म स्तर पर देखा और परखा है –

ऊँचै चितै सराहियतु, गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु।।

इस दोहे के 'अवतरण' में रत्नाकरजी ने बताया है कि नायिका अटारी पर चढ़े हुए कबूतर उड़ाने वाले नायक को देखकर पुलकित होती है। पर नायक को देखने का अनुमान नहीं भी किया जा सकता है। नायिका केवल अपने प्रिय के कबूतर को देखकर ही पुलकायमान हो सकती है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता की दृष्टि से यह कल्पना अधिक रमणीय प्रतीत होती है।

हास-परिहास, बन-बिहार और मदपान

प्रेम या शृंगार के प्रसंग में हास-परिहास, बन विहार और मदपान का वर्णन प्राय: होता है आया है। हास-परिहास में कभी तो हृदय की उन्मुकता प्रेमी युग्म को समीप ले आती है और कभी हृदय की अन्य प्रकार से अव्यक्त भावनाएँ वक्रतापूर्ण ढंग से व्यक्त हो उठती हैं। बिहारी से इस तरह के हास-परिहास की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। बन-विहार के उन्मुक्त वातावरण में प्रेम को जो सांद्रता मिलती है, उसकी कमी भी बिहारी में मिलेगी। इन दोनों की अपेक्षा मदपान के वर्णन अधिक हैं। फिर भी हास-परिहास और जन-विहार की बनगी मिल ही जाएगी –

लाज गहौ बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि।।

परिहास का यह एक अच्छा उदाहरण है। नायिका कहती है – कुछ तो शर्म करो, बेकार में क्यों घेर रहे हो, घर जाने दो। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ। तुम इन्द्रिय रस खोजते फिरते हो, गोरस नहीं। इस परिहास में नायिका ने अपना मूढ़ मन्तव्य भी प्रकट कर दिया।

अब परिहास का एक दूसरा उदाहरण देखिए :

छ्वै छिनुगी पहुँचौ मिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ व्यौंत सुनि को, बलि तुम्हैं पत्याइ।।

नायक नायिका के गुणों पर रीझ गया है। वह नायिका की सखी से प्रार्थना करता है कि उसे दिखा दे। सखी नायक का परिहास करती हुई कहती है कि तुम्हारी रीति बड़ी बेढब है। तुमने उँगली छुआ नहीं कि पहुँचा पकड़े। बलि-वामन का वृत्तान्त सुन करके भला तुम्हारा विश्वास कौन करेगा ?

चलित ललित श्रम स्वेद कन कलित अरुन मुख तैं न।
बन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाए नैन।।

NMDC-065

यह बन बिहार का अति सामन्य उदाहरण है। हाँ मदापान में बिहारी का मन अपेक्षाकृत अधिक रमा हैं

(1) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति।।

(2) निपट लजीली नवल तिय बहकि मारूनी सेइ।
त्यों त्यों अति मीझी लगति, ज्यों ज्यों ढीझयों देइ।।

(3) खलित बचन अधखुलिक दृग ललित स्वेद-कन-जोति।
अरून बदन छबि मदन की खरी छबीली होति।।

मद का मुख्य प्रयोजन है रति क्रीछा को मादकतापूर्ण बनाना। मद के कारण ललक-ललक कर लपटना लजीली होने पर भी लज्जा को छोड रति क्रीडा में ढीझ होना, शोभा में मदजन्य निखार का आना आदि ऐसी स्थितियाू है जो तत्कालीन रसियों की आंकाक्षाओं के अनुकूल पडती थी इसलिए सतसई में इनका सन्निवेश भी आवश्यक हो गया

बियोग

सामंतीय वातावरण का प्रभाव बिहारी के वियोग-वर्णन पर इस तरह पडा है कि मान और खंडितादि चित्रों की सतसई में बहुलता हो गई है। वियोग के चार प्रकारों - पूर्वानुराग, मान प्रवास और मरण में खंडितादि के वर्णन मान के ही अन्तर्गत गाएगे। पूर्वानुराग को कुछ आचायों ने अभिलाष मात्र मानकर गंभीर वियोग के अनुपयुक्त समझा है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अभिलाष मात्र ही नही ठहर सकता। थोडी देर के लिए इसे मान भी लिया जा सकता है किन्तु कुछ समय के अंनतर इसमें पियोगात्मक तीव्रता का अभिभाव स्वाभविक हो जाता है। पहले हम मान का ही प्रसंग लेगे।

मान

आचार्यो के मतानुसार मान के दो भेद हैं - प्रणयमान और ईर्ष्यामान । प्रणयमान निर्हेतुक माना गया है, यह स्मिति आदि से शमित हो जाता है। यह मुख्यतः क्रीडात्मक है, इसे मान नहीं मान का नाटम समझना चाहिए। अतः वियोग की किसी भी वास्तविक स्थिति का आविर्भोव इससे संभव ही नहीं है। ईर्ष्यामान में मूलतः ईर्ष्या रहती है पर इसमें खीझ, कलेश, अभिमान, क्रोध, घृणा उदासीनता, अवसाद आदि अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का समावेश हो सकता हैं

प्रणयमान का एक मनोरम खेल देखिए

NMDC-065

सतर भौंह, रूखे बचन, करत कठिनु मन नीठि।
कहा करौ, है जाति हरि हेरि हँसौही डीठि।।

सखी ने किसी प्रकार नायिका को मान करना सिखाया है पर अपनी असमर्थता का इजहार करती हुई नायिका कहती है कि हे सखी मै किसी तरह भौंहो को टेढी बातों को रूक्ष और मन को कठोर बना लेती हूँ, किन्तु हाय मै क्या करूँ उनको देखकर आँखो में हँसी आ जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस तरह के मान को वियोग के अन्तर्गत परम्परा का अनुरोध ही समझना चाहिए। यह एक तरह की प्रेरणात्मक क्रीडा है जो प्रेम को उद्दीप्त करती है। अतः इसे उद्दीपन के भीतर रखना अधिक संगत लगता हैं ।

ईर्ष्यामान के वर्णन में बिहारी की चित्तवृत्ति अधिक रमी है। परन्तु इसके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को न दिखलाकर प्रायः नायिका के आक्रोश तक ही कवि सीमित रहा है। खंडिता के प्रसंग में तो बिहारी की दृष्टि बाह्य रति -चिन्हों पर विशेष रूप से टिकी है। वे पलकों में पीक, अधरों में अंजन, भाल में महावर, आँखों में किंजल्क, छाती में नवक्षत, अधरों में दंतक्षत, बालों पर चोटी का चिन्ह, दृगों में ललाई और आलस्य, उँगलियों में महावर आदि के वर्णन में इतने उलझे दिखाई देते हैं कि खंडिताओं के व्यंग्य को रससिक्त उतना नहीं कर सकते जितना चमत्कारपूर्ण। खंडिता नायिका के व्यंग्य क्षोभ के इन बाह्य चिन्हों का स्मरण इस काल के सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है, किन्तु इसका जितना विस्तार बिहारी ने किया है उतना और लोंगों ने नहीं। मतिराम, देव,पद्यकर आदि कवि बीच-बीच में खंडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। निम्नलिखित दोहा इस सम्बन्ध में प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है –

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हो लाल।।

ये चिन्ह पति के अपराध के सूचक हैं और पति का अपराध की ईर्ष्यामान का कारण है। बिहारी ने स्वयं कहा है –

पति रितु अवगुन गुन बढ़तु भानु, माह को सीतु।
जात कठिन है अति मूदौ रवनी-मनु, नवनीत।।

अर्थात पति और ऋतु के अवगुण (अपराध) तथा गुण (स्वभाव) से मान और माघ महीने की शीत वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप रमणी का मन तथा नवनीत जो प्रकृत्या कोमल है निष्ठुर तथा कठोर हो जाता है।

NMDC-065

पूर्वानुराग

पूर्वानुराग के वर्णन में भी बिहारी में न आवेगात्मक तीव्रता दिखाई पड़ती है, और न संवेदनात्मक गहराई। यह पूर्वानुराग प्राय: दो रूपों में चित्रित हुआ है – इतिवृत्तात्मक और चित्त विकलनात्मक। पहले रूप का जहाँ तक सम्बन्ध है नायिका की किसी-न-किसी दशा का विवरण उपस्थित किया गया है :

लाल, तिह्यारे रूप की, कहौ, रीति यह कौन।
जासों लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न।।

इसमें अनिद्रा-दशा का जो कथन किया गया है वह किसी प्रकार काव्योचित नहीं बन पड़ा है।

चित्त की विकलता के फलस्वरूप उसकी जिस अस्थिरता का उल्लेख किया गया है वह अपेक्षाकृत ऐंद्रिय और संवेद्य अवश्य है :

इत तै उत, उत तै इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति।।

प्रवास

नायिका से वियुक्त होकर नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहा गया है। इसमें मलिनता, संताप, पांडुता, दौर्बल्य, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा आदि काम-दशाएँ देखी जाती हैं। गंभीर वियोग इस स्थिति में अधिक स्वाभाविक है। किसी के द्वारा संदेश भेजना और चित्र लेखन भी प्रवासजन्य वियोग की रूढ़ियाँ है। बिहारी में इन समस्त रूढ़ियों को खोजा जा सकता है।

उपर्युक्त काम-दशाओं में प्रथम चार का सम्बन्ध शरीर से है तो शेष छ: का मन से। प्रथम चार दशाओं का मूल प्रेरक भी मन ही है, उसकी प्रतिक्रिया शरीर पर उन रूपों में होती है। नीचे कुछ दशाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है –

संताप

(1) **आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।**
साहसु ककै सनेह-बस सखी बसै ढिग जाति।।

(2) **औधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरनि बिललात।।**
बिचहीं सूखि गुलाबु गो छीटौ छुई न गात।।

NMDC-065

(3) जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति।।

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जायसी के वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए लिखा है — 'जायसी का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँच पाया है, उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी उक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अन्तर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर-बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, बोतल का गुलाब जल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप-जोख पर नहीं जो प्राय: ऊहात्मक हुआ करती है।' इस अवतरण में जितने निषेधात्मक वाक्य हैं वे सब बिहारी को दृष्टि में रखकर लिखे हुए हैं — उनके संताप-वर्णन को लक्ष्य करके। तात्पर्य यह है कि बिहारी का संताप-वर्णन मात्रामूलक है, वह नाप-जोख की पद्धति पर आधारित और ऊहात्मक है—

दौर्बल्य :

(1) करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनै हूँ चसमा चखनु चाहे लहै न मीचु।।

(2) इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढी हिंडोरैं तै रहे लगी उसासनु साथ।।

(3) नैक न जानी परति यौं, पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियै लौं नांदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु।।

जिस तरह संताप वर्णन में कवि की दृष्टि ताप की मात्रा पर रही है उसी तरह इस प्रसंग में भी उसकी दृष्टि शारीरिक दुर्बलता और आत्यंतिक क्षीणता पर टिकी है। दुर्बलता का यह रूप भी काया की तनुता पर आधृत है, हृदयगत संवेदना पर नहीं।

अस्थिरता का एक उदाहरण पूर्वानुराग के प्रसंग में दिया जा चुका है।

तन्मयता, उन्माद और मरण के एक-एक उदाहरण देखिए :

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि।।

(तन्मयता)

NMDC-065

बिरह जरी लखि जीयननु कहौ न डहि कै बार ।
अरी, आउ, भजि भीतरी, बरसतु आजु अँगार।।

(उन्माद)

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखैं मारिबौं भई असीस।।

(मरण)

विरह के उद्दीपन

जो वस्तुएं संयोग में सुखानुभूति जगाती हैं वे ही वियोग में दुःखानुभूति जगाने का कार्य करती हैं। काव्य में इनका वर्णन कवि परम्परा से करते आए हैं। बिहारी की उक्तियाँ भी परम्परा के ही मेल में हैं :

(1) औरे भाँति भए,अब ए चौसर, चंदनु चंदु।
पति बिनु अति पारतु बिपति, मारतु मारूतु मंदु।।

(2) हौं ही बौरी बिरह बस, कै बोरौ सब गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाउँ।।

समस्त परम्परओं के पालन के बावजूद बिहारी के विरह-वर्णन में कुछ ऐसे स्थल जरूर हैं जो उनकी श्रेष्ठ काव्यप्रतिभा को द्योतक हैं। (विरह वर्णन ही क्यों संयोग और सौन्दर्य वर्णन के सिलसिले में भी उसे देखा जा सकता है।) इस तरह के दोहों के कुछ उदाहरण देखिए :

(1) अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरै गात।
अब ही कहा चलाइयति ललन चलन की बात।।

(2) स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीरु।
अँसुवनि करत तरोंस कौं खिनक खरो नीरु।।

(3) कर के मीड़े कुसुम लौं गयी बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ।।

इन दोहों में वे कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें श्रेष्ठ काल में परिणित करती हैं? यह प्रश्न स्वयं इन दोहों के लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना मूल्याकन की समस्या के लिए रखता है। यह कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ न तो ऊहात्मक है, न बाहरी नाम नोख से इनका सम्बन्ध है, शारीरिक कार्य का तनुतापरक वर्णन भी इनमें नहीं है। पर ये निषेधात्मक कथन तो अपने आप में काव्य के गुण नहीं है। कुछ लोग निश्चयात्मक (पाजिटिव) ढंग से

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कथन की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण इन दोहों को श्रेष्ठ माना जा सकता है। किन्तु स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता जैसे गोल शब्द इनके काव्यात्मक सौन्दर्य के मापक नहीं हो सकते।

वास्तव में इन दोहों की श्रेष्ठता यथार्थ की काव्यात्मक पकड़ में निहित है। यथार्थ की जो पकड़ संताप-दौर्बल्य-प्रदर्शक दोहों में दिखायी पड़ती है वह अस्वाभाविक और मात्र भौतिक (फिजिकल) है। इसीलिए उनकी भाव व्यंजनाएं बाह्यतापरक है, जो संवेद्य नहीं हो पाती। मानसिक यथार्थ का सम्बन्ध हमारी संवेदनाओं और सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से होता है। भौतिक यथार्थ का अपने आप में महत्व है। बशर्ते यह मानसिक यथार्थ को उसके वास्तविक सम्बन्धों में व्यक्त कर सके। औधाई सीसी' वाले दोहे को लीजिए शीशी का औधाना' भौतिक यथार्थ है पर ताप से उनका जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह बड़ा ही लचर और मूल्यहीन हो गया है— दूसरे शब्दों में वह संबंध अवास्तविक और मिथ्या है। वैयक्तिक दृष्टि से उसका चमत्कारिक महत्व हो सकता है पर वह सार्वजनीन दृष्टि से सहृदय संवेद्य नहीं हो सकता।

इसलिए आचार्यों ने काव्य में वैयक्तिकता का निषेध किया है। टी एस इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त भी इसी बात की पुष्टि करता है। काव्य में निजी अनुभूतियाँ और विचार अनेक प्रकार की बाधाएं उत्पन्न करते हैं। रोमैंटिक काव्य को लेकर इस पर तरह-तरह की मान्यताएँ प्रस्तुत की गयी हैं। इस सिलसिले में इस बात का विचार नहीं गया कि चमत्कारिता के करिश्मे भी व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध रहते हैं— निर्वैयक्तिकता से नहीं। बिहारी जहाँ पर्याप्त निर्वैयक्तिक हुए हैं वहाँ उनका काव्य श्रेष्ठता के धरातल पर पहुंच गया है।

संताप और दौर्बल्यपरक दोहों तथा उपरि उद्धृत दोहों में एक अन्तर और है। पहले प्रकार के दोहे में जिस सत्य की अभिव्यक्ति की गयी है वह व्यंजित सत्य को इस तरह ढंक लेता है कि उसकी पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती। काव्य में जो कुछ व्यक्त किया जाता है, वह वैज्ञानिक सत्य की तरह खंड सत्य नहीं होता प्रत्युत पूर्ण सत्य होता है। उसकी व्यंजना आगे बढ़कर कथ्य को पूर्णता प्रदान करती है। परवर्ती दोहों का कथ्य अधिक पूर्ण और व्यंजक है। यही नहीं, उनमें व्यक्त संवेदनाएँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक गूढ़ और सूक्ष्म है।

पहला ही दोहा लीजिए। नायक के विदेश जाने का प्रसंग है। सखी कहती हैं कि अभी तो प्रथम वियोग से दुखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया। यह प्रथम वियोग के क्लेश को ही अभिव्यक्त करके नहीं रह जाता। बल्कि इससे प्रथम वियोग का पूरा दुखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है। इतना ही नहीं, उस वियोग में तो बेचारी की वह दशा हुई, पता नहीं इस वियोग में क्या होगा ? प्रथम वियोग में दुर्बल शरीर और उसके रंग (पांडुता आदि) से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है।

NMDC-065

दूसरे दोहे के काव्य की नींव गहरी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर टिकी है। नायक अत्यन्त तीव्रगामी घोड़े पर सवार है, अत: उसे प्रिय के पास पहुँचने में तनिक भी बिलम्ब नहीं लगा। किन्तु ग्वेड़े का रास्ता हजार कोस दूर मालूम पड़ने लगा। सापेक्षवाद के सिद्धान्त के परिचित लोगों को इसकी स्वाभाविकता में किसी तरह का संदेह नहीं हो सकता। मानसिक सत्य को भौतिक सत्य से इस तरह बाँधा गया है कि उसकी अस्वाभाविकता खटकने के स्थान पर अच्छी लगती है।

चौथा दोहा अत्यधिक मार्मिक है। शास्त्रीय शब्दावली में यह स्मृति संचारी कहा जाएगा। श्याम और यमुना तट का कितना गहरा सम्बन्ध है। इसी को विचारानुषंग कहते हैं। यमुना तट पता नहीं कितन संदर्भों और अनुभूतियों को जागरित करने में समर्थ है। श्याम की स्मृति आते ही राधिका का यमुना तट की ओर देखना सहज है। यमुना तट के अनेक स्मृतियों से लिपटे रहने के कारण इतना उत्तेजक है कि आँखों से अश्रु की धारा निकल पड़ती है। उनके आँसुओं से तट का जल क्षणभर को खारा हो जाता है। सारी संवदेना का यह परिणाम इसको अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ बना देता है। स्मृति-जन्य संवेदनाओं के अन्तस्सम्बन्धों को इस ढंग से गुंफित किया गया है कि सब मिलाकर वे अत्यधिक मर्मस्पर्शी बन गए हैं।

यही बात अंतिम दोहे के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस दोहे का मर्म 'करके मीड़े कुसुम लौ' में निहित है इसका बिम्ब इतना संवेदनशील है कि विरह वेदन अपनी पूर्णतया में व्यक्त हो उठती है।

NMDC-065

18. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हिंदी साहित्य की लगभग एक सहस्त्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का विभाजन करते हुए ऐतिहासिकों ने उसे प्राय: तीन वृहत् खंडों में विभाजित किया है—आदि, मध्य और आधुनिक। आदिकाल की ऐसी साहित्यिक सामग्री जिसे निर्भ्रांत रूप से हिंदी साहित्य के आभोग में गृहीत किया जा सके एक तो प्रभूत परिमाण में उपलब्ध नहीं, दूसरे जो उपलब्ध हैं उसका प्रामाणिक छानबीन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि उसमें से बहुत कुछ परवर्ती रचना है, उसमें का संवृद्ध अंश अधिकतर मध्यकाल में निर्मित हुआ। तात्पर्य यह कि यदि राजनैतिक साहित्यसेवियों के बहकावे में न आकर जैनों को सांप्रदायिक और अपभ्रंश की रचनाओं का मोह छोड़ दिया जाए तो आदिकाल में हिंदी साहित्य की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है और साहित्य के निर्विकृत आभोग के भीतर आने वाले कर्ताओं के नाम भी इने गिने ही हैं। जितने कर्त्ताओं की गणना की जाएगी उनमें विद्यापति को छोड़कर शेष में साहित्य का उत्कर्ष उत्तम कोटि का नहीं मिलेगा। मानदंड चाहे शिथिल भी कर दिया जाए तो भी तीन चार से अधिक उच्चकोटि के कर्ता उस-युग में नहीं दिखाए जा सकते।

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया। केवल पद्यबद्ध रचनाएँ ही उसमें नहीं रहीं, गद्य में भी बहुत कुछ लिखा जाने लगा। नाटक लिखे और खेले भी जाने लगे। पद्यबद्ध रचना अर्थात कविता के क्षेत्र में ही इतने प्रकार की और इतने परिमाण में रचनाएँ होने लगीं कि भारत की किसी भी भाषा का साहित्य हिंदी में हुई रचना के परिमाण में आधुनिक युग में भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि का जितना वाङ्मय आधुनिक युग में प्रस्तुत हुआ उसमें तथा कविता में भी जितनी कृतियाँ लिखीं गई उनमें भी अधिकांश अधिकतर नहीं तो भी पर्याप्त परिमाण में ऐसी रचनाएं हुई हैं जिनके शुद्ध साहित्य की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपना कतृत्व दिखाने नहीं बैठे हैं, अनेक प्रकार की राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक विचारधाराओं से प्रेरित होकर उन्होंने उस प्रकार की रचनाएँ की हैं। आज शुद्ध साहित्य की रचना को पृथक करने का कोई मानदंड तक हिंदी-वालों के पास नहीं रह गया है। फल यह है कि साहित्य के नाम पर ऐसी रचनाएँ भी गृहीत हो रही हैं जो निर्विकारात्मक चित्त से उसमें कथमपि संग्रहीत नहीं की जा सकती। आलोचना के शास्त्रीय या पारंपरिक या साहित्यिक मानदंडों को त्यागकर बहुत से राजनीतिक साहित्यसेवी अपना प्रातिभ मानदंड लेकर साहित्य में साहित्य के अतिरिक्त कला यहाँ तक कि विज्ञान को भी समेट लेने की उदारता दिखलाकर अपने प्रचार के हथकंडे निकाल रहे हैं और रस की सात्विक सरणि का

NMDC-065

उद्घोष छोड़ मानवता का चाकचिका सामने कर सबसे बड़े पंडित बनने की लिप्सा में उछल कूद मचा रहें हैं। इतना होने पर यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की सूची बनाई जाए तो ऐसी की संख्या 15-20 से किसी प्रकार अधिक न होगी।

अब मध्यकाल में आइए। उसके दो टुकड़े किए गए हैं- पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल पूर्वमध्यकाल का नाम भक्तिकाल रखा गया है। उसमें अधिक परिमाण में भक्ति की रचनाएँ हुई इसी से उसको यह नाम दिया गया है। पर भक्तिकाल की वे रचनाएँ जो इड़ा-पिंगला-सुषमा के गोरखधंधे में ही सामाजिक को फंसाए रखने वाली हो शुद्ध साहित्य में गृहित नहीं हो सकती सहित्य के भीतर सनिधिध होने के लिए किसी रचना में सर्वसामान्य भावसत्ता का आधार अनिवार्य है। फिर भी यदि ऐतिहासिकों के समान की दृष्टि से इन्हें भी साहित्रू के आभोग में माना ही जाए तो भी इन्हें मिलाकर भक्तिकाल में यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की गणना की जाएगी तो 25-30 से अधिक संख्या फिर भी नहीं हो सकती ।

अब उत्तर मध्यकाल को लीजिए। इसे रीतिकाल या श्रृंगारकाल नाम दिया गया है। सच पूछा जाए ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिंदी साहित्य के सहस्त्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं। इन कर्ताओं में से यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं को छाँटा जाए और बहुत अनुदार होकर छाँटा जाए तो भी उनकी संख्या 75-80 से किसी प्रकार कम न होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में अन्य कालों में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से काव्य का निर्माण करने वालों की संख्या में रीतिकाल में इसी दृष्टि से निर्माझ करने वालों की संख्या की अपेक्षा निश्चय ही न्यून-न्यूनतर है। एक ही युग में एक से एक उत्तम कर्ता संख्या में सबसे अधिक इसी उत्तरकाल या श्रृंगारकाल या रीतिकाल में हुए। हिंदी का सच्चा साहित्ययुग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था। मेरे गुरूदेव लाला भगवानदीन जी कहा करते थे कि जिसे इस युग के रीतिकाव्य का ज्ञान नहीं वह हिंदी का साहित्यज्ञ नहीं। जिसे इसका ज्ञान है उसे अन्य का ज्ञान अल्पप्रयास से ही हो जा सकता है। रीतिसाहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्प्रयास की अपेक्षा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लालाजी की कसौटी पर यदि कहा जाए तो संप्रति हिंदी साहित्य की गद्दियों पर बैठे कई महंत अपने दरबारियों सहित उसके अनाधिकारी की सिद्ध होंगे।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सभी इतिहासकारों ने किसी न किसी रूप में भक्ति और रीति का नामोल्लेख तो किया है पर उस युग में प्रवाहित होने वाली एक साहित्यधारा को एकदम भूल नहीं गए हैं। मध्यकाल में तत्वत : तीन प्रकार की काव्यधाराएँ प्रवाहित थी - एक थी भक्ति की दूसरी

NMDC-065

थी रीति की और तीसरी थी स्वच्छंदवृत्ति थी। भक्ति की धारा का हिंदी-साहित्य में कितना ही महत्व क्यों न हो यह तो मानना पड़ेगा कि भक्ति ही उसका साध्य थी, कविता उसके लिए साधन मात्र थी। पर रीति की धारावालों का साध्य काव्य ही था, साधन भी काव्य ही था। काव्य की साधना में भी साध्य और साधन दोनों पर सम्यक दृष्टि रखनी होती है। रीतिधारा के कर्ताओं ने साधन पक्ष पर जितना अधिक ध्यान दिया उतना अधिक उसके साध्य पक्ष पर नहीं। रीतिधारा के अर्थ ही है काव्योक्ति की धारा अर्थात काव्यसाधन की धारा। ये लोग काव्य को रीति अर्थात उनके साधन पर विशेष ध्यान रखने वाले थे। काव्य का साध्य उसका अंतरंग-पक्ष होता है, साधन उनका बहिरंग पक्ष होता है। इस प्रकार ये जितना अधिक ध्यान काव्य के बहिरंग पर रखते थे उतना अधिक उसके अंतरंग पर नहीं। काव्य का बहिरंग पक्ष नाना प्रकार के नियमों के आधार पर चलता है। उन नियमों और विधियों में किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीति के कर्ता सारा खेल बिगड़ा समझते हैं। इन नियमों और विधियों को ध्यान में रखना और उनके अनुसार सारा संभार करना पुरुषार्थ का कार्य होता है। उनमें रचना करने वाले को अपनी बुद्धि चारो ओर से समेटकर लगना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि काव्यशक्ति के अतिरिक्त उसके उत्पाद्य पक्ष पर, निपुणता और अभ्यास पर, इनकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। यहाँ तक कि यदि किसी में काव्यशक्ति न्यून भी हो तो वह निपुणता और अभ्यास के बल पर 'कविराज' बन जा सकता है। या ठोंक पीटकर वैद्यराज (अपर पर्याय 'कवि–राज') बनाया जा सकता है। ये लोग कभी कभी कुछ बातें सीखकर कविता करने में लग जाया करते थे। ठाकुर कवि ऐसों के लिए कह गए हैं–

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेर औ कुबेर गिरि आनो है
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलता सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है।।

स्वच्छंद धारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था। पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया। साधन पर ये ध्यान न देते हों सो नहीं, उसपर भी ध्यान रहता था। पर स्थिति यह है कि जो साध्य पर ध्यान रखकर साधन पर ध्यान रखता है उसका साध्य साधन का समन्वय बना रहता है, किन्तु जो साधन पर ध्यान अधिक रखता

NMDC-065

है धीरे धीरे साध्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। साध्य चुपचाप खिसक जाता है, हाथ में केवल साधन बच रहता है। इसे यों समझें कि एक का अंगी साध्य और अंग साधन, दूसरे का अंगी साधन और अंग साध्य। पहले को इसी से साधन के लिए पृथक प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती, साध्य ठीक है तो दंडापूपिकान्याय से साधन भी उसके साथ आपसे आप आ जायगा। बहुत आधुनिक ढंग से सोचें तो कहेंगे कि इनके यहाँ साध्य साधन में परमार्थतया भेद नहीं है, प्रत्युत अभेद है। रीतिधारावाले जिस साज सज्जा में लगते हैं उसमें बुद्धि का योग अधिक करना पड़ता है, उनकी रचना बुद्धिबोधित होती है, इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धीरे धीरे हटने लगता है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर। पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि–

'रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।'

स्वच्छंद काव्य भावभावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं, इसलिए आंतरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आंतरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छंद काव्य की सारी साधनसंपत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कहेंगे कि स्वच्छंद वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है, उसी के सहारे उनकी सारी कृति की छान बीन की जा सकती है। रीतिकाव्य के कर्ताओं का मूल आधारभूत तत्व है भंगिमा। स्वच्छंद कर्ता में भंगिमा कहीं कदाचित न भी हो, पर अनुभूतिशून्य उसकी रचना नहीं हो सकती। रीतिकर्ता में अनुभूति चाहे न भी हो, पर भंगिमा अवश्य रहेगी। बिहारी ऐसे कवियों में भंगिमा चाहे अनुभूतिपूर्ण हो चाहे शुद्ध भंगिमा ही हो, पर उसमें साहित्यिक चारुत्व अपने चरम उत्कर्ष पर ही दिखाई देता है, इसी से उनकी रचना सर्वत्र आकर्षक है। पर बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी भंगिमा केवल वर्णसौंदर्य तक ही रुक गई, वह ऐसी पेशलता न ला सकी जिससे उसमें सहृदयों के लिए वांछित आकर्षण होता। अनुभूति में बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खींच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है। उसके लिए किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा नहीं। भंगिमा हृदय से ईरित भी हो सकती है और बुद्धि से प्रेरित भी। हृदय से ईरित भंगिमा आकर्षक होती है पर यह सीधे हृदय में नहीं पहुँचती उसके लिये माध्यम की अपेक्षा होती है। वह बुद्धि के, नियम- विधि के, शास्त्र के माध्यम से हृदय में पहुँचता है। उसके लिए जैसे कर्ता को शास्त्रविधिनिष्णात होना चाहिए वैसे ही ग्राहक को भी शास्त्रचिंतनदीष्ण होना चाहिए। अनुभूति के लिए न कर्ता को उसकी (शास्त्र-विधि की) विशेष आवश्यकता है और न ग्राहक को।

तो क्या शास्त्राभ्यासशून्य होना चाहिए संवेदनशील स्वच्छंद कवि को? नहीं, शास्त्र का अभ्यास तो समुचित मात्रा में सभी को करना चाहिए। स्वच्छंद कर्ता को भी और उसके ग्राहक को भी।

NMDC-065

पर शास्त्र के सहारे अपना कर्तृत्व दिखाने में लगना अनुभूति या संवेदना का लक्ष्य नहीं होता। संवेदना संवेदना की स्थिति में संपादन में लगती है, शास्त्र की स्थिति के संपादन में नहीं! दोष शास्त्र स्थिति का संपादन है, शास्त्राभ्यास या शास्त्रज्ञान नहीं। रीतिकाल के लिए दोष की संभावना रहती है वह यही है। इसी से प्राय: रीतिकाल इस दोष से जकड़ जाते हैं।

स्वच्छंदवृत्तियों वालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है। पर मध्यकाल के इन स्वच्छंद कर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, ये प्रेम की पीर के पक्षी थे। हिंदी-साहित्य में आदिकाल में विद्यापति 'प्रेम संवेदना' के कवि दिखाई देते हैं। पर प्रेम की यह संवेदना पारंपरिक रूप में मध्यकाल के स्वच्छंद गायकों को नहीं मिली है। प्रेम की यह संवेदना फारसी साहित्य और सूफी-साधना के प्रवाह से संबद्ध है। भारतीय प्रेम-संवेदना और फारसी प्रणय-संवेदना का और चाहे जो पार्थक्य हो, पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-संवेदना रहस्यात्मक वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की संवेदना चाहे जितनी तीव्र हो वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करती। पर फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के संपर्क में आने के अनंतर भारतीय साहित्य पर और भारतीय भक्तिप्रवाह पर भी इसका प्रभाव पड़ा। हमारे मुसलमान बंधुओं के आगमन के अनंतर भी जब तक इस 'प्रेम की पीर' के संपर्क में हमारा साहित्य और हमारी भक्ति नहीं आई थी तब तक उसका अपना नैसर्गिक रूप बना हुआ था। नाथ सिद्ध भक्ति की सहज धारा को प्रभावित करते करते भी बहुत अल्पांश में प्रभावित कर सके और साहित्य को तो उन्होंने कुछ भी प्रभावित नहीं किया। इसी में जयदेव और विद्यापति की रचना रहस्यात्मक रूप नहीं पकड़ सकी! जो लोग इसमें अध्यात्म अर्थात रहस्य की खोज करते हैं वे सत्ययुग में कलियुग ढूंढ निकालना चाहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मेल जितना अधिक निर्गुण-साधना से बैठता है उतना अधिक सगुण साधना से नहीं। भक्ति के कुछ सगुण संप्रदायों या प्रवाहों में जो रहस्यात्मक साधना ने घर कर लिया है वह परवर्ती प्रभाव है और भक्ति-संप्रदायों की भाव-साधना में वह अपना आरोपित रूप सहज ही स्पष्ट कर देती है। सगुणभक्ति की साधना में अधिक गुह्य साधना चल नहीं पाती और यदि उसमें कुछ थोड़ी बहुत चलती भी हो तो भारतीय साहित्य की व्यक्त शब्द साधना इसका बोझ बहुत अधिक और बहुत दिनों तक नहीं सँभाल सकती। इसी से मध्यकाल के स्वच्छंद प्रवाह में रहस्य की झलक भर मिलती है। आधुनिक युग में भी छायावाद के साथ जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति प्रबल हुई वह बहुत दिनों तक टिक न सकी। केवल महादेवी वर्मा अभी तक उसे ढोए चल रही हैं। पर वहाँ भी परिमाण अत्यंत क्षीण हो गया है।

स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घनआनंद, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं।

NMDC-065

इन सबमें श्रेष्ठ घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। रसखानि में साहित्यिक निखार न होकर संवेदना की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। श्रेष्ठता का वास्तविक कारण घनआनंद के साहित्य-श्रुतता है। उक्त छहों कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इस साहित्यश्रुति का प्रभाव उनकी रचना के प्रत्येक अवयव पर पड़ा है। पर उनकी रचना के दो प्रकार हैं— एक प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति, भरी भक्ति संवेदना की व्यक्ति। इनकी भक्ति संवेदना की व्यक्ति रसखानि के बहुत निकट है । प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति साहित्यिक भंगिमा संवलित है और भक्ति-संवेदना की व्यक्ति में उस भंगिमा की कमी या अभाव लक्ष्यभेद के कारण है। एक की रचना सहृदयों के लिए है दूसरी की कोरे भक्तों के लिए एक सम्यक अनुभूति के लिए है दूसरी संकीर्तन के लिए। घनआनंद की कृति में केवल रसखानि की सी ही रचना नहीं मिलती, उसमें आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव सबकी उत्कृष्ट विशेषताओं का समावेश हो गया है। पर घनआनंद की विशेषता ऐसी है जो न रसखानि में है, न आलम में, न ठाकुर में, न बोधा में, न द्विजदेव में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो उक्त स्वच्छंद गायकों से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक और श्रेष्ठ है वह रीतिकाव्य के कर्ताओं से अपनी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के कारण निश्चय ही पृथक और श्रेष्ठतर है। इसका अनुभव स्वयं घनआनंद ने भी किया था जिसे उन्होंने अपनी इस पंक्ति में व्यक्त कर रखा है—

लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

उनकी रचना अर्थात उनकी प्रेम-संवेदना के कवित्तों के संग्रहकर्ता श्री ब्रजनाथ ने भी उनकी पृथक्कता को लक्षित किया था—

जग की कविताई के धोखें रहै ह्यौं प्रवीनन की मति ज़ाति जकी।

कविता में लगकर उसका निर्माण करने वाले रीतिवेत्ता ही थे और 'जग की कविता' साहित्य संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनआनंद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर सकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोध की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेम संवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके संबंध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

घनआनंद की 'कविताई' में प्रवीणों की मति को जगानेवाली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत सी स्थितियाँ मौन हैं अर्थात उनकी रचना अभिधा के वाच्यरू में कम लक्षणा के लक्ष्य और व्यंजना के व्यंग्य रूप में अधिक है। जो

NMDC-065

लक्षणा-व्यंजना के इन लक्ष्य-व्यंग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखने वाला न होगा। उसके लिए इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रूप स्वयं घनआनंद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है–

उर-मौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सुलसै हुलसै रसरूप मनी।
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।।

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही संभार की बात ! सो सारे शास्त्रीय संभार इनमें हैं – पदार्थ हैं, पर कोमल, चुने हुए मंजुल। उसमें पद अर्थात शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एक से एक मृदु, एक से एक मंजु। कोई कहे कि इसमें अवर अंश वाच्यार्थ-मात्रविशिष्ट अलंकार न हों, सो बात भी नहीं है। इसमें अलंकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलंकार, रत्नजटिल हैं, चमचमानेवाले हैं, दीप्ति करने वाले हैं। रत्न या मणि है क्या?–'रस'। अलंकार की सारी योजना रस की दीप्ति के लिए है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूल्हन रसना सखी के साथ साथ जाती है। रसना-सखी के संग, जीभ के संग नहीं – रस की ओर ले जानेवाली रसना – रसाश्रय हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुंचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसिक (बना, धनी स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि विधानों से अभिज्ञ है। वही इस पर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव भंगिमा को समझता है। बूझनि–प्रतीति, रसप्रतीति–गोद में, काव्यप्रतीति के अंक में, उसे लेकर विलसता है। घनआनंद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही, उसके मार्ग को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है? वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता समर्थ कर्ता नहीं और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सूक्ष्म-ग्रहीता नहीं, सहृदय नहीं। घनआनंद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परंपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बंधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढ़ता समझने के संबंध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनआनंद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की प्रशस्ति यों करते हैं–

NMDC-065

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तु अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात विचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि वीच बसे घनआनंद मौन बखान सु देखि लै।

वाणी की गति अत्यंत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दु:संभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है, और बात की बात में संभव कर दे सकती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्‌घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयं एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलख का, निराकार का, लेखा जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से संभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत भले ही अनिर्वचनीय हो पर वह (ब्रह्म) अनिवर्चनीय नहीं है। वह अज्ञेय चाहे हो, पर अवाच्य नहीं है। अच्छी से अच्छी, ऊँची स्थिति को सर्वत्र वाणी ही बात की बात में बतला सकती है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वाणी अपनी विशेषता न दिखला दे। जो और प्रकार से इंगित नहीं किया जा सकता वाणी उसे इंगित करती है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' को, अज्ञेय-अपरिमेय को, इन शब्दों से इंगित करने वाला कौन है, वाणी ही न ! जो मन का, चित्त का, बुद्धि का विषय बन सके उसे भी वाणी का विषय बनना ही पड़ता है। वह मन, चित्त, बुद्धि का विषय नहीं है इसे वाणी ही बतलाती है। वाणी नेत्रों में कान लगा सकती है, और उन कानों को मौन की पुकार वाणी ही सुना सकती है, मौन के बखान को वाणी ही दिखा सकती है। वाणी क्या नहीं कर सकती?

घनआनंद की आवृत अर्थसंपत्ति की, उनके मौन की, विशेषता बताते हुए वाणी की विशेषता तक पहुँचना पड़ा। इसका कारण यह है कि उनकी विरहसाधना और काव्यसाधना में समरसता है। 'बेरही विचारन की मौन में पुकार है' यहीं तक उनकी वाणी नहीं है, वह स्वयं 'मौन की पुकार' में लीन है, 'उर भौन में मौन के घूँघट में' अपने को छिपाए हुए है। ठीक इसी प्रकार विरही विषम प्रेम की साधना में विषम परिस्थितियों का सामना करता है तो कवि भी विषम प्रेम की साधना में अभिव्यक्ति में विषम शब्दसाधना करता है। घनआनंद की रचना की यह वैषम्यमूलकता या विरोध वृत्ति केवल शब्दसाधना नहीं है। प्रेम की विषमता और इस विरोध वृत्ति साम्य है। हिन्दी के अन्य मध्यकालीन स्वच्छंद कवियों में विरोध वृत्ति सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है। घनआनंद की रचना में यह सार्वत्रिक है, यहाँ तक की उनके कीर्तन की कोरे भक्तिभावित पदों में भी यह बहुधा मिल जाती है। इस विरोध-वृत्ति के लिए उन्होंने लक्षण का सहारा लिया है और लक्षण के जैसे चमत्कार उन्होंने दिखलाए हैं, हिंदी साहित्य के प्राचीन काल

NMDC-065

के किसी कवि में उतने लाक्षणिक वैलक्षण्य तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं उनमें भी यह विशेषता नहीं है जो घनआनंद में प्रयोग में मिलती है।

पहली ध्यान देने की बात यह है कि घनआनंद की कविता भले ही फारसी काव्य और सूफी साधना की प्रेरणा से हिंदी में निर्मित हुई हो, पर उन्होंने ज्यों की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी के मुहावरे उठाकर उन्होंने हिंदी में नहीं धर दिए। वे फारसी प्रवीण थे, उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे ब्रजभाषाप्रवीण भी थे। ब्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित कर लेने के लिए भाषा प्रवीण भी थे ; घनआनंद के प्रयोग ब्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं है, ब्रजी के प्रवाह के अनुकूल गढ़े हैं। उनका अंत:करण भारतीय था, वेश-भूषा भी भारतीय थी। ढंग-ढर्रा कुछ बाहरी रहा हो तो हो, पर वह भी कृष्ण-राधा के प्रेमतत्व में सर्वात्मना भारतीय बन बैठा।

इस भारतीयता के भाषागत सौंदर्य के लिए लाक्षणिक प्रयोगों का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। फारसी में और उसकी अनुकृति पर उर्दू में जिस प्रकार की लाक्षणिकता दिखाई देती है वह भारतीय लाक्षणिकता से भिन्न है। फारसी उर्दू में जिस लाक्षणिकता का विकास हुआ वह मुहावरों को आधार बनाती है। मुहावरों में प्रयोजनवती और रूढ़ि दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हो सकती हैं, पर अधिकतर लक्षणाएँ रूढ़ि के खाते में जाती हैं। जिस प्रकार का प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा हो उसी की अनेक प्रकार के मिश्रण द्वारा नवीन रूप में लाना फारसी-उर्दू की विशेषता है। मुहावरों के अधिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि फारसी उर्दू में रचना लक्षणाप्रधान होती है। लक्षणाप्रधान होने पर भी परंपरा के आश्रय में रहने के कारण व्यंजना में अर्थात उन लाक्षणिक प्रयोगों से निकलने वाले व्यंग्यार्थ में संलक्ष्यक्रमता स्पष्ट रहती है और एक साथ अनेक व्यंग्यार्थ के उपस्थित होने पर भी संदेह के लिए स्थान नहीं रहता। हिंदी में आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण जिस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाने लगे कि उनमें रूढ़ि के बदले प्रयोजनवती पर अधिक ध्यान है। प्रत्येक कवि अपने नए नए प्रयोजन के लिए नई नई लक्षणाएँ करता है। परंपरा का साथ न होने से ऐसे स्थल प्राय: सामने आ जाते हैं कि उनके व्यंग्यार्थों में संदेह बना रहता है। अँगरेजी भाषा लक्षणाप्रधान है, फारसी से अधिक। वह परंपरा के निर्वाह का आग्रह नहीं करती। फल यह है कि किसी आधुनिक छायावादी कवि के प्रयोगों के संबंध में ऐसे स्थल प्राय: आ जाया करते हैं जहाँ व्यंग्यार्थों में से किसी एक का निश्चय करना कठिन हो जाता है। भारतीय भाषा लक्षणप्रधान न होकर व्यंजनाप्रधान है। इसका अर्थ यह है कि उसके लाक्षणिक प्रयोगों का व्यंग्य बहुत कुछ नियत है। लक्षण से एक व्यंग्य निकलने पर दूसरा व्यंग्य, फिर तीसरा व्यंग्य इस प्रकार अनेक व्यंग्य निकलते जाते हैं। एक साथ कई व्यंग्यार्थ सामने आकर प्राय: संदेह नहीं खड़ा करते।

NMDC-065

घनआनंद ने मुहावरों में प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दू वालों ने किया – फारसी के बहुत से मुहावरे चुपचाप देशी भाषा के रूप में उल्था करके रख दिए। उन्हीं की कृतियों को छानबीन करके उर्दू का कोश प्रस्तुत करने वाले 'फरहंगे आसफिया' के संपादक इसी से उर्दू के मुहावरों को फारसी के मुहावरों का उल्था कहते हैं, यद्यपि उर्दू में भी सबके सब फारसी से उड़ाए हुए मुहावरे नहीं हैं। आजमगढ़ में ही यह सब होते देख स्वर्गीय पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी ज्ञान तिलमिला उठा और उन्होंने 'चोख चौपदे', चुभते चौपदे' से ही संतोष न कर 'बोलचाल' नाम की पुस्तक ही लिख डाली, जिसमें हिंदी के मुहावरों का संग्रह ही नहीं उनके प्रयोग द्वारा मार्मिक रचना भी की गई है। घनआनंद ने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके, उसके चलते मुहावरों का विनियोग करके जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया हैं वह स्थान-स्थान पर दर्शनीय है–

रावरे पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

एक ही उदाहरण से उनके प्रयोग की विशेषता स्पष्ट हो जाएगी। पेट की न बूझ पड़ना, पचाना और भूखे डोलना तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं। किसी के पेट की बात समझ में नहीं आ सकती जब उसके पेट में अन्य पेटों से विलक्षणता हो। यदि कोई निरंतर खाता हो और खाए को पचाकार भूखा फ़िरता हो तो अचरज होने की बात ही है। निरंतर खाने वाला यदि भूखा फ़िरता है तो उसकी पाचनशक्ति या तो बहुत अधिक है या उसे कोई रोग है। रोग होने पर उसका प्रभाव बाहरी अंगों पर स्पष्ट दिखाई देता है। वे पीले पड़ जाते हैं, रक्त नहीं बनता, मोटा होने के बदले वह दिन दिन दुबला होता जाता है, उसे भस्मक रोग से ग्रस्त समझना पड़ता है। प्रिय में ये लक्षण व्यक्त नहीं हैं इससे स्पष्ट है कि पाचन-शक्ति ही बढ़कर है। प्रिय रीझ पचाता चला जा रहा है। एक रीझ, दूसरी रीझ, तीसरी, चौथी रीझों की परंपर उसके सामने आती है, वह पचाता जा रहा है। फिर भी उसकी बुभुक्षा शांत नहीं, नए नए प्रेमियों को खोजता फिरता है, एक की रीझें पचा गया, दूसरे की पचा गया, तीसरे की पचा गया। रीझ पचाने की कोई चीज नहीं है। कोई खाद्य नहीं है। अभिधेयार्थ बैठता नहीं, इसलिए पचाने का अर्थ '(रीझ से) प्रभावित न होना' करना पड़ता है। एक प्रेमी के रीझने से प्रभावित नहीं, दूसरे के रीझने से प्रभावित नहीं। रीझ उसके मन पर कोई प्रभाव ही नहीं डालती। इसलिये 'पेट' का अर्थ 'मन' करना पड़ता है। भूखे डोलने का अर्थ 'नए नए प्रेमियों' की रीझ की खोज में प्रवृत्त रहना' मानना पड़ता है। घनआनंद के चलते मुहावरों से नित्य व्यवहार के प्रयोगों से, साधारण वाग्योगों से असाधारण कार्य साधन किया है। यहाँ अर्थपरंपरा एक के अनंतर दूसरी आपसे आप निकलती है। आपके पेट अर्थात मन की बात समझ में नहीं आती क्यों नहीं समझ में आती? इसी से

NMDC-065

इस प्रकार का प्रभावग्रहणपराङ्मुख कदाचित ही कोई मिले। इससे आप सहृदय नहीं हैं; असहृदय हैं, क्रूरस्वभाव हैं, वज्रकठोर हैं। ऐसे निर्दय से प्रेम ! अपना अभाग्य ! अपने पास रीझ ही संपत्ति थी, उससे कुछ सिद्धि नहीं, अत: जीवन भर दु:ख भोगना ही हाथ। इसी क्रम से अनेक अर्थ— एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा — निकलते रहते हैं।

प्रिय की बुभुक्षा का तो यह हाल, प्रेमी की बुभुक्षा का इससे भी विकट हाल। पूरा भस्मक रोग ही हो गया है— "देखिये दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं।" भस्मक रोग वह है जिसमें रोगी सामान्य भोजन का कई गुना करने लगता है, पर उसकी भूख शांत नहीं होती। वह नित्य दुबला होता जाता है। उसके शरीर में रक्त नहीं बनता। ऐसे रोगी से लंघन नहीं कराया जाता। भोजन देते हैं, औषध करते हैं। क्रमश: उसका रोग शात होता है। लंघन करने से तो रोग असाध्य हो जाता है। यदि ऐसे को यह रोग हो जो बड़ा चटोर हो, पेटू हो तो रोग दु:साध्य रहता है। पेटू भी कई प्रकार के होते हैं— साधारण और असाधारण। असाधारण पेटू के लिये तो भारी कठिनाई होती है। यहाँ आँखें केवल पेटनी, पेटू नहीं हैं, निपेटनी हैं, नितराम पेटू हैं। फिर भी कभी कभी नहीं नित्य लंघन और रोग भस्मक ! असाध्य स्थिति स्पष्ट है। 'भसमी' शब्द से ही भस्मक रोग का संकेत कर दिया गया है : कई शब्दों के अर्थ वाच्य से लक्ष्य-व्यंग्य आपसे आप हो जाते हैं। आँखें प्रियदर्शनेप्सु हैं, अतिदर्शनेप्सा है उनमें, पर प्रिय के दर्शन कभी नहीं होते। विरह की दाहक स्थिति, भीषण जलन आँखों में। प्रिय के दर्शन के अंजन से कुछ लाभ हो सकता है, पर वह अप्राप्य। इसलिए अब आँखें रहें इसमें संदेह है। प्रियदर्शन ही से संतोष हो सकता है, पर वह भी दुर्लभ। प्रिय के रूप पर रीझा है प्रेमी, प्रेम का कारण रूपलिप्सा है। आँखों को हुए अधिक कष्ट से यह संकेत मिलता है। यहाँ 'भस्मी' शब्द से सहसा भस्मक रोग पर सबका ध्यान नहीं जा सकता, पर ध्यान न भी जाए तो पेट की भस्मी व्यथा बुभुक्षा, भीषण बुभुक्षा अर्थ पर पहुँचने में कोई बाधा नहीं है। जहाँ तीखी बुभुक्षा पर ध्यान गया सारी योजना स्पष्ट है। केशवदास में कोई शब्द पारिभाषिक अर्थ से संबद्ध हुआ तो उस शास्त्र का ज्ञान बिना हुए अर्थ ही नहीं खुलेगा। घनआनंद में यह बात नहीं है। घनआनंद में जहाँ कोई पारिभाषिक शब्द भी आ पड़ा है वहाँ भी प्रसंगप्राप्त अर्थ बलात्कृत नहीं होता।

वाणी का प्रयोग जैसा यह कवि कर गया, कोई क्या करेगा ! अपनी विरहवेदना की असीमता को न जाने कितने प्रकार से इन्होंने व्यक्त किया है। कहते हैं—

> जो दुख देखति हौं घनआनंद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
> जान वई दिन-राति बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर।।

NMDC-065

जिस समय वह पीड़ा सही जा रही है उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अनन्तर फिर किसी दिन या किसी रात में जब उसकी अनुभूति की जायगी तो वैसी अनुभूति नहीं हो सकेगी! जिस समय अनुभूति हुई उसी समय अनुभूति का वह प्रकृत रूप अनुभूत था। उसके अनन्तर स्वयं अनुभव करने वाला भी चाहे तो उसका वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता। स्मृति के समय उस विरहानुभूति का प्रकृत रूप कथमपि अनुभूत नहीं हो सकता। जिसका अनुभव ही पुनः नहीं किया जा सकता उसे वचनों के द्वारा कहना तो और भी कठिन है। करने वाले को ही कहना हो तो भी वह कुछ कह सके। अनुभव हृदय में और कहना जीभ को। भला जीभ उसे क्या कह सकेगी? फलतः अनुभूत दशा और कथित रूप में दिन और रात का अंतर हो जाता है।

जहाँ अनुभूति की यह स्थिति हो इस मनुष्य के संयोग और वियोग को पतंग और मीन से मिलाना घनआनंद को असहृदयता जान पड़ती है। मनुष्य चेतन प्राणी ही नहीं है, वह चेतन सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। सृष्टि के विकास में सबसे अंत में अपनी विकसित चेतना लेकर अवतीर्ण हुआ है। वह अपने लिए सुख के साधन एकत्र करने में ही अन्य प्राणियों से विशिष्ट नहीं है। दुःख के सहने में भी वह अन्यों से बहुत बढ़ा चढ़ा है। रीतिकाल के शास्त्रपरंपरानुयायी 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की' को आदर्श मानते थे। घनआनंद ने इसी से इसका खंडन किया है—

> मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह ब्रापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
> वह रूप-छटा न सम्हारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
> घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी है थरसै।
> बिछुरें-मिलें मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कों परसै।।

कहाँ तो 'बिछुरें मिलें मीन पतंग-दसा' को कोई आदर्श दशा, सबसे ऊँची दशा, मान रहा है। आदर्श वही होता है जहाँ तक सामान्यतया पहुँचा न जा सके। मीन और पतंग की साधना दूसरों की दृष्टि में चाहे जितनी ऊँची हो, पर घनआनंद की दृष्टि में वह इतनी नीची है कि मनुष्य की संयोग-वियोग-साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबर होना तो दूर, ऊँची होना असंभव। उसके लिए तर्क देते हैं कि मीन तो प्रिय से वियुक्त होते ही मरण में विश्रांति लेता है, पर मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर उसके लिए बराबर तरसता रहता है। अन्यों ने अन्तर यह समझ रखा है कि मीन प्रिय के वियोग में मर जाता है और मनुष्य मरता नहीं इसलिए उसका विरह घटकर है। स्थिति यह है कि विरही मरण से बढ़कर पीड़ा सहता रहता है और इस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। पर मीन तो मरा और सारे कष्टों से उसे छुट्टी मिली। उसमें पीड़ा के सहने की शक्ति नहीं, वह अशक्त विरही है। उसकी एवं मनुष्य की क्या बराबरी। रहा पतंग। वह प्रिय के रूप को देखकर उसकी छटा से आकृष्ट होकर अपने को सँभाल नहीं पाता। इसलिये उसमें, दीपशिखा में जाकर वह गिर पड़ता है। मीन विरह नहीं सँभाल पाता, पतंग

NMDC-065

रूपछटा नहीं सँभाल पाता। ऐसा उतावला मनुष्य नहीं होता। वह प्रिय के रूपतेज से तपता रहता है। फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और साथ ही आँसू बरसाता रहता है। उसके तेज से तपने और आँसू बरसाने से यह स्पष्ट है कि वह पीड़ा पा रहा है। उसकी वेदना पतंग की वेदना से, जो उसे दीपशिखा में जलने से होती है, कहीं बढ़कर है। फिर भी वह रूपज्वाला में भस्म होकर शरीर परित्याग नहीं करता। मीन-जल की साधना भारतीय परंपरा का उदाहरण है और पतंग-दीप का प्रणय फारसी परंपरा का दृष्टांत है, शमा परवाना वहाँ प्रतीक हैं। दोनों को सामने रखकर घनआनंद ने मनुष्य की साधना का महत्व दिखाया है। परंपरा न भारतीय स्वीकृति की न अभारतीय, अपनी स्वच्छंदता के कारण। पर भारतीय आशावाद का परित्याग नहीं किया। मीन और पतंग की साधना में नैराश्य की झलक है। पर घनआनंद ने इस नैराश्य का ग्रहण नहीं किया। वे अन्यत्र कहते हैं–

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर-सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानै।।

जल के अपर्याप्त होने पर मीन विवश हो जाता है। उसकी यह विवशता मनुष्य की आकुलता का क्या किंचिन्मात्र साम्य कर सकती है? कभी नहीं। प्रेम की साधना में प्राण का परित्याग करना कायरता का चिन्ह है। इससे जल (प्रिय) को कलंक लगता है, मीन (प्रेम) को कलंक लगता है और उसके प्रेम की कलंक लगता है। मनुष्य विरहसाधना में इस प्रकार का कलंक किसी को नहीं लगने देना चाहता। मीन का प्रिय सच पूछिए तो जड़ है। न प्रिय प्रीति की रीति समझता है और न प्रेमी। जड़ की उपासना करने से मीन भी जड़ हो जाता है। परिणाम यह है कि प्रिय के हाथ में ही वह अपने को समर्पित किए रहता है, उसकी चेतनता प्रिय के जड़त्व में ही विलीन हो जाती है। इसी से केवल प्रिय को पाने में छटपटाता हुआ मर जाता है। उसके छटपटाने में क्या कष्ट है इसे जल न पहले समझता था और न उसके छटपटाकर मर जाने पर ही समझता है। पर मनुष्य के विरहजन्य कष्ट का अनुभव उसका प्रिय करता है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि जैसी वेदना प्रेमी को हो रही है ठीक ठीक उसका अनुभव और कोई नहीं कर सकता, यदि उसकी ठीक अनुभूति किसी और को हो सकती है तो प्रिय को ही। प्रेम की अनुभूति करने वाला, समान अनुभूति करने वाला प्रिय यदि आकृष्ट न हो तो विरही के कष्ट का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मीन-जल और पतंग-दीप में एक पक्ष जड़, दूसरा पक्ष चेतन होने पर भी चेतन पक्ष वैसी चेतना का धारणकर्ता नहीं है जैसी मनुष्य को होती है। इसलिए मनुष्य की प्रेम साधना उनकी प्रेम साधना से मिलाना मनुष्य का अपमान करना है।

NMDS-065

घनआनद की प्रेमसाधना इसी लिए साधना के रूप में प्रतिष्ठित है। उसकी चरम साधना सामान्य प्रेमप्रवाह से बहुत आगे है। विरह में मंजिष्ठा राग हो जाता है, प्रेम का पूरा परिपाक हो जाता है, या प्रेम का भोग न होने से वह राशीभूत हो जाता है — यह साहित्य परंपरा कहती चली आ रही है, पर वहाँ प्रेम की यह चरम साधना नहीं दिखाई देती जहाँ वियोग में नहीं संयोग में भी वियोग का अनुभव होता रहता है। 'यह कैसी संजोग न बूझि परै कि बियोग न क्यों हूँ बिछोहत है।' प्रिय के वियोग में नहीं संयोग में भी अशांति साथ नहीं छोड़ती। प्रिय के वियोग की आशंका संयोग में भी बनी रहती है। संयोग में भी वियोग का अनुभव ! भक्ति संप्रदायों में प्रिय के क्षणभर के लिए कुंज में छिप जाने पर गोपिकाएँ जो अत्यंत व्याकुल दिखाई गई हैं वह इसी प्रेमसाधना या विरहसाधना के कारण। लौकिक दृष्टि से वह अनिवार्य है। घनआनंद इसी विरहसाधना की गाथा अपनी रचना में गाते रहे हैं। छायावादी रचना में जो पीड़ा का साम्राज्य दिखता है वह किधर का साम्राज्य है यह थोड़ा ध्यान देते ही स्पष्ट हो जाएगा। पर उस साम्राज्य को जैसा स्वकीय रूप घनआनंद ने दिया वैसा उसे छायावादी रचना में नहीं मिल सका। इसका कारण स्पष्ट है। भक्तिकाल के अनन्तर रीतिकाल में सूफियों की निर्गुण भक्ति भारतीय सगुण भक्ति में समा गई। जागतिक प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक निर्गुण की ओर न जाकर सगुण की ओर लौट पड़ा। पर छायावाद फिर से निर्गुण और अज्ञात के चक्कर में पड़ा। अपने लौकिक प्रेम के चरमोत्कर्ष को वह निर्गुण प्रेम में वैसे ही छिपाने का प्रयास करने लगा जैसा सूफियों या फारसी उर्दू के शायरों में था। इसी से आलोचक विवश होकर कहते हैं कि "इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।'' घनआनंद की रचना में दुराव छिपाव का प्रश्न ही नहीं है। वे तो जगत के प्रेम के संबंध में राधा-कृष्ण के प्रेम की, प्रेम की महोदधि की चर्चा यों करते हैं–

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार
बापुरो हहरि वार हीं तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहँ दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हें देखें सरसायौ है
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै स्वरूप ठहरायौ है।।

प्रेम का महोदधि ऐसा अपार है कि उसका पार पाना तो दूर विचार (ज्ञान) इसी तट से, वार से ही, लौट आता है। ज्ञान या बुद्धि द्वारा प्रेम के महासागर का पार पाना कठिन है। उस

NMDC-065

प्रेमसागर में प्रेम से विवश होकर एकरस राधा और कृष्ण अवगाहन करते हैं। प्रेम का यह समुद्र उन्हें देखकर उसी प्रकार सरसाता है, बढ़ाता है, जिस प्रकार चंद्र को देखकर सागर में तरंगें उठतीं हैं, ज्वार आता है। उस प्रेमसागर की तरंग का एक एक कण इतना विशाल है कि अनेक लोकों में जो प्रेम छाया हुआ है वह भी उसके कण मात्र से कम है; वह कण स्वयं ऐसा विशाल समुद्र है कि सारे लोकों में प्रेम को पूरित करने पर भी वह उफनाता रहता है। उन लोकों की सीमा में न समा सकने के कारण वह उबरता है। भूलोक में उसी कण का एक अंश है। जगत के जितने प्रेम हैं उसी के अंग हैं। घनआनंद और सुजान का प्रेम भी उसी कण के स्पर्श से हुआ है। प्रेम के इस स्वरूप की कल्पना मन को मथकर की गई है। यहाँ जिस परम भाव या महाभाव के रूप में प्रेम की चर्चा की गई है वह भक्ति संप्रदायों की प्रेमसाधना का स्वरूप है। उस परम भाव के अंतर्गत सब प्रकार की सत्ताएँ आ जाती हैं। भक्त भावात्मक या प्रेमात्मक सत्ता को ही परम भाव मानते हैं। इसी से ज्ञान उसकी सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता। यह प्रेम या इस प्रेम की साधना साधारण नहीं–

चंदहि चकोर करै सोऊ ससि-देह धरै
मनसाहु ररै एक देखिबे कों रहै द्वै।
ज्ञानहूँ तें आठों जाकी पदवी परम ऊँची
रस उपजावें तामें भोगी भोग जात ग्वै।
जान घनआनंद अनोखा यह प्रेमपंथ
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित है।
बुरो जिन मानौ जौ न जानी कहूँ सीखि लेहु,
रसना के छाले परैं प्यारे नेह नाव छ्वै।।

ब्रह्म स्वयं द्विधा होकर इस प्रेमसाधना में अवतीर्ण होता है। वह स्वयं साधक बन जाता है, प्रेमी बन जाता है और प्रिय की ओर वैसे ही आकृष्ट होता है जैसे चंद्र की ओर चकोर। प्रेमसाधना इतनी ऊँची साधना है कि इसके लिये स्वयं ब्रह्म को जीव का रूप धरकर उसमें लगना पड़ता है, लीला करनी पड़ती है। साध्य रहने में सुख या आनंद नहीं जो साधक बनने में है। यह परम भाव ज्ञान से आगे है, उसकी सीमा समाप्त हो जाने पर इसका आरंभ होता है। यह रसात्मक साधना है। इस साधना की विशेषता है कि जो सांसारिक विषय भोग में पड़े हुए हैं यदि कहीं इसकी ओर आकृष्ट हुए तो उन भोगियों का भोग इस महासागर में डूब जाता है। विषयी अपने विषयभोग का परित्याग इस में सहज ही कर देते हैं। यह राग की वह दिव्य भूमि है जहाँ पहुँच कर परम राग का उदय होता है और जगत के साधारण राग उसके सामने नगण्य और तुच्छ दिखाई देते हैं। इसी से इस प्रेममार्ग की साधना विलक्षण बताई जाती है। जो

NMDC-065

इसमें अपने को सर्वात्मना लीन कर देते हैं वे ही इस मार्ग में चलते हैं। जिन्हें अपनी सुध-बुध बनी हो वे इसमें नहीं चल सकते। सुध-बुध ज्ञान से संबद्ध है। इस मार्ग पर ज्ञान का दखल है ही नहीं। इस प्रेममार्ग का नित्य लक्षण है परम संताप की साधना। इस प्रेम का नाम लेने पर ही जीभ में छाले पड़ जाते हैं। इसलिए कि विरह को वेदना का, परम ज्वालामयी वेदना का जीभ ने अनुभव किया कि वह संतप्त हुई। जहाँ प्रेम की चर्चा में ही यह स्थिति है वहाँ उसकी साधना करना, उसके मार्ग पर चलना कितना कठिन है केवल कल्पना से ही जाना जा सकता है। इसी से इस प्रेमसाधना का नित्य लक्षण है विरह। कुंज में जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के छिपने पर व्याकुल होती होती हैं उसमें छिपने में कम से कम आँख से ओझल हो जाना स्पष्ट है। यदि यह बताया जाय कि राधा और कृष्ण के प्रेम की चरम सीमा भक्ति संप्रदाय को साधना इस रूप में मानती है कि प्रियाजू के निकट रहते हुए भी संयोग में वे यह अनुभव करने लगते हैं कि प्रिया वहाँ नहीं हैं और व्याकुल हो जाते हैं। स्वयं प्रियाजू उन्हें बारंबार समझा कर यह अनुभूति कराने में बहुत देर में समर्थ होती हैं मैं यहीं हूँ स्थानांतर में नहीं। भावसाधना या रससाधना सगुण में ही अपने प्रकर्ष में हो सकती है। जो ज्ञान का विषय हो सकता है वह प्रेम का विषय भी हो सकता है यह तर्क भी स्वयं ज्ञान ही है, प्रेम नहीं। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो रूपों में मध्यकालीन भक्तों को आपत्ति नहीं है। आपत्ति इस अंश में है कि निर्गुण सबकी साधना का विषय हो सकता है, साधारण जनों की साधना का विषय हो सकता है। भावात्मक सत्ता न होने के कारण वह उसके भावों के टिकाने का समुचित आलंबन नहीं हो सकता। वह विरही की पुकार से द्रवीभूत नहीं हो सकता–

तोहि सब गावैं एक तोही कौं बतावैं बेद
पावैं फल ध्यावैं जैसी भावनानि भरि रे।
जलथलब्यापी सदा अंतरजामी उदार
जगत में नावें जनराय रह्यौ परि रे।
एते गुन पाय हाय छाय घनआनंद यौं
कैधों मोहि दीस्यौ निरगुन ही उघरि रे।
जरौ बिरहागिनि में करौं हौं पुकार कासौं
दई गयौ तु हू निरदई ओर ढरि रे।।

उस प्रेम की साधना के लिए ज्ञान की दृष्टि अपेक्षित नहीं है। प्रेम की साधना से पीड़ा भी मधुर हो जाती है। माधुर्य का कारण यह है कि प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचने पर जगत के द्वंद्व भाव का विनाश हो जाता है। ज्ञान भेद करानेवाला है, प्रेम या राग अभेद उत्पन्न करने वाला है। राग द्वेष जगत के द्वंद्व हैं। परम राग या महाराग की भूमिका में प्रवेश करने पर केवल

NMDC-065

राग रह जाता है। हर्ष और विषाद तो केवल स्वादवाद रहते हैं। हर्ष का अर्थात आनंद का पूर्ण अनुभव बिना विषाद की अनुभूति के नहीं हो सकता, इसलिए विषाद भी आनंद की साधना का अंग बन जाया करता है। प्रेम की ऐसी परम दृष्टि जिसे हो उसी की दृष्टि-दृष्टि है अन्यथा अन्य आँखें मोरपंख में बनी आँखों की भाँति ही जड़ हैं–

मोरचंद्रिका सी सब देखन कौं धरे रहैं
सूछम अगाध रूप साध उर आनहीं।
जाहि सूझ तिनहूँ सो देखि भूलो ऐसी दसा
ताहि ते विचारे जड़ कैसे पहिचानहीं।
जान प्रानप्यारे के बिलोकें अबिलोकिबे कों
हरष-बिषाद स्वादबाद अनुमानहीं।
चाह मीठी पीर जिन्हैं उठति अनंदधन
वेई आँखें साखें और पारैबं। कहा जानहीं।।

प्रेम का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म और उसकी गंभीरता अगाध है। वह रूप उन्हें दिखता है जब वे भी अपने को भूल जाया करते हैं, तब जड़ उस प्रेम को क्या पहचान सकेंगे। प्रिय के दर्शन पर, उसके संयोग में भी, उसको आगे भी देखते ही रहने की लालसा के कारण हर्ष और विषाद स्वादवाद के रूप में होते हैं, संयोग में भी वियोग की स्थिति संयोग की परम साधना के लिए ही होती है। इस प्रकार की मीठी पीड़ा जिनकी आँखों में हो, जिनके हृदय में यह मधुर वेदना हो वे ही नयनवंत हैं, अन्यथा और कुछ। घनआनंद की इस 'मधुर वेदना' को महादेवी वर्मा की 'परम पीड़ा' से मिला देखिए. दोनों में वही अन्तर है जो ब्रह्म की सगुण और निर्गुण धारणा के कारण संभाव्य है।

घनआनंद 'बिरही विचारन की मौन में पुकार है' क्यों कहते हैं, यह कदाचित कुछ स्पष्ट हो गया होगा। यही कारण है कि वे संसार के प्राणियों से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। उनकी वेदना को केवल हरि जी जान सकते हैं–

पहिचानै हरि कौन
मोसे अनपहिचान की।
त्यों पुकार मधि-मौन
कृपा-कान मधि-नैन ज्यों।।

NMDC-065

संसार के व्यक्ति बिरही की पुकार इसलिए नहीं सुन पाते कि उसकी पुकार मौन में रहती है। विरही स्वयं तो कुछ कहता नहीं, जो उसकी विरहावस्था से देख-समझकर जान ले वही उसकी वेदना को हृदयंगम कर सकता है। पर मौन की पुकार सुनने के लिए संसारियों के पास कान कहाँ। जब नेत्रों में ही कान हों तभी तो कोई उसे सुने। ऐसी दृष्टि जगत के किसी व्यक्ति के पास नहीं, होगी तो भी काम कर नहीं सकता। इसलिए कि यदि किसी ने नेत्रों के कान से पुकार सुन भी ली तो वह उस वेदना के परिमार्जन का उपाय करने की शक्ति कहाँ पाएगा। उसके जान लेने से तो काम नहीं चलेगा। किसी ने जान लिया कि अमुक विरही है इतने से ही तो विरही का कष्ट दूर नहीं हो सकता। जब जानकार में समानुभूति हो तो कदाचित ऐसा कुछ हो सके। पर विरही की सी वेदना का अनुभव करने वाला शीघ्र जगत में मिलता नहीं। यदि ऐसा भी मिल जाए तो कठिनाई है। इसलिए कि यदि कोई सहानुभूति करने वाला मिला तो वह समानुभूति करके रह जाएगा। पहले तो विरही कुछ कहता नहीं। 'इस वेदना में पड़े हम कष्ट झेल रहे हैं इससे हमें उबारो' यह भला कोई विरही क्यों कहने लगा, जब कि उसकी साधना मौन साधना है। अपनी ओर से उसके कष्टनिवारण का कोई प्रयास करे तो भी क्या? उस कष्ट के निवारण का सामर्थ्य उसमें कहाँ से आएगा। पर हरि के नेत्रों में 'कृपा' के कान लगे होते हैं। वे पुकार सुनते ही नहीं, कष्ट दूर करने के लिए कृपा भी करते हैं। कृपा किसी आपन्न के प्रति की जाने वाली वह अनुकूलता है जो अयाचित हो। याचित अनुकूलता का नाम 'अनुग्रह' है। भरत राम से दोनों प्रकार की अनुकूलता पाने का उद्घोष तुलसीदास के मानस में यों करते हैं–

कृपा अनुग्रह अंबु अघाई।

राम ने याचित अनुकूलता ही नहीं दिखाई, जिसकी अपेक्षा थी उसे स्वयं अयाचित भी कर दिया। कृपा की वारिधारा और अनुग्रह के वारिप्रवाह दोनों से भरत तृप्त हो गए। परिपूर्ण अनुग्रह और कृपा दोनों की प्राप्ति उन्हें हुई। 'ग्रह-ग्रहण-याचना' तब 'अनुग्रहण-अनुकूलता-प्रदर्शन'।

घनआनंद की कृति में रहस्यात्मक प्रवृत्ति की झलक सूफ़ी भावना और फारसी-साहित्य की प्रेरणा से प्रस्तुत होने का प्रमाण उपस्थित करती है। पर रहस्य किस प्रकार सगुण-साधना में विलीन हो गया है इसका पता भी उनकी रचना स्थान स्थान पर देती है–

अंतर हौ किधौ अंत रही दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसो करौं हिय ज्ञ विधे धीरौं।
जो घनआनंद ऐसी रूची तौ कहा बस है अहो प्राननि पोरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी में धँसौं कि अकासहि चीरौं।।

NMDC-065

घनआनंद की रचना की सारी विशेषताएँ भूमिका के छोटे आकार में नहीं बताई जा सकतीं, उनके लिये ग्रंथ की ही आवश्यकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में उनकी सारी विशेषताओं का सूक्ष्म और अनुसंधानवरिष्ठ उद्घाटन किया गया है। घनआनंद की विशेषताओं के उद्घाटन के कुछ लघुप्रयास इसके पहले भी हो चुके हैं। पर वे लघुप्रयास मात्र हैं। जितने ललितविस्तर से और जितनी अधिक विशेषताओं का उद्घाटन गौड़जी ने किया है वह हिंदी में घनआनंद की आलोचना का सर्वप्रथम महाप्रयास है। इस ग्रंथ और इस अनुसंधान के संबंध में भी कुछ 'वार्ता' है। मैं स्वयं काशी विश्वविद्यालय में कभी अनुसंधाता था और मेरे निरीक्षक थे स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल मेरे अनुसंधान का विषय था – 'अलंकारशास्त्र के परिवेश में भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (साइकोलाजिकल स्टडी आव् इमोशंस इन दि लाइट आव् अलंकारशास्त्र)। अभी अनुसंधान की अवधि समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि मुझे वही प्राध्यापक पद पर कार्य करने का अवसर मिल गया। जब तक मैं अपने अनुसंधान की परिसमाप्ति करूँ तब तक गुरूदेव दिवंगत हो गए। किसी कोने से टीका-टिप्पणी हुई कि यह विषय हिंदी साहित्य से कम, संस्कृत साहित्य से अधिक और मनोविज्ञान से विशेष संबद्ध है। इससे समीक्षा के परितोषार्थ मैंने विषय का परिवर्तन कर दिया। इस बार मेरे अनुसंधान का विषय हुआ 'मध्यकालीन स्वच्छंद काव्यधारा' (रोमांटिक स्कूल आव् मिडीवल एज)। यह विषय और इसकी संक्षिप्त विषयसूची भी विश्वविद्यालय की अनुसंधान समिति से स्वीकृत हो गई। इस सिलसिले में 'स्वच्छंद काव्यधारा' के कवियों के ग्रंथों का आलोड़न करते करते उनके संपादन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसमें लग जाने से अतिकाल हो गया और गुरुकुल सभी मनीषी दिवंगत हो गए। गौड़जी जब अनुसंधान में प्रवृत्त हुए तो मैंने 'घनआनंद' पर अन्वेषण करने का सुझाव दिया। जब उनके परामर्शदाताओं की मुखमुद्रा इतने मात्र से सुमुखता की नहीं हुई तो उसके साथ 'मध्यकालीन स्वच्छंद काव्यधारा' और जोड़ लेने का प्रस्ताव किया गया। मेरा विषय डी. लिट्. के लिये स्वीकृत था। पर गौड़जी को नियम के परिपालन से प्रस्तुत प्रबंध के महाप्रयास पर भी पी.एच.डी. की उपाधि मिली। **उपाधि की** अधिक चर्चा बेकार है।

NMDC-065

19. घनानंद की विरह-भावना

लल्लन राय

घनानंद के काव्य का मूल स्वर विरह या 'प्रेम की पीर' है। अपनी इस पीड़ापरक दृष्टि के कारण ही इन्होंने संयोग में भी वियोग का अनुभव किया है। कवि के समकालीन और उसके काव्य की आन्तरिक प्रकृति के पारखी ब्रजनाथ ने अत्यन्त स्पष्टता के साथ इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है:

'समुझै कविता घनआनंद की हिय-आंखिन नेह की पीर तकी।'

या

'प्रेम की चोट लगी जिन आँखिन सोई लहै कहा पंडित होय कै।'

केवल काव्य-मर्मज्ञ ब्रजनाथ ही नहीं, वरन कवि के मित्र और प्रशंसक महात्मा हित वृन्दावनदास ने भी उसकी मृत्यु पर भाव-विह्वल होकर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उक्त प्रवृति को रेखांकित किया है:

'विरह सौं ताबौ तन निबाह्यौ बन सांचो पन,
धन्य आनंदघन मुख गाई सोई करी है।'

इससे स्पष्ट है कि घनानन्द ने केवल विरह-व्यथा की कविता ही नहीं लिखी है, उनका जीवन भी विरह-व्यथा की साक्षात प्रतिमा बन गया है। 'विरह से संतप्त शरीर और इस भावना के लिए अपने को न्यौछावर कर देने की प्रतिज्ञा का निर्वाह'—इस बात का प्रमाण है कि घनानन्द ने 'जो कुछ मुख से गाया है, वही किया' भी है। इसे और वस्तुपरक बनाने के लिए कहा जा सकता है कि 'जो कुछ किया है, वही गाया है।' अत: इनकी 'कथनी और करनी' में एकरूपता मिलती है। इसलिए अधिकांश रीतिबद्ध कवियों की तरह ये प्रेम का नाटक खेलते हुए, उधार के आँसू बहाने वाले न होकर अपनी व्यथा से रोते-कराहते दिखाई देते हैं। इस वास्तविकता को प्रकाशित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: 'प्रेम की पीर ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक...ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

घनानन्द के 'प्रेम की पीर' का मूल आधार विषम प्रेम है, जिससे इसमें कुछ ऐसी विशेषताओं का समावेश हो गया है, जो अन्य कवियों से इन्हें भिन्नता प्रदान करती है। आगे इन विशेषताओं को अलग-अलग समझने का प्रयास किया जाएगा।

NMDC-065

(क) विषम प्रेम की पीड़ा – विरह में विरही का व्यथित होना स्वाभाविक है। इसका सहज रूप है, उभय पक्ष में प्रेम की स्थिति। इसमें भी वियोग अन्य व्यथा होती है, लेकिन एकपक्षीय (विषम) प्रेम की पीड़ा इससे पर्याप्त भिन्न होती है। विषम प्रेम में प्रेमी और प्रिय के मध्य एक विरोध-भाव होता है, जहाँ प्रेमी एकनिष्ठ भाव से प्रेम करता है। लेकिन प्रिय निरंतर उसके प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करता है। प्रेम का वह रूप समाज-स्वीकृत न होने के कारण प्रेमी को एक विचित्र स्थिति में डाल देता है। इस स्थिति को कुछ उदाहरणों के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है:

'तपति उसास औधि रूधियै कहाँ लौं दैया,
बात बूझें सैननि ही उतर उचारियै।
उड़ि चल्यौ रंग राखियै कलंकी मुख,
अनलेखें कहा लौं न घूंघट उघारियै।।'

एक तरफ प्रिय-आगमन की अवधि की (झूठी) दिलासा में अपने प्राणों को धैर्य दिलाना और दूसरी ओर लोगों के प्रश्नों का संकेतों से उत्तर देना कब तक संभव है। विरहिणी की दयनीय स्थिति को देखकर लोग पूछते हैं कि तुमने यह क्या दशा बना रखी है! इस पर उसे सही उत्तर न देकर टाल-मटोल करना पड़ता है। लेकिन इस स्थिति को बहुत दिनों तक छिपाया नहीं जा सकता। विरह के कारण अपने विवर्ण होते हुए मुख को वह लोगों की दृष्टि से अधिक समय तक छिपा नहीं सकती। घनानन्द की विरहिणी को वैसे लोकापवाद की अधिक चिन्ता नहीं है। परन्तु प्रिय की निष्ठुरता के संदर्भ में उसके लिए लोकनिन्दा असह्य बन जाती है। सामान्य स्थिति में लोकापवाद का सामना करने का उसमें अपूर्व साहस है:

'विष सी कथानि मानि सुधा पान करी जान,
जीवन निधान है बिसासी मारि मति रे।
जाहि जो भजै सो ताहि तजै घनआनंद क्यों,
हति के हितूनि कहौ काहू पाई पति रे।।

यहाँ विषाक्त लोकापवाद को अमृत समझकर पीने की बात से स्पष्ट है कि विरहिणी की वास्तविक बड़ा प्रिय की उपेक्षा को लेकर है। वह जिन परिस्थितियों में जीवन काट रही है, उसमें एकतरफा प्रेम की पीड़ा ही प्रमुख है। जब कभी-कभार कोई आत्मीय या पूर्ण विश्वासनीय इस व्यथा को सुनने के लिए जाता है, तो यह शतधा प्रवाहित होकर फूट निकलती है:

NMDC-065

'रैन दिना घुटिबो करैं प्रान झरैं आँखियाँ दुखिया झरना सी।
प्रीतम की सुधि अंतर मैं कसकै सखि ज्यों पँसुरीनि मैं गाँसी।
चौचँद-चार चबाइन के चहुँओर मचै, विरचैं करि हाँसी।
यौं मरियै भरियै कहि क्यौं सु परै जिन कोऊ सनेह की फांसी।।'

प्राणों का रात-दिन घुटते रहना, दुखियारी आँखों का निरंतर अश्रु-प्रवाह, प्रिय की स्मृति का पसलियों में फाँसदार काँटे की तरह कसकना आदि घोर शारीरिक-मानसिक यातना के बीच चारों ओर बदनामी और जगहँसाई में जीवन बिताना कितना कठिन है। इस प्रकार खींचतान कर जीवन के दिन काटने की अनिर्वचनीय व्यथा में आकुल विरहिणी का यह कह उठना कि 'कोई ऐसे प्रेम की फांसी में न पड़े'-उसकी आंतरिक मनोदशा को मूर्त रूप दे देता है। इसके साथ ही जब प्रेमी को यह पूर्ण विश्वास हो कि प्रिय उसे नहीं चाहता या कभी भी उसके अनुकूल नहीं हो सकता तब वेदना और अधिक दारुण हो जाती है:

'घनआनंद प्यारे सुजान ! सुनौ जिहि भाँतिन हौं दुख-मूल सहौं।
नहि आवनि-औधि न रावरी आस इते पर एक सी वाट चहौं।
यह देखि अकारन मेरी दसा कोउ बूझे तौ ऊतर कौन कहौं।
जिय नेकु बिचारि कै देहु बताय हहा पिय! दूरि ते पायै गहौं।।'

वस्तुत: यह स्थिति अत्यधिक दारुण है। प्रेम दो हृदयों का अत्यन्त रागात्मक सम्बन्ध होता है। एक पक्ष की किंचित शिथिलता भी इसके लिए घातक हो सकती है। लेकिन यहाँ एक पक्ष में मात्र शिथिलता ही नहीं, घोर उपेक्षा भी है। विरहिणी अनुपस्थित प्रिय को संबोधित करते हुए कहती है कि 'न तो आपके आने की कोई निश्चित अवधि है और न ही इस प्रकार की उम्मीद ही की जा सकती है कि आप आएँगे। फिर भी मैं निरन्तर आपके आने का मार्ग देख रही हूँ। मेरी इस अकारण प्रतीक्षा को देखकर कोई प्रश्न करेगा तो मैं उसे उत्तर क्या दूँ ? मैं दूर से ही आपके पाँव पड़ती हूँ कि जरा सोचकर इसका उत्तर बता दें'। वस्तुत: यह एक विलक्षण वेदना की मनोदशा है, जो मूलत: एकतरफा प्रेम के कारण है। उभयनिष्ठ प्रेम में भी विरही को वेदना होती है, लेकिन वह इस आशा और विश्वास के सहारे जीवन काटता है कि प्रिय कभी आएगा। इसके साथ ही विरही इसमें दूसरों को सहजभाव से अपना सहभागी बना सकता है, जिससे अपनी व्यथा कहकर हृदय के भार को हल्का कर सकता है। विषम प्रेम की अवस्था में वैसा कर पाना भी संभव नहीं। इस विषमता के कारण प्रेमी का जीवन पीड़ा का जीवन बन जाता है। इस वैषम्यजन्य वेदना के अटपटेपन को घनानन्द के अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से वाणी प्रदान की है:

'अंतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह-आँसू,
देखी अटपटी चाह भीगनि-दहनि है।

NMDC-065

सोयबो न जागिबो, हो हँसिओ न रोयबो हू,
खोय खोय आपही मैं चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनन्दघन,
विरह-विषम-दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन-मरन, जीव-मीच बिना बन्यौ आनि
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है।।

विषम प्रेम की व्यथा के लिए कवि ने प्राय: विरोध मूलक विलक्षण क्रियाओं का सहारा लिया है, आग और जल, भोगना और जलना, जीना और मरना आदि परस्पर विरोधी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ हैं, जिन्हें विरहिणी एक साथ झेल रही है। कवि ने 'जीवन के बिना जीने और मृत्यु के बिना मरने' के उल्लेख द्वारा 'नेही की रहनि' अर्थात विषम प्रेम में ग्रस्त प्रेमी की स्थिति को अत्यन्त मार्मिक ढंग से उजागर किया है। 'विरह-विषम-दसा मूँक लौं कहनि है'— के द्वारा इसकी अनिर्वचनीयता को उद्घाटित किया गया है। इस सारे व्यापार में अपने को पूर्ण रूप से खो देने के बाद जो मिलता है,वह 'चेटक लहनि' है— अर्थात जादू की सी प्राप्ति है, जो अंतत: झूठी और निरर्थक उपलब्धि में रूप में दिखाई देती है। वस्तुत: यह विषमता पूर्णत: फारसी प्रेम पद्धति जैसी रही है। आरंभ में संयोग और परस्पर विश्वास के कारण इसकी वियोग-वेदना में एक भिन्न प्रकार की तीव्रता मिलती है, जिसके केन्द्र में प्रिय की परवर्ती निष्ठुरता है। अत: इसमें प्रिय-प्रक्ष में किया गया विश्वासघात वेदना का एक प्रमुख कारण बन गया है:

'कहियै सु कहा रहियै नहि मौन, अरी सजनी उन जैसी करी।
परतीति दै कीनी अनीति महा, विष दीनौ दिखाय मिठास डरी।
इत काहू सो मेल रह्यौ न कछू; उत खेल सी है सब बात टरी।
घनआनंद जान सयान की खान, भुराई हमारेई पैंडे परी।।

यहाँ विरहिणी व्यथा से विगलित होकर कह रही है। कि 'हे सखी ! उन्होंने मेरे साथ जैसा व्यवहार किया, उसे किस प्रकार कहा जाए ! इसके लिए तो मौन धारण कर लेना ही अच्छा है। पहले तो उन्होंने मेरे हृदय में विश्वास पैदा किया और फिर ऐसे धोखा दिया, जैसे कोई मीठी डली दिखाकर बुलाए तथा पहुँचने पर विष दे दे। उनके विश्वास के नाते इधर मैंने संसार के अन्य लोगों से नाता तोड़ लिया और उधर सारी बातें खेल की तरह हल्की-फुल्की होकर उपेक्षित हो गई।' यहाँ प्रेमी के भोलेपन और प्रिय के विश्वासघात के माध्यम से कवि ने दोनों के स्वभावगत-वैषम्य को प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त विवेचन के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घनानन्द की विरह-भावना की प्रकृति उभयनिष्ठ प्रेम से भिन्न अनुभय निष्ठ प्रेम पर आधारित होने के कारण अपने युग के

NMDC-065

अन्यान्य कवियों से पर्याप्त भिन्न है। इसमें शृंगार की अपेक्षा करुण की अधिक व्यंजना मिलती है।

(ख) 'मौन मधि पुकार' – वैसे मानसिक वेदना अपने सामान्य रूप में भी अनिर्वचनीय होती है, जिसकी ओर कवियों ने प्राय: संकेत किया है। लेकिन विषम प्रेम की वेदना के रूप में घनानन्द ने उसकी विलक्षणता की ओर भी संकेत किया है। इस विलक्षणता को उन्होंने 'मौन मधि पुकार' की संज्ञा दी है। पीछे अभी हमने देख लिया है कि घनानन्द के लिए 'विरह-विषम-दसा मूम लौं कहनि है।' लेकिन बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। यदि समझने वाला समझना चाहे तो गूंगे का सांकेतिक कथन भी समझ सकता है। यहाँ तो स्थिति और अधिक उलझी हुई है। प्रिय-पक्ष से उपेक्षा और आनाकानी प्रेमी की स्थिति को अत्यन्त दयनीय बना देती है।

'इतै अनदेखें देखिबेई जोग दशा भई,
तैं तो आनाकानी ही सौं बाँध्यों दीठि तार है।
तेरें बहरावीन रुई है कान बीच, हाय
विरही विचारनि की मौन में पुकार है।'

इधर 'बिना देखे देखने योग्य (दयनीय) स्थिति' और 'उधर प्रिय द्वारा न देखने का हठ'– वेदना की भीषणता को अत्यन्त करुण बना देता है। इससे स्पष्ट है कि घनानन्द विषम 'प्रेम की पीर' को अनिर्वचनीय मानकर उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'प्रिय के कानों में बहानेबाजी की रूई' और 'विरही की मौन में पुकार' का संकेत दिया है। यहाँ एक तरफ प्रिय व्यथा को सुनना नहीं चाहता तो दूसरी ओर प्रेमी उसे सुनाकर अपनी ओर आकृष्ट करने के स्थान पर मौन की साधना का व्रत लेता है। वैसे गहराई से देखा जाए तो आंतरिक व्यथा की वास्तविक स्थिति मौन में ही है, जिसे घनानन्द ने अपने काव्य में एक विशिष्ट अवधारणा का रूप दिया है :

'मौन मिहीं बात है समझि कहि जानै जान,
अमी काहू भांति को अचंभै भरि प्यावई।
कहें कौन मानै, पहचानै कान नैन जाके,
बात की भिदनि मोहि मारि-मारि ज्यावई।।'

मौन अत्यत रहस्यपूर्ण (महीन) कथन प्रणाली है, जिसे कोई बहुत समझदार या समझने की इच्छा रखने वाला ही जान सकता है। एक तो इसे कहा नहीं जा सकता और दूसरे यदि किसी प्रकार कहा भी जाए तो कोई मानने के लिए तैयार नहीं होगा। क्योंकि इसे वही पहचान सकता है, जिसके नेत्रों में ही कान हों, अर्थात जो देखकर ही सारी व्यथा का अनुभव कर सके। इस तथ्य की ओर अधिक स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है –

NMDC-065

'पहचानै हरि कौन, मो से अन पहचान कौं।
त्यौं पुकार मधि-मौन, कृपा-कान-मधि नैन ज्यौं।।'

नेत्रों के मध्य कृपा-रूपी कान के बिना 'मौन के मध्य स्थित पुकार' को नहीं सुना जा सकता। इसलिए विरहिणी ईश्वर से निवेदन करती है कि मेरी मौन में छिपी हुई पुकार को केवल आप ही देखकर सुन और समझ सकते हैं। क्योंकि आप ही ऐसे है, जिनके नेत्रों में कृपा– के कान है। लेकिन प्रिय की निष्ठुरता के संदर्भ में कृपा की कामना घनानन्द को अलौकिक की ओर ले गई है– इसे तो हम आगे यथास्थान देखेंगे, यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि 'मौन' इनके लिए एक साधना के साथ ही अभिव्यक्ति का साधन भी है :

'मौनहू सों देखिहौं, कितेक पन पालिहौ जू,
कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलि है।
रुई दिएँ रहोगे कहा लौ बहराइवे की,
कबहूँ तो मैरिये पुकार कान खोलि है।।'

यहाँ मौन की क्षमता पर एक अपूर्व धैर्य और अडिग विश्वास प्रकट हुआ है। विरहिणी निष्ठुर प्रिय को चुनौती देते हुए कह रही है कि 'देखना है कि तुम अपने न सुनने की प्रतिज्ञा पर कब तक अटल रहते हो। मेरी यह पुकार भरी मौन (कूक भरी मूकता) तुम्हारी चुप्पी को तोड़कर ही दम लेगी।' इस कूक भरी मूकता का कारण प्रिय का उपेक्षा भाव ही है :

'सुधि करैं भूल की सुरति जब आय जाए,
तब सब सुधि भूलि कूकौं महि मौन कों।।'

'प्रिय की उपेक्षा (भूल) की याद करने पर जब उसकी स्मृति सताने लगती है, तब में अपनी सुध-सुध खोकर मौन में कूकने लगती हूँ।' मौन धारण कर कूकता यहाँ मौन के माध्यम से अपनी व्यथा का निवेदन करना है। 'मौन बखान' के रूप में घनानन्द ने 'कूकभरी मूकता' के महत्व को इस प्रकार उद्घाटित किया है :

'आँखिन मूंदिबों बात दिखावत, सोवनि जागनि बातहि पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है, भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात विचारिबो, सूछमता सब ठौर बिसेखि ले।
नैननि-काननि-बीच, बसै, घनआनंद मौन-बखान सु देखि लै।।'

यहाँ कवि ने नेत्रों और कानों के मध्य स्थित 'मौन के बखान' में वाणी (बात) की वास्तविक महत्ता का उद्घाटन किया है। वाणी के द्वारा उपेक्षा-भाव (आँख मूदना) का अच्छी तरह से उदघाटन किया जा सकता है। इसके द्वारा अजान बन कर जानते रहने और जानबूझ कर

NMDC-065

अजान बने रहने की स्थिति का भी उद्‌घाटन किया जा सकता है। वाणी का वास्तविक स्वरूप अनोखा और अत्यन्त सूक्ष्म (अरूप) है। इसकी महत्ता के संबध में हमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए। क्योंकि इसमें अलक्ष्य (ब्रह्म) को भी लक्षित करने की क्षमता होती है। अपनी सूक्ष्म शक्ति के कारण वाणी की क्षमता सर्वव्यापी है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म और अनिवर्चनीय तथ्यों को भी वाणी द्वारा उद्‌घाटित किया जा सकता है। कहना न होगा कि घनानन्द ने अपने काव्य में इस क्षमता का अत्यन्त कुशलता के साथ उपयोग किया है। अनिर्वचनीय स्थितियों को सांकेतिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से निम्नलिखित उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है :

गतिनि तिहारी देखि थकनि मैं चली जाति,
थिर चर दसा केसी ढकी उघरति है।
कल न परति कहूँ कल जौ परति होय,
परनि परी हौं जानि परी न परति है।
हाय यह पीर प्यारे! कोन सुनै कासों कहौं,
सहौ घनआनन्द क्यौं अन्तर अरति है।
भूलनि चिन्हारि दोऊ हैं न हो हमारें या ते,
बिसरनि रावरी हमैं लै बिसरति है।"

अनिर्वचनीयता की अभिव्यक्ति में वाणी वक्रता की किस सीमा तक जाकर अपनी क्षमता प्रकट कर सकती है— उक्त कविता में इसका अद्‌भुत प्रमाण प्रस्तुत हुआ है। 'गति (बादल) देखकर थकना और थकने में भी चलते रहना'— प्रिय की निष्ठुर करतूत को देखते हुए दुर्दशा में जीवन व्यतीत करने का 'मौन-बखान' है। 'थिर और चर दसा' अर्थात रुकने और चलते रहने की स्थिति का अस्पष्ट बने रहना, (ढकी उघरति) चेतनाशून्यता की द्योतक है। विरहिणी का यह कहना है कि 'चाहै किसी को चैन पड़ता भी हो (कल जौ परति होय), लेकिन मुझे तो मालूम ही नहीं कि चैन पड़ना किसे कहते हैं।' इस प्रकार वह ऐसी स्थिति (परनि) में पड़ गई हैं कि उसे पड़ी हुई विपत्ति (परति) का पता ही नही लग पाता। इस आन्तरिक पीड़ा को न किसी से कहा ही जा सकता है और न कोई सुन ही सकता है। विस्मृति और स्मृति (भूलनि-चिन्हारि) के साथ न होने से अर्थात विस्मरण और स्मरण— दोनों की दशा से शून्य होने के कारण प्रिय की विस्मृत्ति द्वारा आत्मविस्मृति के गर्त में डाला जाना विरहिणी की अत्यधिक व्याकुलता का परिचायक है। वस्तुत: इस प्रकार की सांकेतिक अभिव्यक्ति भी 'मौन-बखान' का ही एक रूप है, जिसे घनानन्द की रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है।

NMDC-065

(ग) आत्मभर्त्सना– एकतरफा प्रेम, प्रिय की गुरुता और अपनी लघुता आदि के कारण घनानन्द की विरहिणी में कहीं-कहीं आत्मग्लानि की भावना भी दिखाई देती है, जिससे पीड़ित होकर वह आत्मभर्त्सना की ओर उन्मुख होती है। प्रथम-दर्शनजन्य और रूपासक्ति की प्रधानता होने के कारण इनके यहाँ प्रेम के अन्तर्गत नेत्र और हृदय – दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है। सारे प्रेम-प्रपंच की जड़ भी ये ही दोनों हैं। रूप लोभी नेत्र हृदय को गिरवी रख देते हैं और हृदय भी बिना कुछ सोचे-विचारे इनके चक्कर में आ जाता है। वियोग की स्थिति में कवि ने नेत्रों की व्याकुलता और मन, जी, प्राण आदि के रूप में हृदय की विवश्ता का सर्वाधिक चित्रण किया है। विरही जब खीझ की दशा में होता है तो अपने नेत्रों या हृदय को ही सबसे अधिक कोसता है। रूप लोलुप नेत्रों की काली करतूत का बखान करते हुए विरहिणी कहती है –

'जान के रूप लुभाय कै नैननि, बेंचि करी अधबीच ही लौडी।
फलि गयी घर-बाहर बात, सुनीकैं भई इन काज कनौडी।
क्यौं करि थाह लहै घनआनंद, चाह नदी तट ही अति औडी।
हाय दई न बिसासी सुनै कुछु, है जग वाजति नेह की डौंडी।।

'इन नेत्रों ने प्रिय सुजान के रूप पर 'लुब्ध होकर सौदेबाजी के पूर्ण होने के पहले ही मुझे उसके हाथों बेच कर दासी बना दिया। यह खबर चारों ओर फैल गई, जिसके कारण व्यर्थ ही मुझे अच्छी तरह बदनाम होना पड़ा। हाय विधाता, सारे संसार में मेरे प्रेम की मुनादी की जा रही है। और उधर विश्वासघाती प्रिय है, जो कुछ सुनता ही नहीं। वस्तुत: इस वेदना के पीछे गहन 'दिखसाध' ही है, जो नैत्रों को प्राय: व्याकुल किए रहती है। विरहिणी कभी-कभार इन नेत्रों की व्याकुलता के माध्यम से भी अपनी व्यथा को उद्घाटित करती है–

'घेर घबरानी उबरानी ही रहति, घन-
आनद आरति-राती साधनि मरति हैं।

देखियै दसा असाध अँखिया निपेटिनि की,
भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं।

यहाँ विरहिणी ने 'दिखसाध' के भयंकर रोग से ग्रस्त अपने नेत्रों की विलक्षण व्यथा की ओर संकेत किया है। एक ओर भस्मक रोग (भसमी विथा) से ग्रस्त पेट्टू (निपेटिनि) आँखें और दूसरी ओर उनका नित्य लंघन-कार्य (उपवास) ये दोनों परस्पर विपरीत स्थितियाँ हैं। आयुर्विज्ञान में भस्मक एक ऐसी बीमारी मानी गई है, जिसमें रोगी जो कुछ भी खाता है, सब उसके पेट में भस्म हो जाता है और भूख ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। उधर आँखें स्वभावत: पेट्टू (अधिक खाने

NMDC-065

वाली) हैं, अर्थात प्रिय को चाहे जितना भी देखें, कभी साध पूरी नहीं होती। लेकिन इधर प्रिय की अनुपस्थिति के कारण दर्शन से वंचित होकर उन्हें नित्य लंघन (उपवास) करना पड़ रहा है। इस प्रकार कबि ने नेत्रों की व्याकुलता को अत्यन्त कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है।

रूप-लोभी आँखों की भाँति ही, विरहिणी रस लोलुप मन या प्राणों को भी कोसती है। सारी वेदना की जड़ वह इन्हें ही मानती है। प्रिय की अनुपस्थिति में उनका रहना उसे अनुचित प्रतीत होता है—

'क्यौं धौं ये निगोड़े प्रान जान घनआनंद के,
गौहन न लागे जब वे करि बिजै चले।'

'प्राणों पर विजय प्राप्त कर प्रिय के जाते समय ये निगोड़े (गाली) प्राण उनके साथ ही क्यों नहीं चले गए'— इस कथन में प्राणों के प्रति एक विशेष प्रकार की खीझ प्रकट हुई है। व्याकुलता में कभी-कभी तो स्थिति यहाँ तक पहुंच जाती है कि विरहिणी मन को प्रताड़ित करते हुए, उसकी यातना में ही किंचित संतोष का अनुभव करने लगती है—

'विष लै बिसार्‌यौ तन, कै बिसायी आ चार्‌यौ,
जान्यौ हुतौ मन तैं सनेह कछु खेल सो।

अब ताकी ज्वाल मैं पजरिवो रे भली भाँति,
नीके आहि, असह उदेग-दुख सेल सो।

रुचि ही के राजा बान प्यारे यौं आनन्दघन,
होत कहा हेरे रंक, मान लीनौ मेल सौ।।'

मन को प्रताड़ित करती हुई विरहिणी कह रही है कि 'ऐ विश्वासघाती मन! अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण प्रेम में विरह के विष को ग्रहण कर तुमने सारे शरीर को विषाक्त कर दिया। लगता है कि तुमने प्रेम को कुछ खेल जैसा समझ रखा था।' आगे वह अत्यन्त कटुता से व्यंग्य करती हुई कहती है कि 'अच्छा हुआ, तुम्हें अपनी करनी का फल मिल गया। अब असह्य व्यथा के उद्वेग रूपी बरछे से भिद कर विरह की ज्वाला में अच्छी तरह जलो। तुम्हारी समझ में यह बात क्यों नहीं आई कि प्रिय सुजान तो अपनी पसन्द के राजा, अर्थात परम स्वेच्छाचारी हैं। तुम जैसे रंक की तरफ जरा सा देख लेने से उनका क्या बिगड़ता है। लेकिन तुमने इस देखने को ही प्रेम मान लिया।' इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विरहिणी अपनी पीड़ा में भी एक प्रकार से आत्मघाती आनन्द ले रही है। इस तथ्य को और अच्छी तरह समझने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है :

NMDC-065

'सूझै नहिं सुरझ मुरझि नेह गुरझनि,
मुरझि मुरझि निसदिन डावाँडोल है।
आगे न विचार्‌यौ अब पाछें पछताएँ कहा,
मान मेरे जियरा बनी को कैसो मोल है।।'

अपने मन को सम्बोधित करती हुई नायिका कह रही है कि 'प्रेम की अत्यन्त उलझपूर्ण गुत्थी में फँसकर तुम्हें उससे मुक्त होने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। विरह के आघात से मूर्च्छित होकर तुम्हे निरंतर व्याकुलता में रहना पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में प्रेम करने से पूर्व तो तुमने कोई विचार किया नहीं, अब पश्चाताप करने का कोई लाभ नहीं। अंत में वह अत्यन्त कटु व्यंग्य करती हुई कहती है। कि 'ऐ मेरे मन! अब तुम मान लो कि इस व्यापार में तुम्हें कैसा मोल चुकाना पड़ा। अर्थात अपना सब कुछ चुका देने के बाद तुम्हें मिला क्या ? वस्तुत: आँखों और मन को इस प्रकार कोसना, प्रकारान्तर से आत्मभर्त्सना ही है।

घनानन्द की विरहिणी में पीड़ा के प्रति एक विशेष प्रकार का लगाव भी दिखाई देता है। अत: रात-दिन कष्ट सहन करते हुए भी प्राण पीड़ा से मुँह नहीं मोड़ते:

'उठि न पकड़, उसकत नैन-बान-विधै,
इतेहू पै विषम विषाद-जुर लू बरै।
सूरे पन-पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ,
प्रीति बोझ बापुरे भये हैं दबि कूबरे।
नेही दुखियानि की यहै गति अनन्दघन,
चिन्ता मुरझानि सहैं न्याय रहैं दूबरे।'

'एक ओर नेत्रों की चोट से घायल प्राण पीड़ा के कारण विह्वल होकर सिसकते रहते हैं, हिल-डोल नही सकते और दूसरी ओर विरह-ज्वर भीषण लू की तरह जलता रहता है। फिर भी अपनी प्रतिज्ञा के पक्के ये प्राण प्रेम के रणक्षेत्र से मुँह नहीं मोड़ते। प्रेम के बोझ से दबकर ये बेचारे कुबड़े हो गए हैं, अर्थात प्रेम ने इन प्राणों की कमर तोड़ दी है।' इतना सब झेलते हुए भी विरहिणी यह मानकर संतोष कर लेती है कि 'चिन्ता से सूखकर दुर्बल बने रहना दुखी प्रेमियों के लिए न्यायोचित ही है।' इस प्रकार घनानन्द के यहाँ 'नेहीं की रहनि' एक विचित्र जीवन है, जो सामान्य जीवन से सर्वथा भिन्न है। 'प्रेम की पीर' के सन्दर्भ में हमने इस तथ्य को अच्छी तरह देख लिया है कि विरहिणी पीड़ा में एक प्रकार का आत्मघाती आनन्द लेती है। यह सब आत्मभर्त्सना का ही एक रूप है।

NMDC-065

(घ) प्रिय की मंगल कामना – घनानन्द ने प्रेम को अत्यन्त उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। यह उदात्तता प्रेमी की निष्कामता के माध्यम से ले आई गई है। अपने को महत्व न देकर प्रिय को महान मानने के कारण विरहिणी अपने कष्टों का कारण स्वयं को मानती है। इसीलिए वह आत्मभर्त्सना की ओर उन्मुख हुई है। लेकिन आत्मभर्त्सना के बावजूद भी वह प्रिय का अनिष्ट या अमंगल नहीं चाहती। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है :

'मन भायौ वियोग मैं जारिबो, जौ तो तिहारी सौं नीके जरैऊ भरैं।
पै तुम्हैं मति कोऊ कहौ हित-हीन सुया दुख-बीच अमीच भरैं।।

विरहिणी को वियोग की ज्वाला में जलते हुए जीवन के दिन काटने में विशेष चिन्ता नहीं है। उसकी वास्तविक पीड़ा इस बात को लेकर है कि लोग प्रिय को प्रेमहीन न कहने लगें। अपनी वेदना के लिए वह अपने भाग्य को ही दोषी ठहराती है, लेकिन इसके मूल में प्रिय की निष्ठुरता भी है। उसके मन में आशंका है कि कहीं उसकी वेदना के कारण प्रिय का अनिष्ट न हो जाए। अत: वह इस लोक-विश्वास की ओर प्रिय का ध्यान आकृष्ट करती है –

'सुनी है कै नाही यह प्रगट कहावति जू
काहू कलपाय हैं सु कैसे कलपाय है।'

इसमें प्रिय के प्रति क्षोभ नहीं, वरन् उसके अमंगल का भय अधिक है। वह अपने मन को तो यह कहकर सांत्वना दे लेती है कि –

'तिन्है यों सिराति छाती तोहि वै लगति ताती,
तेरे बांटे आयौ है अँगारनि पै लोटिवो।'

लेकिन अपनी वेदना के लिए अपना भाग्य-दोष मानते हुए भी उसे इस बात की चिन्ता है कि उसके प्राणांत के बाद लोग प्रिय को हत्यारा न समझ बैठें:

'हेत-खेत-धूरि चूर-चूर है मिलैयो, तब,
चलैगी कहानी घनआनंद तिहारे की।'

अर्थात मेरी मृत्यु के बाद लोग तुम्हारी करनी की निन्दा करेंगे। वस्तुत: प्रेम की चरम स्थिति पर पहुँचकर प्रेमी को कुछ भी प्राप्त करने की कामना नहीं रह जाती। स्वयं दु:ख सहन कर भी वह प्रिय की निरंतर मंगल-कामना करता रहता है। घनानन्द का प्रेम भी निष्कामता के इस उत्कर्ष-बिन्दु तक पहुँचा हुआ है। इसे निम्नलिखित उदाहरण के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है :

NMDC-065

'इत बांट परी सुधि, रावरे भूलनि, कैसे उराहनों दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई, जु कछू मन भाई सुकीजियै जू।
घनआनंद जीवन-प्रान सुजान, तिहारियौ बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हें चाड़ कहा, पै असीस हमारियौ लीजियै जू।।'

यहाँ तो उलाहना देने की भी स्थिति नहीं है। क्योंकि विधाता द्वारा किए गए बँटवारे में प्रेमी के हिस्से में निरन्तर याद करते रहना और प्रिय के हिस्से में सहज रूप से भूलना आया है। विरहिणी को जो कुछ भी मिला है, उसे स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लिया है और अपने को प्रिय के प्रति पूर्णत: समर्पित कर दिया है। लेकिन प्रिय को वह इतना अवश्य बता देना चाहती है 'कि तुम मेरे प्राणों के प्राण हो और तुम्हारी ही चर्चा में मैं जी रही हूँ, अर्थात मेरे जीवन का अन्य कोई औचित्य नहीं है।' अन्त में उसका यह कथन कि यद्यपि तुम्हें जरूरत नहीं है, फिर भी 'निरंतर कुशलपूर्वक रहो— मेरे इस आशीर्वाद को भी स्वीकार करो।' प्रिय निष्ठुर और विश्वासघाती है— इस विश्वास के बावजूद विरही के प्राण केवल इसलिए नहीं निकल पा रहे हैं कि प्रिय का कुशल-समाचार मिल जाए तो वे संतोषपूर्वक निकलें:

'बहुत दिनानि की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कौ।
कहि कहि आवन संदेसो मनभावन को,
गहि गहि राखत हैं दै दै सनमान कौ।
झूठी बतियानि की पत्यानि ते उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनंद निदान कौ।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान पान,
चाहत चलन ये संदेशो लै सुजान कौ।'

प्रस्तुत कवित्त में विरह की मर्मान्तक वेदना का चित्रण हुआ है। इस कवित्त के सम्बन्ध में यह किंवदन्ति भी है कि घनानन्द ने मरते समय अपने रक्त से इसकी रचना की थी। वैसे अपनी प्रगाढ़ प्रेम-साधना को उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में लोकोन्मुख से ईश्वरोन्मुख अवश्य कर लिया था, लेकिन लगता है कि जीवन के अंतिम क्षणों में सुजान पुन: उनके स्मृतिपटल पर उभर आयी है। वेदना-विगलित होकर कवि ने लिखा है कि 'बहुत दिनों से प्रिय के आगमन की अवधि की आशा के पाश में बँधे रहने के बाद अब अत्यधिक व्याकुल होकर प्राण चलने के लिए निकल पड़े हैं। आज तक मैंने प्रिय-आगमन के संदेश दे-देकर, समुचित रूप से समझा-बुझाकर सम्मानपूर्वक इन्हें रोका है। लेकिन झूठी बातों में विश्वास से विमुख होकर अंतत: इन्होंने मेरे सारे प्रयत्न विफल कर दिए हैं। शरीर से निकलकर प्राण अधर से आ लगे हैं। प्रिय सुजान

NMDC-065

के कुशल-समाचार की प्रतीक्षा में ये वहाँ रुके हुए हैं। उसके मिलते ही चल पड़ेंगे।' यहाँ किसी प्रकार की भौतिक या शारीरिक आकांक्षा से रहित विरही आत्म-विस्मृति की दशा में भी प्रिय की मंगल-कामना से प्रेरित है।

(ङ) दैन्यजनित करुणा-भाव – प्रगाढ़ प्रेम में विरह के अन्तर्गत दैन्य एवं निरवलबंता की स्थिति किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। लेकिन एकतरफा या विषम प्रेम के अन्तर्गत यह दैन्य निरूपायता की दशा तक पहुँचकर करुण भाव की सृष्टि करने लगता है। घनानन्द की विरह-भावना के अन्तर्गत हमें इस दशा के चित्र अधिक मिलते हैं। इसे अच्छी तरह समझने के लिए कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं:

1. 'अकुलानि के पानि पर्‌यौ दिन-राति सु ज्यौ छिनकौ न कहूँ बहरै।
भए कागद नाव उपात रावै, घनआनंद नेह-नदी गहरै।'

2. 'क्यौं करि वितैयै, कैसे कहौं धौं रितैयै मन,
बिना जान प्यारे कब जीवन तें चूकियै।
बनी है कठिन महा मोहिं घनआनंद यौं,
मीचौ मरि गई आसरो न जित ढूकियै।।'

3. 'मग हेरत दीठि हिराय गई, जब तें तुम आंवनि औधि बदी।
कब आयहौ औसर जानि सुजान, बहीर लौं बैस तो जाति लदी।'

4. 'तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल,
थाकें ये विकल नैना ताहि नपि-नपि रे।
जीबे तें भई उदास तऊ है मिलन आस,
जीवहिं जिवाऊँ नाम तेरी जपि-जपि रे।।'

इन सभी उदाहरणों में एक घनीभूत विवशता का भाव प्रकट हुआ है। पहले उदाहरण में व्याकुलता और अधीरता उस सीमा तक पहुँची हुई दिखाई देती है जहाँ कि प्रेम के इस 'धीर पथिक' द्वारा प्रेम की गहराई को पार पाने के लिए किए गए सारे उपाय निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। दूसरे उदाहरण में विवशता की उस स्थिति का चित्रण है, जिसमें मरना भी अपने वश में नहीं रह गया है। तीसरे उदाहरण में एक आतुर प्रतीक्षा है, जिसमें सैनिक साज-सामान (बहीर) की तरह आयु के लाद-फानकर वापस जाने की चिन्ता से विरहिणी ग्रस्त है। चौथे उदाहरण में आतुर प्रतीक्षा में नेत्रों के थकने और अपने जीवन से उदास होने पर भी विरहिणी मिलन की आशा लिए हुए है। एकतरफा प्रेम की पृष्ठभूमि में इस प्रकार की विवशताजन्य वेदना

NMDC-065

करुणा-भाव की सृष्टि करती है। आत्म-निवेदन के कारण यह करुणा-भाव और अधिक द्रवीभूत करने वाला बन गया है:

1. तब ह्वै सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी,
सब सुख संग लै बिछोह-दुख दै चले।

अति ही अधीर भई पीर-भीर घेरि लई,
हेली मनभावन अकेली मोहिं कै चले।।'

2. 'ऐसी बढ़ी घनआनंद वेदनि, दैया उपाय तें आवै तँवारो।
हौं ही भरौं अंकलीह कहौं कौंन सों, जा विध होत है साँझ सवारो।।'

यहाँ विरही-हृदय की वास्तविक वेदना को कवि ने वाणी प्रदान की है। पहले उदाहण में प्रिय की अनुपस्थिति में विरहिणी को सारी दुनिया से कट जाने और नितान्त अकेली हो जाने की व्यथा व्यंजित हुई है। वह कहती है कि प्रिय जाते समय सारे सुखों को बटोरकर अपने साथ लेता गया और उसके बदले में उसे वियोग की व्यथा सौंप गया। पीड़ा की भीड़ ने उसे घेरकर बुरी तरह व्याकुल कर दिया। अंत में उसका यह कथन 'हे सखी! प्रिय मुझे अकेली करके चले गए'—उसकी आन्तरिक मनोदशा की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति करता है। यहाँ अकेलेपन में केवल प्रिय से ही अलग होने की स्थिति नहीं है, वरन सारी दुनिया से अलग हो जाने की वेदना है। दूसरे उदाहरण में वेदनाधिक्य को बड़े ही सांकेतिक ढंग से व्यक्त किया गया है। 'जा विध होत है सांझ सवारो (संध्या-प्रात:)' उसे 'हौं ही भरौं अकली' के माध्यम से विरहिणी ने अपनी मौन-व्यथा को मुखर कर दिया है। मौन को मुखरित करने की इस पद्धति पर घनानन्द का पूर्ण अधिकार था। स्थान-स्थान पर आह, हाय, अरे, दैया, अहो, रे आदि शोक और आश्चर्यसूचक शब्दों के अत्यन्त काव्यात्मक प्रयोग द्वारा तो कवि ने इस कार्य को सम्पन्न किया ही है, साथ ही मौन का सहारा लेकर भी इसे सम्पादित कया है:

'जो दुख देखति हौं घनआनंद रैनि-दिना विन जान सुतंतर।
जानै वेई दिन राति, बखाने तें जाय परै दिन-रात को अंतर।।'

विरहिणी का यह कथन कि 'प्रिय के बिना रात-दिन मैं जो दुख देख (झेल) रहीं हूँ, उसे वे रात और दिन ही जानते होंगे, वे ही इसके साक्षी हैं। उसका वखान करने पर उसकी वास्तविक और कथित स्थिति में जमीन-आसमान का अन्तर आ जाएगा'। घनानन्द ने विरही की व्यथा को प्राय: इसी पद्धति से संकेतित किया है।

NMDC-065

परम्परगत पद्धति के विरह-वर्णन में अभिलाषा, चिन्ता, गुणकथन, स्मृति, मूर्च्छा उन्माद आदि विभिन्न मनोदशाओं का सहारा लिया जाता है। रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों ने वियोग-वर्णन में इन मनोदशाओं के लक्षणबद्ध चित्रण प्रस्तुत किए हैं। घनानन्द में इसका सर्वथा अभाव है। वैसे इन्होंने भी स्मृति, चिन्ता, अभिलाषा, उन्माद, मूर्छा आदि मनोदशाओं का वियोग-वर्णन में पूरा सहारा लिया है, लेकिन इन्हें शास्त्रीय लक्षणबद्धता से प्राय: मुक्त रखा है। विरहताप, कृषता, वैवर्ण्य आदि के चित्रण की ओर भी इनकी दृष्टि गई है, लेकिन इन अंवस्थाओं की ऊपरी नाप़-जोख की अपेक्षा, इनके माध्यम से आन्तरिक व्याकुलता को उद्घाटित करने का प्रयास ही इनमें अधिक मिलता है। इसे एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है :

'अंतर आँच उसास तचै अति, अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौ कहलाय मसोसनि ऊमस, क्यौं हू कहूँ सु धरै नहि थावस।।

यहाँ अंतर की आँच बाहर वालों का निकटवर्तियों को न जलाकर केवल उच्छ्वास को गरम करती है और उद्वेग की आँच (हलका ताप) से अपने ही अंग तपते (उसीजै) है। मसोस (टीस) की गर्मी (उमस) से जी (मन) मुरझाता हुआ अधीर या व्याकुल हो जाता है। वस्तुत: वेदना की आँच की तपती हुई विरहिणी सहृदय के अन्दर भी वेदना उसकी उत्पन्न करती है। वेदना की सघनता घनानन्द के यहाँ रीतिबद्ध कवियों की भाँति विरहिणी को करुणा की विलासपूर्ण क्रीड़ा का क्षेत्र नहीं बनने देती। वह वास्तविक करुणा की मूर्ति बनकर हमारे सामने उपस्थित होती है :

'हिये मैं आरति सुजारति उजारति है,
मारति मरोरैं जिय डारति कहा करौं।
रसना पुकारि कै विचारि पचि-हारि रहै,
कहै कैसे अकह उदेग रुँधि के मरौं।
हाय कौन वेदनि विरचि मेरे बाँट कीनी,
निघटि परौं न क्यौं हूँ, ऐसी विधि हौं गरौं।
आनन्द के घन हौं सजीवन सुजान देखौ,
सीरी परि सोचनि अचम्भे सों जरौं भरौं।

'हृदयस्य वेदना अन्त:करण को जलाते-उजाड़ते हुए मरोड़ कर प्राणों को मारे डाल रही है। बेचारी जिह्वा पुकार-पुकार कर थक गई है, लेकिन अकथनीय वेदना स्पष्ट नहीं कर सकी है। प्रकटीकरण के अभाव में व्याकुलता से अवरुद्ध होकर मैं भीतर-ही भीतर मर रही हूँ। विधाता ने, पता नहीं, कैसी वेदना मेरे भाग्य में लिख दी है, जिससे तिल-तिल करके इस प्रकार गल रही हूँ कि पूरी तरह मर (समाप्त) भी नहीं पाती। अन्त में प्रिय सुजान को सम्बोधित करते हुए विरहिणी कहती है कि 'सोच के मारे ठण्डी पड़ती हुई मैं आश्चर्य से जलते हुए दिन काट रही

NMDC-065

हूँ।' इसमें व्यक्त विवशता, व्याकुलता, दैन्य आदि पाठक को करुणाभिभूत कर देते हैं। प्रिय की निष्ठुरता और प्रेमी की एकनिष्ठता इस करुणा-भाव को और अधिक तीव्र करती हैं। इस तथ्य को जब सीधी और सहज शब्दावली में कवि प्रस्तुत करता है तो यह और भी हृदय द्रावक हो जाता है :

'पूरन प्रेम को मंत्र महापन, जा मधि सीधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि, यौ पचि कै रचि राखि विसेख्यौ।
ऐसा हियो-हित-पत्र पवित्र, जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान, अजान लौं, टूक कियौं पर बाँचि न देख्यौं।।'

यहाँ विरहिणी ने अपने दृढ़ और पवित्र प्रेम के सन्दर्भ में पिय की निष्ठुरता की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति की है। वह अपने हृदय रूपी पवित्र प्रेम-पत्र की चर्चा करते हुए कह रही है कि 'उस पत्र में प्रिय के सुन्दर और मोहक चरित्र को श्रमपूर्वक संकल्प की पूर्ण दृढ़ता के साथ प्रेम के मंत्र के रूप में अंकित किया गया था। अर्थात मेरे हृदय में कभी किसी अन्य की कामना की छाया तक भी नहीं पड़ी थी। उस हृदय रूपी पवित्र प्रेम-पत्र को प्रिय सुजान ने पकड़कर देखने से पहले ही एक अनभिज्ञ की तरह फाड़कर फेंक दिया।' ' अजान लौ टूक कियौ' में जानते हुए भी अजान की तरह टुकड़े-टुकडे करना, अर्थात निर्ममता से फाड़कर फेंक देने का भाव निहित है। इसके साथ 'बाँचि न देख्यौ' (देखना भी गवारा नहीं हुआ) से प्रिय के उपेक्षा भाव को संकेतिक किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विरह-भावना के अन्तर्गत दैन्य एवं निरूपायता जनित करुणा-भाव को कवि ने बड़ी ही सफाई के सथ प्रस्तुत किया है। वस्तुत: एकतरफा प्रेम की यह एक अत्यन्त स्वाभाविक स्थिति है। इस स्थिति तक पहुँचा हुआ प्रेमी ही एकतरफा प्रेम का एकनिष्ठता से निर्वाह कर सकता है।

(च) दृढ़ता और साहस -- प्रेम-मार्ग के अत्यन्त धीर पथिक घनानन्द ने वियोग के अन्तर्गत दैन्य, विवशता, निरवलम्बता आदि करुणोत्पादक मनोदशाओं का समावेश करते हुए भी एक अपूर्व दृढ़ता और साहस का परिचय दिया हैं। वस्तुत: इनके यहाँ प्रेमोन्माद में प्रेमी इस बात की परवाह ही नहीं करता कि प्रिय भी उसे प्रेम करता है या नहीं। इसलिए घनानन्द के काव्य में आत्मदान की भावना अत्यन्त प्रबल है, जो प्रेम को साहसिक पथों की ओर अग्रसर करती है :

'चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्द घन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है।'

NMDC-065

वस्तुत लोक और शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से इस प्रकार के विषय प्रेम को उचित नहीं माना गया है। लेकिन इन बंधनों का उल्लंघन कर घनानन्द का प्रेमी अपना प्रेमादर्श स्थापित करता है। वेदना और पीड़ा की कसक से इसका रोम-रोम भरा हुआ है। उसके प्रत्येक उच्छ्वास से निराशा का हाहाकार सुनाई पड़ता है। लेकिन इस साधना-मार्ग से उसमें कहीं भी विचलन नहीं दिखाई देता। निराशा प्रकारान्तर से दृढ़ता प्रदान करती हुई उसे एक कठोर साधना में प्रवृत्त कर देती है :

'आसा-गुन बांधि कै भरोसो-सिल धरि छाती,
पूरे पन-सिन्धु मैं न बूड़त सकायहौं।
दुख-दब हिय जारि अन्तर उदेग-आँच,
रोम-रोम त्रासनि निरंतर तचाय हौं।
लाख-लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि,
साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं।
ऐसे घनआनन्द नही है टेक मन माहि,
एरे निरदई ! तोहि दया उपजायहौं।।'

इस कविता में विरहिणी की ओर से परम साहस और दृढ़ निश्चय का परिचय दिया गया है। सूफी साधना से प्रभावित फारसी प्रेम-पद्धति की एक स्वस्थ झाँकी यहाँ प्रस्तुत हुई है। अत्यन्त निर्दय प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए, उसकी आँखों के सामने डूब मरने या विरह वेदना की यत्रंणा झेलते हुए अपने को मिटा देने का दृढ़ निश्चय फारसी प्रेम-पद्धति का आदर्श है। यदि प्रेमी को यह विश्वास हो जाए कि उसकी मृत्यु के बाद प्रिय की आँखों में आँसू के दो बूँद या जिह्वा पर सहानुभूति के दो शब्द आ जाएँगे तो वह प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाता है। यहाँ विरहिणी आशा रूपी रस्सी से भरोसा रूपी शिला को छाती पर बाँध कर प्रेम के प्रतिज्ञा रूपी समुद्र में डूबने के लिए निर्भय होकर व्रत लेती है। यहीं नहीं, वरन दु:ख की दावाग्नि में हृदय को जलाकर आन्तरिक व्यथा की त्रासदायक आँच में अपने सम्पूर्ण शरीर को निरन्तर तपाने का निश्चय भी करती है। 'लाख-लाख भाँति की विरह दशाओं को अच्छी तरह समझ कर उन्हें साहसपूर्वक झेलना'—कुछ वैसा ही है, जैसे अनेक साधना-पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रयास। प्रेम और भक्ति-दोनों ही क्षेत्रों के लिए यह साधना फारसी साहित्य की देन है। रीतिकाल के अन्यान्य कवियों पर फारसी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। लेकिन उसके विषम या एकतरफा प्रेम की गम्भीरता की वास्तविक अभिव्यक्ति घनानन्द में ही मिलती है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा 'एरे निरदई

NMDC-065

तोहि दया उपजाय हौं'— लौकिक शृंगार के चितेरों में सिर्फ घनानन्द की ही विशेषता है। विरहिणी प्रिय के सम्मुख चुनौती प्रस्तुत करते हुए कहती हैं –

'मौन हूँ सौ देखिहौं, कितेक पन पालि हौ जू,
कूक भरी मूँकता बुलाय आप बोलि है।
रुई दिएँ रहोगे कहा लौं बहराइवे की,
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलि है।'

वेदना की शक्ति पर इतना दृढ़ विश्वास हिन्दी के अन्य शृंगारिक कवियों में दुर्लभ है। 'कभी-न-कभी तो मेरी वेदना-विह्वल पुकार तुम्हारे बहरे कानों को खोलेगी ही' — इस प्रकार की दृढ़ता विरही की एकनिष्ठता के कारण है। प्रिय की करुणा-दृष्टि न भी मिले तो भी विरहिणी अपने साधना-पथ से विचलित नहीं होती। वह प्रिय के सम्मुख एक दूसरी ही चुनौती प्रस्तुत कर देती है :

'तुम दीन्ही पीठि, दीठि कीन्हीं सनमुख याने,
तुम पैंडे परे, राखि रह्यौ यह प्रान कों।
और सबै सहौं कछू कहौं न कहा है बस,
तुम्हैं बदौं तौ पे जौ बरजि राखौ ध्यान कौं।"

यहाँ प्रिय के ध्यान (स्मरण) को ही विरहिणी अपनी शक्ति और अमूल्य निधि मानकर चलती है। क्योंकि प्रिय के विमुख हो जाने पर वह उसकी ओर और अधिक उन्मुख हो जाता है। प्रिय प्राणों के पीछे पड़ा है, अर्थात उसको समाप्त कर देना चाहता है, लेकिन ध्यान उसकी रक्षा में लगा हुआ है — तात्पर्य यह है कि प्रिय के ध्यान ने ही विरहिणी को जिन्दा रखा है। अंत में वह कहती है कि 'मैं बिना कहे सब कुछ सहन कर रही हूँ, क्योंकि इस पर मेरा कोई वश नहीं है। लेकिन तुम्हें तब जानूं, जब तुम मेरे ध्यान को भी रोक लो।' इससे स्पष्ट है कि विरहिणी के पास केवल प्रिय की यादें ही रह गई हैं। इन यादों की रक्षा के लिए वह 'भयंकरतम विष के घमण्ड को चूर करने वाली विरह-दशा का निरंतर पान करते हुए अपने प्राणों को शरीर के अन्दर घोंट रही है। प्रेम के रण-क्षेत्र की धूलि में अपनी साँस को चूर-चूर कर, साहसपूर्वक उद्विग्नता के विषाक्त वाणों को अपने सीने पर झेल रही हैं। अंत में यह अपने प्राणों को सान्त्वना देते हुए कहती है कि 'इतना करने पर भी यदि प्रिय अनुकूल नहीं होते तो तू भूलकर भी इसके लिए पश्चाताप मत करो। क्योंकि विधाता ने तुम्हारे हिस्से अंगारों पर लेटना ही लिखा है' इससे स्पष्ट है कि घनानन्द ने विरहिणी के दैन्य और निरवलम्बता का चित्रण करते हुए भी उसमें

NMDC-065

एक अपूर्व साहस और दृढ़ता का समावेश किया है। वस्तुत: इस साहसिकता का मूलाधार कवि का विशेष प्रेमादर्श या उसकी प्रेम सम्बन्धी यह मान्यता है:

'चंदहि चकोर करै, सोऊ ससि देह धरै,
मनसा हूँ रहै एक, देखिबे को रहै द्वै।
ज्ञान हूँ वे आगे जाकी पदवी परम ऊँची।
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
ज्ञान घनानन्द अनोखो, यह प्रेम-पंथ,
भूले ते चलत, रहै सुधि कै यथित है।
बुरौ जिन मानौ जो न जानौ कहूं सीखि सेहू,
रसना कै छाले परै प्यारे नेह-नावं छ्वै।।

यहाँ कवि ने प्रेम-साधना को ज्ञान-योग या भक्ति से भी उच्च स्थान दिया है। यह चन्द्रमा (प्रिय) को चकोर (प्रेमी) और चकोर को चन्द्रमा की स्थिति में ला देता है। जिस प्रकार ज्ञान की चरम स्थिति में ज्ञाता और त्रेय या भक्त और भगवान की अद्वैतता स्थापित हो जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रेम की चरमावस्था में प्रेमी और प्रिय का भी अद्वैत हो जाता है। प्रेमी और प्रिय की पूर्ण एकता की स्थिति से उत्पन्न आनन्द (रस) में भोगियों की समूची भोग-भावना तिरोहित हो जाती है। अपने इस रूप में घनानन्द के यहाँ प्रेम साधना की उस भूमि पर पहुँच गया है, जहाँ वासना पूर्णत: तिरोहित हो गई है। प्रेम के इस अनोखे पथ पर आत्मविस्मृति में चलकर ही सफलता मिल सकती है, सतर्क होकर चलने वाला हार मान कर बैठ जाता है। अत: विषम होने बावजूद भी घनानन्द के यहाँ प्रेम में अंतत: एक समता की स्थिति मिलती है, जो सूफी प्रेम के अधिक निकट प्रतीत होती है। यहाँ प्रेम एक ऐसा साधना-मार्ग बन गया है, जो निरन्तर साधन से साध्य बनता गया है। इस अहैतुकता के कारण प्रेम या उसकी पीड़ा ही प्रेमी के लिए प्रिय की अमूल्य थाती बन जाती है :

कौन कौन बात को परेखे डर आनियै हो,
जान प्यारे कैसे विधि-अंक टारियत है।
थाती लौ तिहारी प्रीति छाती पै विराजि रही,
हेरि-हेरि आँसुन-समूह डारियत है।।'

प्रिय की उपेक्षा और उसकी निष्ठुरता को विधाता का अंक या भाग्य का लेखा मानकर विरहिणी अपने मन से असंतोष और सभी प्रकार के पछतावों को निकाल कर 'प्रेम की पीर' को प्रिय की मूल्यवान धरोहर में रूप में हृदय में संजोए हुए है। उसके नेत्र इसे देखकर विह्वलतापूर्वक

NMDC-065

अश्रु न्यौछावर करते रहते हैं। एक-तरफ प्रेम के सन्दर्भ में इस प्रकार की तल्लीनता और अन्तरंगता प्रकारान्तर से विरही की दृढ़ता और साहस के ही सूचक हैं।

(छ) वियोग में प्रकृति तथा अन्य बाह्य व्यापार— वियोग-वर्णन में अपने समय के अन्य कवियों की भाँति घनानन्द ने भी वर्षा, मेघ, चाँद, चाँदनी, अंधेरी रात, फ़ाल्गुन, बसंत, होली आदि प्राकृतिक उपकरणों एवं सामाजिक अवसरों का सहारा लिया है। संयोग-काल में ये उपकरण जिस प्रकार सुखात्मक अनुभति में वृद्धि करते हैं, ठीक उसी प्रकार वियोग-काल में दुखात्मक अनुभूति को भी उद्दीप्त करते हैं। घनानन्द ने भी इनका उपयोग प्राय:उद्दीपन के रूप में ही किया है। लेकिन प्रकृति के रीतिबद्ध स्वरूप का परित्याग कर कवि ने उसके साथ एक गहरी आत्मीयता भी व्यक्त की है। इसे समुचित रूप से समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है।

'एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बारी
तोसों और कौन, मनै, ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े को समान, घन-
आनंद निधान, सुख-दान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे,
अब है अमोही बैठे, पीठ पहिचान दे।
बिरह बियाही भूरि, आँखिन मैं राख्यौ पूरि,
धूरि तिनि पायन की हा हा ! नेकु आनि दै।।'

रीतिबद्ध कवियों की भाँति घनानंद ने वियोग वर्णन में दूत-दूती या संदेशवाहक आदि को मध्यस्थता की व्यवस्था प्राय: नहीं की है। लेकिन उक्त उदाहरण में विरहिणी ने वायु से अपनी व्यथा का निवेदन करते हुए प्रिय के चरणों की धूलि लाने का अनुरोध किया है। वस्तुत: पवनदूत और मेघदूत की परम्परा भारतीय साहित्य में पर्याप्त प्राचीन काल से रही है। इससे जहाँ एक ओर व्यापक प्रकृति के साथ विरही के हृदय का तादात्म्य सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर कवि की रीतिमुक्तता का भी आभास मिलता है। वायु की सर्वत्र प्रसरणशीलता और उसके समतावादी-लोकहितकारी स्वरूप का स्मरण कराते हुए विरहिणी अपने अत्यन्त रूपवान प्रिय की विमुखता से भी परिचित कराती है। प्रिय के मन में उपेक्षा भाव है, अत: उसके पास कोई संदेश न भेजकर वह वायु से केवल इतना ही अनुरोध करती है कि 'मेरी विरह-वेदना को दूर कराने में संजीवनी बूटी का सा असर रखने वाली प्रिय-चरणों को थोड़ी-सी धूलि वह ला दे।' प्रिय की चरण-रज को आँखों में अंजन की तरह लगाकर संतोष कर लेना, उसके प्रेम की अहैतुकता का संकेतक है। मेघदूत के संदर्भ में भी कवि ने कुछ इसी प्रकार की भावना को प्रकट किया है :

NMDC-065

'परकाजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ है दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद जीवन-दायक ही कछु मेरियौ पीरहिये परसौ।
कबहूँ वा विसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानि हूँ लै बरसौ।।'

विरहिणी बादल को दौत्य-कर्म के लिए प्रेरित करती हुई कहती है कि 'तुम दूसरों की भलाई के लिए शरीरधारण कर अपने परजन्य (जो दूसरों के हित के लिए उत्पन्न हो) नाम को सार्थक करते हो। अत: मेरे लिए भी तुम अपने इस नाम को सार्थक करो। समुद्र के खारे जल को अमृत के समान करते हुए तुम सभी प्रकार से अपनी सज्जनता का परिचय देते हो। सारे संसार को तुम जीवनदान करने वाले हो, अत: मेरी पीड़ा को भी अपने हृदय में अनुभव करो। यदि और कुछ नहीं कर सकते तो कम-से-कम उस विश्वासघाती प्रिय के आँगन में कभी अवसर देखकर मेरे आँसुओं की वृष्टि करो। अर्थात मेरी वेदना को उस तक पहुँचाओ।' कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार तुम यहाँ घिर कर मेरे हृदय में व्यथा की वृद्धि करते हो, उसी प्रकार प्रिय के देश में भी घिर कर उसके हृदय में मेरे प्रति वेदना उत्पन्न करो। इस प्रकार के सहज निवेदनों के अतिरिक्त घनआनंद ने प्रकृति का उद्दीपन रूप में भी चित्रण किया है। अपने इस रूप में वायु और बादल विरहिणी की व्यथा को बढ़ाने वाले सिद्ध होते है :

'वहै सुख-स्रम-स्वेद-समै को सहाय पौन
नाहिं छियै देह, दैया महादुखी-दहिगौ।
वेई घनआनंद जू जीवन को देते, तिनही
को नाम मारिनि के मारिबे को रहिगौ।

वियोग में संयोग-काल के सुखोद्दीपक प्राकृतिक उपकरण व्यथावर्द्धक हो जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरण से मिलन-सुख से उत्पन्न श्रम-स्वेद के समय शीतलता प्रदान करने वाली वायु अब विरह-काल में शरीर को छूती तक नहीं और यदि छूती है तो महादुखियों को जलाकर निकल जाती है। संयोग-काल में शरीर को नवजीवन प्रदान करने वाले बादल अब विरह व्यथा से मरे हुए के लिए मारने वाले बन गए है। इस प्रकार प्रकृति के सारे उपकरण संयोगकाल की अपनी प्रकृति को वियोग काल में पूरी तरह परिवर्तित कर देते हैं। चाँदनी से सम्बद्ध एक उदाहरण द्वारा इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है :

'नेह निधान सुजान संधाई तौ, सींचति ही हियरा सियराई।
सोई किधौं अब और भई, दई हेरति ही मति जति हेराई।
है विपरीत महा घनआनंद, अंबर तें घर कौं झर आई।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई।।'

NMDC-065

चाँदनी के प्रभाव-वैषम्य से चकित विरहिणी की वेदना की कवि ने यहाँ अत्यन्त कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। चाँदनी को देखकर वह कह रही है कि 'प्रेम के आगार प्रिय सुजान के निकट रहने पर तो यह हृदय को सींचकर शीतल करती थी। समझ में नहीं आता कि अब पहले वाली चाँदनी है या कोई दूसरी हो गई है।' इस सम्बन्ध में सबसे 'विचित्र बात तो यह है कि आकाश से आग की लपटें पृथ्वी की ओर आ रही हैं जब कि लपटों की विशेषता यह है कि वे नीचे से ऊपर की ओर जाती हैं। ये लपटें काम-वेदना की ज्वाला से सभी अंगों को जला रही हैं। लगता है यह चाँदनी नहीं, वरन कोई नए प्रकार का अग्निदाह है।' वस्तुत: घनआनंद जहाँ बाह्य उपकरणों का सहारा लेने लगते हैं, वहाँ अभिव्यक्ति की मार्मिकता में प्राय: बाधा पड़ती है। यहाँ चाँदनी के प्रभाव-वैषम्य पर अधिक दृष्टि होने के कारण विरहिणी की वेदना पूरी तरह उद्घाटित नहीं हो पाती। लेकिन इस तरह के बाह्यनिरूपक चित्र इनके काव्य में बहुत ही कम मिलेंगे। होली, बसंत, पावस आदि के प्रसंगों में कवि ने विरहिणी की व्यथा का अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से फाल्गुन का एक उदाहरण लिया जा सकता है :

सोंधे की वास उसाँसहि रोकति, चंदन दाहक ग्राहक जी को।
नैननि बैरी सुनहरी गुलाल अबीर उड़ावत धीरज ही को।
राग बिराग धमार ल्यौ धारसी, लौटि पर्‌यो ढंग यों सबही को।
रंग-रचावन जान बिना घनआनंद लागत फाल्गुन फीको।।'

फाल्गुन महीने में आने वाली होली एक अत्यन्त रंगीन और उत्साह-वर्द्धक त्यौहार है। लेकिन विरहणियों के लिए यह अत्यन्त मारक बन जाता है। यहाँ विरहिणी के लिए होली के अवसर पर प्रयुक्त होने वाली सुगंधियाँ दमघोंटू और चन्दनादि शीतल पदार्थों का लेप प्राणों को दग्ध करने वाला सिद्ध हो रहा है। वातावरण में उड़ता हुआ गुलाल उसके नेत्रों के लिए कष्ट कर शत्रु और हवा में उड़ता हुआ अबीर उसके धैर्य को उड़ाने (समाप्त करने) वाला साबित हो रहा है। विभिन्न राग-रागनियों में गाए जाने वाले गीत उसमें वैराग्य उत्पन्न करने वाले और धमार (होली का एक विशेष गीत) उसके हृदय पर तलवार की धार जैसी चोट करने वाला सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार होली के रंगीन उत्सव पर होने वाली सारी उत्साह-वर्द्धक क्रियाओं का प्रभाव ही उलटा हो गया। आनन्द की रचना करने वाले प्रिय सुजान के बिना विरहिणी के लिए फाल्गुन फीका और अत्यन्त उदासी का वातावरण उपस्थित करता है। घनानन्द ने होली के इस प्रकार के हृदय विदारक अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं। होली में कन्हैया बनने वाले बहादुरशाह 'रंगीले' के राजदरबार का प्रभाव इसमें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अपनी ऐहिकतापरक या लौकिक शृंगार की रचनाओं में घनानन्द ने इस अवसर को प्राय: वियोग से सम्बद्ध करके देखा है। इसके भक्तिपरक पदों में भी होली का सर्वाधिक चित्रण है, लेकिन वहाँ अवसर को प्राय: राधा-कृष्ण के संयोग के साथ सम्बद्ध किया गया है। एक उदाहरण के माध्यम से इसे समझा जा सकता है:

NMDC-065

'हौ उनके रँग वे मेरे रँग भीजि भीजि रीझनि माँची रसहोरी है।
भली भई फागु के दिननि में उघरि परी हितचोरी है।
प्रीतिरीति गीतनि गावत ब्रज घर घर केसरि घोरी है।
आनंदघन राधिका दामिनी जगतस्-उजागर जोरी है।।'

'पदावली' के अधिकांश पदों में इसी प्रकार की क्रीड़ापरकता मिलेगी। लेकिन 'सुजानहित' में इस पर्व को व्यथा-वर्द्धक रूप में ही कवि ने चित्रित किया है :

'फागुन महीना की कही ना परैं बातै दिन–
रातैं जैसे बीतत सुने ते डफ-घोर कों।
कोऊ उठै तान गाय, प्रान बान पैठि जाए,
हाय चित-बीच पै न पाऊँ चितचोर कों।
मची है चुहल चहूँ ओर चोप-चाँचरि सों,
कासों कहौ सहौ हौं बियोग झकझोर कों।
मेरा मन आली वा बिसासी वनमाली बिन,
बावरे लौं दौरि-दौरि परै सब ओर कों।।'

फागुन महीने में निरन्तर बजने वाले डफ (ढोल) की भंयकर आवाज सुनकर विरहिणी जिस यातना में अपना समय काट रही है, उसे कहा नहीं जा सकता। इस महीने में गाए जाने वाले गीतों की एक-एक तान उसके हृदय में वाण की तरह प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुँचाती है। चाँचर (होली का विशेष गीत) की उमंग से भरपूर समूचे विनोदपूर्ण वातावरण में वह विरह द्वारा जिस प्रकार झिंझोड़ी जा रही है, उस यंत्रणा को बिना कहे मौन-भाव से सहन कर रही है। विश्वासघाती प्रिय के अभाव में उसका मन पागलों की तरह चारों ओर दौड़ता फिर रहा है।

फागुन मास और उसमें पड़ने वाले होली के त्यौहार के साथ ही बसंत को भी घनानन्द ने विरहोद्दीपक के रूप में चित्रित किया है। रतिराज (कामदेव) का सहायक होने के नाते ऋतुराज (बसंत) विरहिणी के लिए अत्यन्त मारक सिद्ध हो रहा है :

'वासर बसंत के अनन्त है के अंत लेत,
ऐसे दिन पारै जु निहारै जिय राति है।
लतनि की फूलनि तमालनि पै झूलनि कों,
हेरि हेरि नई नई भाँति पियराति है।

NMDC-065

प्यारे घनआनंद सुजानें, सुनौ ! बाल-दसा,
चंदन-पवन तें पजरि सियराति है
औसर सम्हारो न तो अनआयवे के संग,
दूरि देस जायबे को प्यारी नियराति है।।'

यहाँ नायिका की विषम स्थिति का दूती द्वारा प्रिय से निवेदन किया गया है। वह कह रही है कि 'बसंत के दिन अंतहीन होकर विरहिणी को मारे डाल रहे हैं। उसके लिए इन्होंने ऐसी घड़ी उपस्थित कर दिया है कि चारों तरफ अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देता है। लताओं का फूलना और मस्ती के साथ तमाल वृक्षों के गले लगकर झूलना देखकर वह विचित्र ढंग से पीली पड़ती जा रही है। शीतल, मंद, सुगंधित वायु से वह झुलस कर ठंडी पड़ने वाली है। समय रहते ही यदि आप उसे संभाल नहीं लेते तो उसकी कुशल नहीं है। आपके न आने के साथ (न आने पर) वह दूर देश के निकट (मृत्यु के करीब) पहुँचती जा रही है।' यहाँ यह स्मरणीय है कि घनानन्द ने संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों के चित्रण में दूती या मध्यस्थ का सहारा प्राय: नहीं लिया है। लेकिन इस प्रकार का विधान उन्होंने जहाँ भी किया है, वहाँ रीतिबद्धता का आभास मिलने लगता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रकृति के संबंध में उनकी दृष्टि अधिक व्यापक है। फलस्वरूप इनके यहाँ प्रकृति मानवीय भावधारा से रंजित होकर प्रस्तुत हुई है। इसे समझने के लिए पावस का एक उदाहरण लिया जा सकता है :

'बिकल बिषाद भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनी हू लहकि बहकि यौं जर्‌यो करै।
जीवन-अधार पन-पूरित पुकारनि सों
आरत पपीहा नित कूकनि कर्‌यो करै।
अस्थिर उदेग-गति देखि कै अनंदघन,
पौन बिडर्‌यौ सा बन-बीथिनि रर्‌यौ करै।
बूँदै न परति मेरे जान जान प्यारी, तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै।।

विरही की अन्तर्मुखता और आत्मनिष्ठता समूचे प्राकृतिक व्यापार को उसकी वेदना से रंजित कर देती है। प्रकृति से इस प्रकार का तादात्म्य सूफी कवि जायसी के साथ ही सूरदास, मीरां, कबीर आदि सभी भक्त कवियों में हमें देखने को मिलेगा। रीतिबद्ध कवियों में इसका पर्याप्त अभाव दिखाई देता है। प्रस्तुत कवित्त में दूती नायिका से उसके प्रेमी की व्यथा का निवेदन कर रही है। वह पावसकालीन समस्त प्राकृतिक क्रिया व्यापार का कारण विरही की व्यथा में दिखाकर

NMDC-065

नायिका के हृदय में दया उत्पन्न करना चाहती है। विरही की विषादपूर्ण स्थिति से द्रवीभूत होकर बिजली का पागल होकर दहक उठना और अपने जीवनाधार प्रिय के प्रेम की प्रतिज्ञा से परिपूर्ण उसकी (विरही की) पुकार को सुन पपीहे का करूणाभिभूत होकर क्रन्दन करना, व्यथा के सर्वग्रासी होने की मार्मिक अभिव्यक्ति है। विरही की अस्थिर और बेचैन स्थिति से व्याकुल होकर वायु का दिग्भ्रमित होना तथा वन और गलियों में भटकना इस व्यथा की मार्मिकता में और अधिक वृद्धि करता है। अंत में यह कथन कि 'ऐ प्यारी सुजान ! ये बरसात की बूँदे नहीं, वरन तुम्हारे विरही की व्यथा से द्रवीभूत होकर बादलों ने अश्रु की झड़ी लगा रखी है।' प्राकृतिक क्रिया-व्यापार में इस प्रकार की सहानुभूति प्रकृति के साथ मानव के चिरसाहचर्य का संकेतक है। वह अपने सुख और दुख में प्रकृति को अपने सबसे निकट पाता है। प्रस्तुत उदाहरण में भी कवि ने मध्यस्थ के रूप में दूती का विधान किया है, लेकिन परम्परा का यहाँ निर्जीव रूढ़ि के रूप में अन्धानुकरण नहीं किया गया है। प्राकृतिक व्यापारों में इस प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शन के साथ ही कवि ने उनमें शत्रु-भाव का भी समावेश किया है। कोकिल, मोर, पपीहा, बादल आदि की आवाज विरहिणी की वेदना के लिए कटे पर नमक का कार्य करती प्रतीत होती है :

कारी कूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबहि करेजो किन कोरि लै।
पैडे परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यौं ही,
चातक ! घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लैं।
आनंद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै।
जौं लौं करै आवन विनोद-बरसावन वे,
तौं लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लैं।।'

इसमें नाम-परिगणना-प्रणाली और रीतिबद्धता का आभास अवश्य मिलता है, लेकिन आत्म-निवेदन के रूप में विरहणी द्वारा कोकिल, मोर, चातक, बादल आदि के लिए प्रयुक्त आक्रोशसूचक विशेषण सारे वर्णन में एक व्यक्तिनिष्ठ स्पर्श ला देते हैं। अतः इसे नितान्त रीतिबद्ध एंव घिसा-पिटा वर्णन नहीं कह सकते। इसी प्रकार सावन, माघ, ग्रीष्म, वसंत आदि महीनों-ऋतुओं तथा अन्यान्य प्राकृतिक उपकरणों और दृश्यों के माध्यम से घनानन्द ने विरह-व्यथा की मार्मिकता को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति दी है।

NMDC-065

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि घनानन्द की विरह भावना वेदना की विलासपूर्ण कल्पना न होकर अधिकांशत: अपने निजी जीवनानुभवों पर आधारित है। इसलिए उसमें एक विशेष प्रकार की सहजता और हृदयस्पर्शिता मिलती है। गहन चिन्ताजन्य आत्म-निवेदन और निजी अनुभव-संदर्भ इनके वियोग-वर्णन को मात्र वर्णन न रहने देकर आत्माभिव्यक्ति का दर्जा देते हैं। अत: इनकी वेदना पाठक को अपना सहभागी बनाती है। यह विशेषता इन्हें अपने युग के अधिकांश कवियों से भिन्नता प्रदान करती है।

NMDC-065

20 कवि पद्माकर की काव्य-माधुरी

भगीरथ मिश्र

पद्माकर भट्ट रीतियुग के विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उनके काव्य में सेनापति के कवित्त की गति, मतिराम की सुकुमार भाव-समृद्धि और देव की विशद चित्रात्मकता के एक साथ दर्शन होते हैं।

पद्माकर को विभिन्न राजाओं से बहुत द्रव्य और साज-समान दान में मिला था। कहते हैं इस प्रकार दान से उनको छप्पन गांव, छप्पन हाथी और छप्पन लाख रुपये प्राप्त हुए थे। ये जहाँ जाते थे बड़े ठाट-बाट-लावलश्कर के साथ जाते थे। एक बार पद्माकर जयपुर से बांदा जा रहे थे। इनके दल को देखकर मार्ग में बूंदी राज्य के निवासियों ने समझा कि किसी राज्य ने आक्रमण कर दिया है। पद्माकर को जब उनकी इस धारणा का पता चला तो उनके भ्रम-निवारणार्थ उन्होंने एक छन्द पढ़ा जो इस प्रकार है:-

सूरत के साह कहै, कोऊ नरनाह कहै,
कोऊ कहै मालिक ये मुलूक दराज के।
राव कहै कोऊ उमराव पुनि कोऊ कहै,
कोऊ कहै साहिब ये सुखद समाज के।
देखि असबाब मेरो भरमैं नरिन्द सबे,
तिनसौ कहे में बैन सत्य सिरताज के।
नाम 'पद्माकर' डराउ मत कोऊ भैया,
हम कविराज है प्रताप महाराज के।।

इसी प्रकार के अन्य परिचयों से स्पष्ट होता है कि पद्माकर स्वाभिमानी और गुणग्राहक कवि थे। उनके भव्य ठाट-बाट, राजसी सम्मान और वैभव विलासपूर्ण जीवन का प्रभाव पद्माकर की रचनाओं में स्पष्टत: प्रतिबिंबित है। इस विशेषता ने पद्माकर के काव्य को एक मनोरमता एवं सम्पन्नता प्रदान की। उनके सभी प्रकार के वर्णनों में यह युगीन वैभव-विलास छलका पड़ता है। इसके प्रमाण रूप उनके शिशिर ऋतु-दर्शन का एक प्रसिद्ध छंद देखिए:-

कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला है।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन येते उदित मसाला है।

NMDC-065

तान तुक ताला है विनोद के रसाला है,
सुबाला है दुसाला है विसाला चित्रसाला है।।

यह तो साधन और सामग्री के रूप में विलास-वैभव का चित्रण हुआ। पद्माकर के काव्य में व्यक्तिगत अलंकरण एवं विलास-सज्जा की छटा भी कम नहीं है। ऐसे वर्णनों में चित्र सजीव रूप में सामने नाच उठता है। जगत-विनोद में वर्णित एक अभिसारिका की सज्जा यहां एक छन्द में प्रस्तुत की जाती है।

घूंघट की धूमकै, सु झुमके जवाहर के
झिलमिल झालर की भूमि लों झुलत जात।
कहै 'पद्माकर' सुधाकर मुखी के हीर
हारन में तारन्न के तोम ते तुलत जात।
मंद-मंद हैकल सतंग ली चलेई, भले
भूषन समेत भुज भूषन झलत जात।
घांघरे झकोरिन चहूंआ खोरि-खोरि हूं मैं,
खूब खसबोह के खजाने से खुलत जात।।

पद्माकर की वर्णन माधुरी के अन्तर्गत इनके ऋतु-वर्णनों का एक विशेष स्थान है। यों तो ये विभिन्न ऋतुओं के वर्णन भावों के उद्दीपक हैं, पर इनके अन्तर्गत ऋतु की स्थूल विशेषताएं साकार-रूप में आंखों के सामने नाचने लगती हैं। पद्माकर ने सभी ऋतुओं का दृश्यात्मक एवं भावात्मक चित्र खींचा है। इसमें शिशिर का एक चित्र अभी दिया जा चुका है। यहां पद्माकर द्वारा प्रस्तुत वसन्त का एक वर्णन सुनिए:-

औरे भांति कुंजन में गुंजरत भौर भीर,
औरे डौर झौरन में बौरन के व्है गये।
कहै 'पद्माकर' सु औरे भांति गलियान
छलिया छबीले छैल औरे छबि छ्बै गये।
औरे भांति विहग समाज में अवाज होति,
अब ऋतुराज के न आज दिन द्रै गये।
औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रंग
औरे तन औरे मन औरे बन व्है गये।

यह तो सभी का अनुभव है कि बसन्त एक विलक्षण मादकता को लेकर आता है। पद्माकर ने बसन्त की उसी विकलता का, तुरन्त पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन अपने छन्द में किया है। वह

NMDC-065

ऋतुराज है अत: उसका वह मादक प्रभाव उसके अनुरूप ही है। कवि की दृष्टि से उसकी यह विशेषता भला कैसे छिपी रह सकती है। परन्तु उसका यह मादक रूप संयोग की अवस्था का है। वियोग की अवस्था में उनका कुछ दूसरा ही रूप सामने आता है। गोपिकाओं के सन्देश के माध्यम से वियोगावस्था में प्राप्त वासन्ती प्रभाव का वर्णन पद्माकर के शब्दों में सुनिए:-

पात बिन कीन्हे ऐसी भांति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज है।
कहै 'पद्माकर' विसासी या बसन्त के सु,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज है।
ऊधो यह सूघो सो सदेशो कंहि दीजौ भलो,
हरि सों, हमारे ह्याँ फूले वन कुंज है।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अंगारन के पुंज है।।

इसी स्थिति में पद्माकर द्वारा प्रस्तुत वर्षा-वर्णन भी बड़ा कारुणिक है। इसकी सरस विशेषंता में विषाद की छाया हृदय-द्रावक हो गई है। ऐसा जान पड़ता है कि वियोग की स्थिति में वर्षा के रसमय दृश्यों का बार-बार आना असह्य सा हो गया है। तभी पद्माकर कहते हैं:-

चचला चमकै चहु ओरन ते चाह भरी,
चरनि गई थी फेरि चरजन लागी री।
कहै 'पद्माकर' लवंगन का लोनी लता,
लरज गई तो फेरि लरजन लागी री।
कैसे धराँ धीर वीर त्रिविध समीरै तन,
तरजि गई तो फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घुमड़ घटा घन का घनेरी अबै,
गरजि गई तो फेरि गरजन लागी री।

परन्तु प्रमुखतया पद्माकर उल्लास और हास-विलास के कवि हैं। यही कारण है कि उनके चित्रणों में अधिक, प्रचुर और सजीव चित्र होली और फागुन के हैं। इन चित्रों में दृश्यों, रूपों और भावों की मर्मस्पर्शी और कहीं-कहीं बड़ी चटकीली विविधता पाई जाती है। होली का उनका अति प्रसिद्ध चटकीला नाटकीय वर्णन एक छन्द में देखिए:-

फाग की भीर अभीरन में गहि गोविन्द ले गई भीतर गोरी।
भाई करी, मन की 'पद्माकर' ऊपर नाय अबीर की झोरी।

NMDC-065

छीनि पितंबर कंबर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

होली के अनुरूप हास्य-विनोद और हुड़दंग का यह चित्र सजीवता एवं यथार्थ क्रियाकलाप को प्रस्तुत करता है। यह फाग की एक सामूहिक झांकी है। पद्माकर ने इसकी ऐकान्तिक एवं व्यक्तिनिष्ठ एवं क्रियात्मक झांकियां भी प्रस्तुत की हैं। अनुराग-फाग की एक भावात्मक झांकी देखिए:-

या अनुराग की फाग लखाँ जहां रागती राग किसोर किसोरी।
त्याँ पद्माकर घाली घली फिर लाल ही लाल गुलाल को झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रंग भींजिगो साँवरो साँवरों के रंग भींजी सु गोरी।।

अनुराग की यह विलक्षण फाग है जिसमें एक-दूसरे का रंग चढ़ जाता है। यह रंग धुलता नहीं है, वरन धुलने से और चटकीला होता जाता है। यह साधारण रंग नहीं। यही हाल असाधारण लाल गुलाल का भी है। पद्माकर के एक छंद में देखिए:-

एकै संग धाये नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गये जू भरि आनंद मढैं नहीं।
धोय धोय हारी 'पद्माकर' तिहारी सौह,
अब तो उपाय एको चित में चढ़ै नहीं।
कैसी करौ कहाँ जाऊँ कासों कहौ कौन सुने,
कोऊ तौ निकासी जासों दरद बढ़ै नहीं।
ये री मेरी वीर जैसे तैसी इन आंखिन सो,
कढ़िगो अबीर पै अहीर की कढ़ै नहीं।।

वैयक्तिक क्रिया-कलाप से युक्त होली की चेष्टा और प्रभाव की एक झलक पद्माकर के एक अन्य छन्द में दर्शनीय है:-

आई खेलि होरि घरे नवल किशोरी
कहूँ बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।
कहै, 'पद्माकर' इकंत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन के फंद बंद छोरै है।
घांघरे की घूमनि सु ऊरुनि दुबीचै दाबि,
आंगिहू उतारि सुकुमारि मुख मोरे है।

NMDC-065

दंतन अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है।

यह प्रधानतया पद्माकर की वर्णन-माधुरी के कुछ नमूने हैं, जिसमें पद्माकर ने वस्तु, परिस्थिति, क्रिया-कलाप और सज्जा-सामग्री का चित्रण किया है। संवारने सिंगारने के भी अनेक सुन्दर छन्द पद्माकर की रचना में उपलब्ध होते है, परन्तु बिहारी या मतिराम के समान रूप-सौन्दर्य के चित्र इनमें कम है। अंग-प्रत्यंगो के सहज सौन्दर्य की जो छटा बिहारी की "गात रूप लखि जात दुरि,' जातरूप को रूप'' जैसी उक्तियों, देव की 'बिना बेनी बंदन वदन सोभा विकसी' जैसी पंक्तियों और मतिराम के' ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे व्है नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सो निकाई'.... जैसे छन्दों में मिलती है, वह पद्माकर के छन्दों में विरल है। पद्माकर ने गतिशील एवं क्रिया--कलाप युक्त रूपों एवं जगर-मगर करने वाले अलंकारों-आभूषणों का वर्णन विशेष किया है। फिर कहीं-कहीं रूप की माधुरी और सुकुमारता दिखाई दे जाती है। इस प्रकार का रूप और सुकुमारता का चित्रण करने वाला छन्द यहां दिया जाता है-

सुन्दर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग।
अंग-अंग फैलत तरंग परिमल कै।
बारन के भार सुकुमारी को लचत लंक,
राजै परजंक पर भीतर महल के।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि जन रीझे जाहि,
अंबर अमर के सफल जल थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
सुजात गड़ि पायन बिछोना मखमल के।।

यह तो स्थिर सौन्दर्य की सुकुमारता का चित्रण हुआ। अब एक क्रिया-कलापमय ताल में तैरते हुए अपने रूप और सौन्दर्य के सम्पर्क से ताल को सौन्दर्य और पवित्रता का गौरव प्रदान करती हुई छबि का चित्रण देखिए:-

जाहिरै जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै बह बेनी।
त्यों 'पद्माकर हीरा के हारन गंग-तरंग को सुख देनी।
पायन के रंग सों रंगि जात सी भांति सी भांति सरस्वतिस्रेनी।
पैरे जहाँइ जहाँ वह चाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।।

यह तो सौन्दर्य का अनलंकृत चित्रण हुआ। पद्माकर के काव्य में ऐसे भी अनेक वर्णन मिलते है, जिनमें रूप-सज्जा, चेष्टा आदि सब की साथ छवि का चित्रण किया गया हो, एक इसी प्रकार का छन्द यहां पर प्रस्तुत है:-

NMDC-065

उझकि झरोखा व्है झमकि झुकि झांकी बाम,
स्याम की बिसरि गई खबरि तमासा की।
कहै 'पद्माकर' चहूँधा चैत-चाँदनी सी,
फैलि रही तैसिए सुगंध सुभ स्वासा की।
तैसी छबि तकल तमीर की तरौनन की,
बैसी छबि बसन की बारन की बासा की।
मोतिन की मांग की मुखौ की मूसुक्यान हूं की।
नैनन की, नथ की, निहारिबे की, नासा की।।

वर्णन और रूप-माधुरी के समान ही पद्माकर की भाव-माधुरी है जो कि कहीं चेष्टाओं द्वारा और कहीं उक्तियों द्वारा वर्णित हुई है। प्रिय के रूप और गुण के प्रभाव से प्रभावित उसके सतत दर्शन और संपर्क का वरदान चाहने वाली प्रेयसी की व्यथा को पद्माकर के एक छन्द में सुनिए:-

पीतम के संग ही उमंगि उड़ि जैबे को,
न ऐसी अंग अनंग परद पँखियां दई।
कहै "पद्माकर" जै आरती उतारै चौर ढारैं,
श्रम हारै पे न ऐसी सखियां दई।
देखि दृग दैव ही न नेकहू अघैये,
इन ऐसे झकाझुक में झपाक झँखियाँ उई।
कीजै कहा राम, श्याम आनन बिलौकिबे को,
बिरचि बिरंचि ना अनंत अँखियां दई।

प्रेमभाव के चित्रण में पद्माकर धनी हैं। उसके विविध रूपों का वर्णन अनेक प्रकार से उन्होंने किया है जिससे उनके काव्य में सरस माधुरी का समावेश हो गया है। आंखों में छाए अनुराग के रंग छेड़छाड़ करने पर अनुराग के रंग पर और रंग न डालने का अनुरोध करती हुई गोपियों की उक्ति पद्माकर के शब्दों में सुनिए:-

भाल पै लाल गुलाल, गुलाब की गैरि गरै गजरा अलबेलो
यों बनि बानिक सों पद्माकर आये जू खेलन फाग तो खेलौ।
पै इक वा छबि देखिबै के लये मो बिनती कै न झारिन झेलौ।
राउरे रंग रंगी अँखियान मै ए बलबीर अबीर न मेलौ।।

यह श्याम के प्रति अनुराग का रंग अनजाने ही चढ़ आया। परन्तु जब वह रंग चढ़ आया तब फिर उस रंग को धो डालना सम्भव नहीं है। प्रेम की इसी स्थिति की व्यंजना पद्माकर के एक छन्द में देखिये:

NMDC-965

गोकुल के कुल के, गली के गोप गाँउन के,
जो लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै 'पद्माकर' परोस पिछुवारन ते,
द्वारन ते दोरि गुन औगुन गनै नहौ।
तौ लो चलि चतुर सहेली आइ कोऊ कहूं
नीकै कै निचौरे ताहि करत मनै नहीं।
हाँ तो श्याम रंग में चुराइ चित चोरा चोरी,
बोरत तो बोन्यो, पै निचोरत बनै नहीं।।

प्रेम भाव बड़ा सुकुमार भाव है। इसके एक संकेत पर बड़े-बड़े काम रुकते और सधते हैं। इसमें कोई धर-पकड़ की आवश्यकता नहीं। सुकुमार भावना के पारखी कविवर पद्माकर ने अपने एक छन्द में प्रेयसी की इसी प्रकार की एक सरस इंगित पूर्ण कोमल चेष्टा का वर्णन किया है, तो सुनिए:-

गो गृह काज गुवालन के कहै देखिबै को कहूँ दूरि के खेरो।
मांगि विदा लई मोहिनी सो 'पद्माकर' मोहन होत सबेरो।
फेट गही न गही बहियां न गरे गहि गोबिंद गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गोपाल की गैल में गेरो।।

भला गुलाब के फूलों का गजरा जैसी सुकुमार भावनाओं और अभिलाषाओं को कुचल कर चले जाने की धृष्टता कौन करेगा? पद्माकर के इस प्रकार की चेंष्टाओं के वर्णन बड़े ही व्यंजना-पूर्ण है। प्रेम में दोनों पक्ष समान रूप से प्रभावित हों, तभी बात बनती है। पूर्ण प्रेम एकांगी नहीं हो सकता। पद्माकर के एक छन्द में इसका वर्णन सुनिए:-

ये इत घूंघट घाली चले, उत बाजत बाँसुरी की धुनि खोलें।
त्यों 'पद्माकर' ये इतै गोरस लै निकसै वै चुकावत मोलें।
प्रेम के पंथ सुप्रीति की पैठ में पैठत ही है दसा यह जोलें।।
राधामयी भई स्याम की सूरति स्याममयी भई राधिका डोलैं।।

इस प्रकार पारस्परिक प्रेम-भाव की विह्वलता तो अत्यन्त विलक्षण होती है। इस भाव में पूर्ण मग्नता से तन्मय होने पर तो दोनों ही की दशा लोक विपरीत हो जाती है। चेष्टा और क्रिया-कलाप कुछ अटपटे से हो जाते हैं, पद्माकर का इसी प्रेम-विभोर दशा की चित्रित करने वाला छन्द देखिए:-

NMDC-065

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि के 'पद्माकर' को मन लावत है।
तिय जानि गैरैयां गही बनमाल सु ऐचं लला इंच्यो आवत है।
उलटी करि दोहनी मोहनी की अंगुरी थन जानिकै दावत है।
दुहिबौ और दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है।।

यह दृश्य देखते हंसी लगती है, परन्तु जब सूर की गोपी दही को बेचने के स्थान पर 'माई कोऊ लेहै री गोपालहि' कह कर कृष्ण को बेचने लगती है और रसखान के शब्दों में कालिन्दी के किनारे भेंट होने पर 'उन्हें भूलि गई गैयां इन्हे गागरी उठाइबो' तब यह उलटा काम भी उसी प्रेम-दशा में संगत लगता है, असंगत नहीं। इस दशा में किसी अन्य कार्य में कैसे मन लग सकता है? क्योंकि एक का मन दूसरे में रम गया है। इस प्रेम-दशा का वर्णन भी पद्माकर के शब्दों में सुनिए:-

घर ना सुहात न सुहात बन बाहिर हूं,
बाग ना सुहात जो खुसाल खुमबोई सो।
कहै 'पद्माकर' घनेरे घन घाम त्यों ही,
चैन ना सुहात चांदनी हू योग जो ही सों
सांझ ना सुहात दिन मांझ कछू
व्यापी यह बात सो बखानत हों तो ही सों।
राति हू सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों।।

वास्तव में गोपियों की यही दशा है। पद्माकर ने इस दशा के अनेक चित्र खींचे हैं जिनमें संयोग की स्थिति में मिलन की अकुलाहट हर घड़ी छिपी रहती है। संसार के और कार्य तो केवल बहाना मात्र है, अवसर मिलते ही यह अकुलाहट, यह मिलनोत्सुकता प्रेम-विह्वलता के रूप में प्रगट हो जाती है। एक ऐसी स्थिति का वर्णन करने वाला छन्द इस प्रकार है-

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहति सुहाई सीस इंडुरी सुपट की।
कहैं 'पद्माकर' गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नबेली नेह अटकी।
ताही समै मोहन सु बांसुरी बजाई,
तामें मधुर मलार गाई, और बंसीवट की।
तान लगे लट की, रही न सुधि घूंघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की।।

NMDC-065

इस स्थिति में कठिन से कठिन मार्ग सुगम, और कष्ट सुख में परिणत हो जाता है। इस दशा में तो 'घाम चांदनी सो लगै, चन्द सौ लगत रवि, मग मखतूल सौ मही है मखमल सी।' पद्माकर के काव्य में इस प्रेम के संयोग पक्ष के विविध रूपों का मर्मस्पर्शी एवं सजीव वर्णन हुआ है। इनके अनेक छन्द इस संबंध में अति प्रसिद्ध हैं।

प्रेम-भाव के वियोग पक्ष का वर्णन भी बड़ा हृदयद्रावक है। और वह पद्माकर की गहरी भावुकता को स्पष्ट करता है। वियोग की स्थिति में तो दिन गिन-गिन कर ही समय बिताना पड़ता है। अवधि की आशा में ही प्राण रहते हैं। बसन्त में आने की बात जब पूरी नहीं होती तब क्या दशा होती है, इनका अनुमान पद्माकर के एक छन्द में लग-सकता है।

बीर अबीर अभीरन को दुख भाषे बनै न बनै बिन भाषैं।
त्यों 'पद्माकर' मोहन मीत के पायै संदेह न आठ्यें पाखें।
आये न आपु न पाती लिखि मन की मन ही में रही अभिलाखें।
सोत के अन्त बसन्त लगो अब कौन के आगे बसन्त लै राखैं।

वियोग की स्थिति में संयोगकालीन सुख के उपकरण भी दुःखद जान पड़ते हैं। उनकी पूर्वस्मृति दुःख को उभारने वाली होती है। वर्षा की बहार, बादलों का उमड़ना, बूंदों का बरसना इस स्थिति में उल्लासमय नहीं, वरन एक टीस उभारने वाला होता है। यह सब दृश्य जी को जलाता है। एक छन्द में यह भाव देखिए:-

अंगन अंगन माहि अनंग के तुंग तुरंग उमाहत आवैं।
त्यों 'पद्माकर' आसहु पास जवासन के वन दाहत आवैं
मानवतीन के प्रानन मैं जु गुमान के गुंजन दाहत आवैं।
बान-सी बुन्दन के चदरा, बदरा बिरहीन पै ढाहत आवैं।।

इस प्रकार जब सुखद वस्तुएं दुःखदायी लगती हैं, तब तो जीवन ही संकट में पड़ जाता है। अधिक व्याकुलता की विषमयी विषम स्थिति में प्राण भी चलने को तैयार हो जाते है, परन्तु प्रिय से मिले बिना प्राणों को जाना भला कैसे सह्य हो सकता हैं? प्राणों को उलहना देने वाला इसी भाव का पद्माकर का एक छन्द इस प्रकार है:-

ऊबत औं डूबत हौ डगत हौ डोलत हौ,
बोलत न काहे प्रीति-रीतिन रितै चलै।
कहै 'पद्माकर' त्यों असीस उसासनि सौं,
आंसू वै अपार आह आंखिन इतै चलै।

NMDC-065

औधि ही के आगम लौं रहत बने तो रहौ,
बीच ही क्यों बेरी बंध-बेदनि बितै चलै।
ए रे मेरे प्रान कान्ह प्यारे के चलाचल में
तब तो चले न, अब चाहत कितै चलै।

यह विरह का भाव अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता, मृत्यु आदि स्थितियों को पार करता हुआ, परिस्थिति से समझौता कर लेता है। इस स्थिति में प्रिय की दूरी की समाप्ति हो जाती है और वह अपने पास हृदय के भीतर ही स्थित दिखाई देता है। यह प्रेम भाव की बड़ी उच्च स्थिति है जिसमें शारीरिक संपर्क की ईषणा का तिरोभाव मानस-मिलन के अन्तर्गत हो जाता है। इसी स्थिति का वर्णन पद्माकर के एक छन्द में इस प्रकार प्रस्तुत है:-

प्रानन के प्यारे तन ताप के हरनहारे,
नंद के दुलारे ब्रज बारै उमहत है।
कहै 'पद्माकर' उरूझे उर अंतर यों,
अन्तर चहे हू जे न अन्तर चहत हैं।
नैननि बसै है अंग अंग हुलसै है,
रोम रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं?
ऊधो वे गुबिन्द कोऊ और मथुरा में
यहां मेरे तो गोबिन्द मोहि मोहि में रहत हैं।

पद्माकर की काव्य-माधुरी का वर्णन अधूरा ही रहेगा, यदि उसके अन्तर्गत उनकी भक्तिभावना का उल्लेख न किया जाये। वैसे पद्माकर के वीर, हास्य, करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों के वर्णन भी बड़े रोचक हैं। ये उनकी कवित्त्व की बहुमुखी प्रतिभा के द्योतक हैं। उनकी लिखी हिम्मतबहादुरबिरदावली तो वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का वर्णन करने वाली कृति है। पर उसमें उक्ति को रमणीयता उतनी नहीं जितनी वर्णन की यथार्थता हैं। कवित्त्व की दृष्टि से जगत्विनोद सर्वश्रेष्ठ है तथा भक्तिभावना की दृष्टि से गंगा लहरी और प्रबोधपचासा सुन्दर हैं। जगत् विनोद में आया पद्माकर का एक हास्य का छन्द सुनिये:-

हँसि हँसि भाजै देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनि जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहैं 'पद्माकर' सु काहू सौं कहै को कहा?
जोई जहां देखै सो हंसेई तहां राह में।

NMDC-065

नगन भयेऊ हंसै नगन महेस ठाढे,
और हंसे बेऊ हंसि हँसि कै उमाह मैं।
सीस पर गंगा हंसे, भुजनि भुजंगा हंसें,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में।

पद्माकर की-भक्तिभावना में दास्य भाव का ही प्राधान्य है। वह शंकर राम, कृष्ण, और गंगा के गुणगान करने वाले छन्दों में देखी जा सकती है। शंकर की उदार दान-शीलता और राम-नाम के प्रभाव का पद्माकर ने अनेक छन्दों में कथन किया है। परंतु सबसे ललित छन्द उनका कृष्ण के बालरूप को वर्णन करने वाला है, जो भक्ति भाव की उद्दीपक बाल-चेष्टाओं को प्रत्यक्ष करता है। छन्द इस प्रकार है:-

देखु 'पद्माकर' गोबिन्द की अमित छवि
संकर समेत विधि आनंद सो याढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसकात गहि,
अंचल को छौर दौऊ हाथन सो आढ़ो है,
पटकत पाय होत पैंजनी झुनुक रंच,
नेक नेक नैनन ते नीर कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनिक पय पीये काज,
तीन लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है।

गंगा-लहरी के छन्दों में पद्माकर ने गंगा की शोभा और प्रभाव का सजीव वर्णन करते हुए अपनी पवित्र भक्ति-भावना का परिचय दिया है। पद्माकर की दृष्टि में गंगा का महत्त्व विलक्षण है। उनके सर्वोच्च स्थान का निरूपण एक छन्द में सुनिऐ:-

करम पै कोल, कोलहू पै सेस कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै 'पद्माकर' त्यो फन पै फबी है भूमि
भूमि पै फबी है थिति रजत पहार की।
रजत पहारपर सभु सुरनायक है।
संभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।
संभु जटाजूटन पै चंद की छूटी है छटा
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की।

NMDC-065

इस प्रकार पौराणिक और भौगोलिक स्थिति के दिग्दर्शन से गंगाजी के उच्च पद का निरूपण करने के बाद पद्माकर ने अनेक छन्दों में गंगा की शोभा और महिमा का भावों से ओत-प्रोत वर्णन किया है। शोभा का वर्णन करने वाला उनका एक छन्द यह है:-

सरद घटा सी, खासी उठती अटा सी,
दुपटा सी छिति, छोरधि-छटा सो निरधारिये।
लज्जा सी छुटी सी छार द्वारी सी गढ़ो सी गढ़
मठ सी मढ़ी सी ऑ गढ़ी ढार डारिये।
कहै 'पद्माकर' सु धार-धौरी दौरी आबे,
चौरी चौरी चंचल सुचारु चिन्हवारिये।
हरै हरै छवि नई-नई न्यारी-न्यारी नित
लहरे निहारि प्यारी गंगा जू तिहारिये।।

इस प्रकार छवि पर रीझने वाली दृष्टि से देखकर सौन्दर्य का चित्रण करने वाले पद्माकर का काव्य बहुविध-माधुरी मंडित है। उनके छन्दों में दृश्य और भाव तो प्रभावशाली है ही, परन्तु उन्हें अधिक प्रभावशाली बनाने वाली पद्माकर की शब्दमाधुरी है जो उनके छन्द छन्द में व्याप्त है। इसी से उनका अलग उल्लेख नहीं किया गया। पद्माकरने शब्द-मैत्री की सधी हुई गति के साथ अपने छन्दों की रचना की, जिसके अन्तर्गत सानुप्रास पदों में वर्णो की झमक बड़ा चमत्कारी प्रभाव डालती है। इसके लिए उनके वसन्त के वर्णन का एक प्रसिद्ध छन्द दे देना पर्याप्त होगा:-

कूलन में केलि सें कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै 'पद्माकर' परागन में पौनहू में
पानन में पीक में पलासन पगन्त है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगन्त है।

NMDC-065

NMDC-065